प्राकृत भारती पुष्प 107

# द्रव्य-विज्ञान

(शोध-प्रबध)

साध्वी डॉ. विद्युत्प्रभा श्रीजी

प्रकाशक

प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

कान्ति पारस प्रकाशन
बाडमेर

- आवरण छाया व रेखाकन – सतोष जडिया, इन्दौर
- प्रथम सस्करण – अक्टूबर [illegible]

## प्रकाशक व प्राप्ति स्थान

**प्राकृत भारती अकादमी**
3826, मोतीसिह भोमियो
का रास्ता
जयपुर-302003
(राज )

**कान्ति पारस प्रकाशन**
c/o श्री द्वारकादासजी डोसी
चौहटन रोड
बाडमेर-344001
फोन 20319

---

**मूल्य : 80.00 रुपए मात्र**

---

- मुद्रक नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर

# प्रकाशकीय

वीतराग-वाणी मोक्ष का विज्ञान है। उन्होने केवलज्ञान के आलोक मे जगत के यथार्थ स्वरूप का दर्शन कर तत्त्वो का निरूपण किया।

परमात्मा की वाणी पूर्ण वैज्ञानिक है। यदि कोई तत्त्व विज्ञान की पकड मे नही आता तो यह उसका अधूरापन है। इससे परमात्मा की वाणी मे शका करने का कोई आधार नही है। परम पूजनीया परम विदुषी महाप्रज्ञा डॉ साध्वी श्री विद्युत्प्रभा श्रीजी म सा ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे षड् द्रव्यो का विवेचन प्रस्तुत किया है। जगत षड् द्रव्यमय है। इसके अलावा और कुछ भी नही है।

परम पूज्य गुरुदेव, प्रज्ञापुरुष, युगप्रभावक स्व आचार्य देव श्री जिन कान्तिसागर सूरीश्वरजी म सा की पावन स्मृति मे पूज्य गुरुदेव गणिवर्य श्री मणिप्रभसागरजी म सा की प्रेरणा से सस्थापित 'कान्ति प्रकाशन' तथा प्राकृत भारती अकादमी के सयुक्त प्रकाशनत्व मे इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर हम हर्ष व गौरव का अनुभव कर रहे है।

प्रज्ञा मनीषी सिद्धहस्त लेखक डॉ श्री नेमीचन्दजी जैन ने भूमिका लिखकर ग्रन्थ के गौरव को बढ़ाया है, हम एतदर्थ उनके प्रति आभार व्यक्त करते है।

ग्रन्थ-प्रकाशन के व्यवस्थित कार्यक्रम मे सहयोगी बने श्री हेमन्तकुमारजी शेखावत का भी आभार प्रदर्शित करते है।

प्रस्तुत ग्रन्थ आदरणीय बनेगा। ज्ञान-जिज्ञासा का आधार बनेगा, इन्ही आशाओ के साथ ग्रन्थ आपके कर-कमलो मे प्रस्तुत है।

देवेन्द्रराज मेहता
सचिव
प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

द्वारकादास डोसी
अध्यक्ष
कान्ति पारस प्रकाशन,
बाडमेर

द्रव्य-विज्ञान ग्रन्थ का विमोचन करते हुए राजस्थान सरकार के मुख्य सचिव श्री मीठालालजी मेहता, पास मे है खरतरगच्छ महासघ के अध्यक्ष श्री हरखचदजी नाहटा।

विमोचन समारोह मे राजीव दासोत S P., श्री मीठालालजी मेहता, श्री हरखचदजी नाहटा, जिलाधीश श्री शैलेद्र अग्रवाल, श्री रतनसिंहजी पारख, श्री श्रीचदजी कृपलाणी भू.पू विधायक, श्री उदयलालजी आजना विधायक आदि।

# द्रव्य-विज्ञान

जैन दर्शन ने भारतीय दार्शनिक क्षेत्र मे अपने विशाल साहित्य और तलस्पर्शी चिंतन के कारण एक विशिष्ट स्थान विभूषित किया है। द्रव्य स्वरूप के बारे मे जैन दार्शनिको का जो सूक्ष्म विश्लेषण है, उसे अनेक आधुनिक भौतिकशास्त्र के विज्ञानियो ने कुछ हद तक स्वीकार किया है। इस शोध निबध मे जैन दार्शनिक ग्रन्थो मे पाई गई द्रव्यविषयक विवेचना के समग्र चित्र को प्रदर्शित करते हुए तुलनात्मक दृष्टि से इसे प्रकाश मे लाने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत शोध निबध मे कुल पाँच अध्याय है। वे इस प्रकार है

(1) प्रथम अध्याय
**भारतीय दर्शनो के सदर्भ मे जैन दर्शन की द्रव्य अवधारणा**

(2) द्वितीय अध्याय
**जैन परम्परा मान्य द्रव्य का लक्षण**

(3) तृतीय अध्याय
**जैन दर्शन के अनुसार आत्मा**

(4) चतुर्थ अध्याय
**अजीव का स्वरूप**

(5) पाचवा अध्याय
**उपसहार**

इन अध्यायो मे निम्नलिखित विषयो की चर्चा की गई है

# सपना जो साकार हुआ

❑ रगरूपमल कोठारी

*IAS*

डॉ विद्युत्प्रभाजी के शोधप्रवध की प्रकाशन बेला मे मै नि सदेह रूप से आह्लादित एव प्रमुदित हूँ। यह मेरा लक्ष्य व सपना था कि वे डॉक्टरेट की मजिल तक पहुँचे। अगर मै यह भी कहूँ कि उन्होने पी एच डी करके मुझ पर एक अनुग्रह किया है, तो भी कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

मै उन्हे तब से जानता हूँ जव वे वोर्डकी परीक्षा दे चुकी थी। पदोन्नत होकर वाडमेर से मै जोधपुर जा रहा था कि मुझे सदेश मिला कि साध्वीजी ने मुझे अपने अध्ययन के सिलसिले मे याद किया है तो मै वहाँ पहुँचा और उनसे अध्ययन सवधी चर्चा हुई। उस समय उनके परिचय प्रभाव का दायरा अत्यन्त सीमित था। मैने उन्हे सपूर्णत आश्वस्त किया कि वे अध्ययन मे आने वाली किसी भी समस्या से विचलित न होकर अपनी पढाई जारी रखे। उसी दिन से उनकी व्यावहारिक शिक्षा का सपूर्ण उत्तरदायित्व मैने अपने कधो पर ले लिया। उनकी राह मे अनेको वाधाऐं आई।

कुछ ही दिनो वाद उनकी गुरुवर्या श्री का स्वर्गवास हो गया। नि सदेह मुझे उनकी टूटी मानसिकता से लगा कि वे अव आगे नही पढ़ेगी। मैने उन्हे पूर्ण अपनत्व से एक पिता की भूमिका से समझाया और मुझे हार्दिक सतोष है कि उसके वाद जितने भी अवरोध आये, उन सभी को पूर्ण प्रखरता से चीरती हुई वे आगे वढती ही गई।

जिस तरह उन्होने एम ए कर लिया। मेरा मानस था कि वे सामान्य और सरल विषय चुनकर अतिशीघ्र डॉक्टरेट कर ले पर यह पहला मौका था जव उन्होने मेरी वात को अनसुना करके अपने ही तरीके से निर्णय लिया। उन्होने शोध का विषय अत्यन्त गूढ़ पर आगमिक चुना। ऐसा विषय चुना जो सामान्य समझ से परे था। पर अव चूँकि उनकी प्रज्ञा विकसित थी और अपनी प्रतिभा का वे शोध मे उपयोग करना चाहती थी। अत मैने विषय निर्धारण मे उनके आग्रह को स्वीकार कर लिया। वैसे मुझे और अधिक सतुष्टि थी कि वे जटिलतम विषय लेकर अपनी प्रज्ञा को पैना करना चाहती है। पर विषय निर्धारण के वाद उनकी गतिशील गाडी रुक गई। विहार का, परिचय का, शिष्याओ का और योजनाओ का विस्तार होता गया। उसी मे उनके समय का अधिकाश भाग गुजर जाता। 1992 मे उनका जव मालपुरा जाना हुआ तव उन्होने गुरुचरणो मे सकल्प किया कि इसी वर्ष उन्हे शोध प्रवध प्रस्तुत करना है।

जिस तेजी से उनकी गाडी रुकी थी, उसी अनुपात मे वल्कि उससे भी ज्यादा तेजी मे उनकी गति तीव्रतम होती चली गई। सतत परिश्रम करके उन्होने मालपुरा और जयपुर प्रवास के दौरान अपना शोध प्रवध सपूर्ण कर ही लिया। स्वय स्व डॉ नरेन्द्र भानावत एव

जैन दर्शन के प्रमुख विद्वान डॉ केसी सोगानी उनकी गति से आश्चर्य चकित थे। जितनी अल्पावधि मे उन्होने अपना सकल्प पूर्ण किया, उसके लिए स्वय डॉ सोगानी के निष्कर्ष थे कि इस कार्य मे उन्हे कोई दैवी सहयोग उपलव्ध हो रहा है। और मेरा भी यही चिन्तन-फल था कि उन्होने मालपुरा के सम्राट् दादा कुशल सूरि की धरती पर जिस कार्य का शुभारभ किया है, निसदेह उसकी पूर्णता मे अवश्य ही गुरुदेव सहयोग कर रहे है।

मेरा अपना अनुभव है कि जब वे मालपुरा मे थी तव पुस्तकालय के अभाव मे सन्दर्भ ग्रन्थो के न होने से परेशान थी, उस समय चूँकि आसपास का सारा वातावरण व परिवेश अपरिचित था, अत गुरुचरणो मे ही निवेदन किया कि मुझे सहयोग करे और तभी उन्हे आश्चर्यजनक रूप से कुछ पुस्तके स्थानीय दिगम्वर जैन मदिर से अनायास ही प्राप्त हो गई।

शोध प्रवध प्रस्तुत होने के बाद वे विहार कर साचोर आ गए और शोध प्रवध परीक्षण हेतु प्रमुख विद्वानो के पास गुजरात विश्व विद्यालय ने भेज दिया। परन्तु वायवा सभव नही हो रहा था। वहुधा तैयारियॉं होने पर भी या तो डॉ केसी सोगानी की परिस्थितियॉं अथवा डॉ वाईएस शास्त्री की अत्यधिक व्यस्तता के कारण वाय वा समय पर रद्द हो जाता।

अन्त मे खरतरगच्छ महासघ के अध्यक्ष आदरणीय भाईजी श्री हरखचदजी नाहटा ने यह उत्तरदायित्व अपने सिर पर लिया और जोधपुर 13 अप्रैल 94 को वडी उमगो के साथ उनका वायवा सपन्न हो गया। अगर यह कहूँ तो ज्यादा यथार्थ के निकट होगा कि उनकी व्यावहारिक शिक्षा का प्रारभ मेरे सहयोग से हुआ तो उसकी परिसमाप्ति श्री भाईजी के सहयोग से सम्पन्न हुई।

वह पल आज भी मेरी स्मृति मे है, जब वे वाय-वा सपन्न कर डॉक्टर के रूप मे वाहर आई, मेरा रोम-2 प्रसन्नता से झूम रहा था। आनद ऑंसू के रूप मे छलक, वह उठा।

मै विगत वर्षो से उनके जीवन का साक्षी हूँ कि किन कठिनाइयो के साथ उन्होने अपना लक्ष्य और मेरा सपना पूरा किया है। अत्यन्त व्यस्त हो जाने पर भी वे लक्ष्य की ओर अविचल भावो से वढ़ती रही।

अपने दृढ सकाय के वलवूते ही उन्होने सामाजिक और सामुदायिक उत्तरदायित्व होने पर भी उद्देश्य को पूर्ण कर ही लिया।

उनका यह शोध प्रवध जैन दर्शन की मूल्यवान धरोहर के रूप मे स्थापित वने एव विद्वानो के लिए उपयोगी सामग्री वने, इसी मे इसकी सार्थकता है।

डॉ विद्युत्प्रभा जी भविष्य मे अध्ययन के क्षेत्र मे नए कीर्तिमान स्थापित करे, इन्ही शुभकामनाओ के साथ।

# समर्पण ...

जिनकी आदेशात्मक प्रेरणा ने
प्रस्तुत ग्रन्थ निर्माण का धरातल
तैयार किया,
जिनका स्वप्न ही ग्रन्थ का निर्माता बना,
उन वात्सल्य-हृदय, पिता-तुल्य
श्री रगरूपमल जी कोठारी
आई.ए एस
को
विनम्र भावेन
श्रद्धा-सह
सादर

**-साध्वी विद्युत्प्रभा**

# पूर्व-स्वर

जैन दर्शन की मान्यतानुसार जो गुण और पर्याय से युक्त है, वही द्रव्य है। वाचक उमास्वाति ने इन्ही भावो मे द्रव्य की परिभाषा गठित की है-

गुणपर्ययवद् द्रव्यम्

-त सू. 38

जो द्रव्य के साथ अविच्छिन्न रूप से सतत सहभावी होकर रहे वह गुण कहलाता है एव अपने मूल स्वभाव का परित्याग न करके भी भिन्न-भिन्न रूपो मे परिवर्तित होने वाली द्रव्य की अवस्था विशेष को पर्याय कहते है।

उपादान या निमित्त कारणो को प्राप्त कर द्रव्य अपना स्वरूप भले ही परिवर्तित करले परन्तु नये द्रव्य का न उत्पाद होता है, न नाश।

पूर्वावस्था का परित्याग कर नवीन अवस्था को अवश्य ही वह प्राप्त हो जाता है फिर भी उसका मूल स्वरूप ज्यो का त्यो सुरक्षित रहता है।

जैसे सोना एक द्रव्य है। उसे विभिन्न आकृतियो मे ढाला जाता है परन्तु कगन बने चाहे हार, उसका स्वर्णत्व तो दोनो ही रूपो मे मौजूद रहता है। वास्तव मे सोना भी कोई स्वतत्र द्रव्य नही है, वह भी पुद्गल की अनन्त अवस्थाओ मे से एक अवस्था है। आज जो पुद्गल स्कन्ध स्वर्ण रूप मे है, वे ही भविष्य मे स्वर्णत्व का त्याग कर मिट्टी के रूप मे परिवर्तित हो सकते है। परन्तु पुद्गल द्रव्य के जिन लक्षणो को निर्दिष्ट किया गया है, वे वर्ण, गध, रस और स्पर्श स्वर्ण मे भी रहेगे और मिट्टी मे भी।

जिस प्रकार पुद्गल एक द्रव्य है वैसे ही पॉच अन्य द्रव्य है, अन्तर इतना ही है कि पुद्गल रुपी (दृश्यमान) है और अन्य पॉच धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय एव काल अरूपी है।

इन छ को जीव और अजीव रूप से दो भागो मे भी विभक्त किया जा सकता है। जीवास्तिकाय के अतिरिक्त अन्य सभी जड है।

स्व से सबधित जिज्ञासा से दर्शन का जन्म होता है।

आचाराग सूत्र का प्रारभ इसी जिज्ञासा से होता है।

आचाराग सूत्र का प्रारभ इसी जिज्ञासा से होता है।

"बहुत से व्यक्तियो को यह सज्ञा (ज्ञान) नही होती कि मै किस दिशा से आया हूँ? मेरा पुनर्जन्म होगा या नही? मै कौन हूँ? यहाँ से च्यव कर कहाँ जाऊँगा?"[1]

यह प्रश्न स्व के सबध मे है। मै कौन हूँ? समाधान मिलता है - मै आत्मा हूँ।

आत्मा धर्म-दर्शन का मूल आधार है। आत्मा है तो सब कुछ है। इसी कारण जैन दर्शन ने आत्म-बोध पर गहरा जोर दिया। जो आत्मा को जानता है, वह सब कुछ जानता है।[2]

पाश्चात्य पुद्गल (matter) को ही महत्त्व देते है और उसी के इर्द-गिर्द जीवन शैली का निर्माण व विस्तार करते है।

जबकि भारतीय दर्शन अशाश्वत पुद्गलो के पार शाश्वत चैतन्य के अनुभव की प्रेरणा देता है।

मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से कहा- "मै उसे स्वीकार कर क्या करूँ जिसे पाकर मै 'अमृत' नही बनती, जो अमृतत्व का साधन है, वही मुझे बताओ।"[3] भारतीय दर्शन अध्यात्म की आधार शिला है। मोक्ष का अर्थ है - चैतन्य बोध।

यथार्थ तत्त्व-विज्ञान ही चैतन्य-बोध का कारण है।

जिसे ससार समझ मे आ गया, वह सत्य समझ लेता है।

ससार का तात्पर्य ससार की असारता, अस्थिरता और अशाश्वतता से है।

जैन दर्शन के अनुसार षड् द्रव्यो का विस्तार ही ससार है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे षड्-द्रव्यो का निरूपण सागोपाग दृष्टि से हुआ है।

वैसे यह विषय इतना विस्तृत व गहरा है कि इस छोटे-से ग्रन्थ मे समा नही सकता। पर निश्चित ही यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ मे प्रस्तुति का आधार विस्तार या सकोच नही पर स्पष्टता और सरलता

---

1 इह मेगेर्सि नो सन्ना भवइ, अत्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए, के अहआसी, के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि? आचाराग सूत्र 1/1-2

2 एग जाणइ से सव्वे जाणइ

3 येनाह नामृता स्या किं तेन कुर्याम्।
यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि।। (वृहदारण्योपनिपद्)

है।

दो सौ - सवा दो सौ पृष्ठो मे षड्-द्रव्यो का स्पष्ट विवेचन विवेचित हुआ है।

बहिन साध्वी विद्युत्प्रभा की प्रज्ञा/प्रतिभा इस ग्रन्थ मे प्रखरता से अभिव्यक्त हुई है।

सघीय-शासन मे एतद्विषयक ग्रन्थो का प्राय अभाव है।

निश्चित ही यह ग्रन्थ शासन-गौरव का वजन भरा प्रतीक बना है।

शोध-प्रवध के विषय-निर्धारण के समय मै कभी-कभी व्यावहारिक/बाह्य भावो मे डूबकर व आदरणीय श्री कोठारीजी के स्वरो मे स्वर मिला कर कहता - कोई सामान्य/सरल विषय लेकर शीघ्र ही प्रवन्ध की पूर्णाहुति कर उपाधि लेकर डॉक्टर वन जाओ।

तो कभी-कभी गहराई भरे चितन का गभीर स्वर प्रकट होता - कोई ऐसा विषय चुनो तो मात्र उपाधि का कारण बन कर ही न रह जाय, अपितु स्व-पर कल्याण का आधार-भूत हेतु बने। विद्युत्प्रभा ने मेरे इसी निर्देश को स्वीकार कर इस गहन विषय का चुनाव किया और तलस्पर्शी अध्ययन के फल-स्वरूप इस अत्यन्त उपयोगी व गूढ़ ग्रन्थ का सर्जन किया। परम विदुषी, आगम-ज्योति स्व प्रवर्त्तिनी श्री प्रमोदश्रीजी महाराज का इसे पूर्ण, परोक्ष आशीर्वाद मिला।

पूज्य माताजी महाराज श्री रतनमाला श्रीजी म का वात्सल्य-पूर्ण सान्निध्य मिला। और इस ग्रन्थ का सर्जन हो गया।

मेरी कामना है, यह ग्रन्थ उन सभी जिज्ञासुओ के लिए पूर्ण उपयोगी व आदरणीय बनेगा जो तर्कबद्ध शैली व तुलनात्मक दृष्टिकोण से जैनदर्शन के द्रव्य-स्वरूप का अध्ययन करना चाहते है। बहिन साध्वी डॉ विद्युत्प्रभा अपने चिन्तन के नवोन्मेष धरातल पर दर्शन की गहरी गुत्थियाँ सुलझाने वाले और नये-नये ग्रन्थो का नवसर्जन करती रहे, यही मेरे मानस की आशा है।

इन्दौर

5-10-1994

(मणिप्रभसागर)

# शुभाशंसा

❑ हरखचद नाहटा
अध्यक्ष
अ भा खरतरगच्छ महासघ

अभी-अभी जानकारी प्राप्त हुई है कि डॉ साध्वी विद्युत्प्रभाजी का शोधग्रथ प्रकाशन की प्रक्रिया से गुजर रहा है, नि सदेह आत्मिक आनद हुआ। मैंने अपने जीवन के प्रारभिक काल मे ही श्रद्धेय श्रीमद् देवचद्र, आनदघन, समयसुदर व रायचद्र के पदो को विरासत मे प्राप्त किया था और इन पदो के माध्यम से जड-चेतन के स्वरूप का भेद समझने का भी प्रयत्न करता रहा हूँ।

यह प्रक्रिया प्रिय युवापुत्र अशोक नाहटा की मृत्यु के बाद तो और गहरी होती चली गई थी। सच पूछो तो इतने भयानक सदमे से उबरने मे मदद भी मात्र जड-चेतन से सबधित पदो ने ही की। यह पद तो मेरी रग-2 मे रमा हुआ है–

जड ने चैतन्य बन्ने द्रव्यनो स्वभाव भिन्न,
सुप्रतीतपणे बन्ने जेने समझाय छे,
स्वरूप चेतन निज, जड छे सबध मात्र,
अथवा ते ज्ञेय पण परद्रव्य माय छे,
एवो अनुभवनो प्रकाश उल्लसित थयो,
जड थी उदासी तेने आत्मवृत्ति थाय छे,
कायानी विसारी माया, स्वरूपे समाया खा
निग्रन्तनो पथ भव अन्तनो उपाय छे।"

श्रीमद् देवचद्र ने नेमिनाथ के स्तवन मे पचास्तिकाय के नामो का दिग्दर्शन कराते हुए कहा कि किनका त्याग करना चाहिए और किन्हे अपनाना चाहिए—

धर्म, अधर्म आकाश अचेतना, ते विजाति अग्राहोजी

पुद्गल ग्रहणे रे कर्म कलकता, बाधे बाधक बाह्योजी।"

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चारो विजातीय तत्व होने से जीव के द्वारा अग्राह्य है। इनका ग्रहण ससार का मात्र विस्तार ही करता है। अत सुज्ञ चेतना इन विजातीय तत्वो का स्वरूप और स्वभाव पहचान कर उनसे दूर ही रहने का प्रयत्न करती है। आगे उन्होने यह भी स्पष्ट किया कि जीव को मात्र उत्तम वैरागी महापुरुषो से ही अभिन्नता स्थापित करनी चाहिए, जिससे वह भी क्रमश उत्तमता को प्राप्त हो सके।

अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति मे चेतना को समभाव मे रहने की प्रेरणा इन पदो के माध्यम से स्पष्ट रूप से प्राप्त हो जाती है और जब साध्वी विद्युत्प्रभाजी के शोध प्रबध को इसी विषय पर देखा तो हृदय प्रसन्नता से भर गया।

उनकी वक्तृत्व कला व लेखन कला के बारे मे सामान्य रूप से सुना अवश्य था, पर जब इस गूढ विषय पर उनके विश्लेषण की क्षमता को देखा तो चकित हुआ था। अभी तक मैने उन्हे सघ की आशा, पू गणिवर्यश्री मणिप्रभसागरजी म सा की अनुजा के रूप मे ही पहचाना था, पर धीरे-2 उनका स्वय का स्वतत्र व्यक्तित्व उभरता गया। नि सदेह वे सघ की एक उदीयमान प्रतिभाशाली साध्वी है।

इस शोध प्रबध मे सदेश अथवा प्रेरणा नही है। इनमे मात्र स्वरूप को उजागर किया गया है। अगर हमने जड और चेतन के स्वरूप को भी पहचान लिया तो अवश्य ही उनका श्रम सार्थक होगा और हमारी चेतना जड सबधो को काटकर शुद्ध बनेगी। उनकी लेखन क्षमता और अधिक गभीर पैनी बने

इन्ही शुभाशषाओ के साथ

# अपनी ओर से

भारतीय चिंतनधारा मे जैन दर्शन की चिंतन पद्धति अपना विशिष्ट महत्व रखती है। जैन दर्शन ने धार्मिक उन्माद को बढ़ावा देने के स्थान पर सहिष्णुता को अधिक मूल्यवान माना है। यही वैचारिक सहिष्णुता 'अनेकान्त' एव आचार पक्षीय उदारता 'अहिंसा' के माध्यम से प्रतिपादित हुई।

अहिसा और अनेकातवाद के धरातल पर खडा जैन दर्शन मात्र भारतीयो को नही अपितु विदेशी विद्वानो को भी सहज मे ही प्रभावित करने मे पूर्ण सक्षम है।

जैन दर्शन का चिंतन कल्पित नही है, अपितु अनुभव के अमृत से अनुप्राणित है। आज उसके अनेको सिद्धात विज्ञान द्वारा सिद्ध हो चुके है और भविष्य मे खोज जारी है।

विश्व वद्य करुणामूर्ति परमात्मा महावीर ने जिस सत्य का साक्षात्कार किया, उसी को निष्पक्ष दृष्टि से कल्याण और करुणा की भावना से ओतप्रोत होकर अभिव्यक्त किया और वही करुणामयी वाणी आचार्यो द्वारा परपरा के रूप मे हम तक पहुँची है।

केवलज्ञान का प्रकाश उपलब्ध होते ही तीन सिद्धात महावीर द्वारा प्ररूपित हुए - "उत्पत्ति, स्थिति, विनाश।" इन तीन सिद्धातो पर जैन साहित्य की शाश्वत और अटूट इमारत खडी हुई। प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव त्रिगुणात्मक है।

पदार्थ के इस त्रिगुणात्मक स्वभाव पर मेरा यह शोध निबध लिखा गया है। इस शोध प्रबध मे कुल पाँच अध्याय है जिनका परिचय इस प्रकार है -

प्रथम अध्याय मे मैने भारतीय दर्शन मे जैन दर्शन की विशेषता, सृष्टि

के सबध मे प्रमुख भारतीय दार्शनिको के विचार एव द्रव्य के सामान्य स्वरूप पर चिंतन किया है।

द्वितीय अध्याय मे द्रव्य के स्वरूप और लक्षण का विशद, तार्किक रूप से स्पष्टीकरण करते हुए द्रव्य के गुण और पर्याय का सर्वागीण विश्लेषण किया है।

इसके तृतीय अध्याय मे षड्द्रव्यो की चर्चा करते हुए जीवास्तिकाय पर जैन एव इतर दार्शनिको के मत का उल्लेख किया है। साथ ही आत्मा के अस्तित्व को भी विभिन्न तर्क-सगत मतो से प्रतिपादित करते हुए जीव के समस्त वर्गीकरण को प्रस्तुत किया है।

इसके चतुर्थ अध्याय मे अजीवास्तिकाय जिसके तहत धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल समाविष्ट होते है, उसे सिद्ध करते हुए इनका जीव पर उपकार अभिव्यक्त किया है।

अत मे समस्त अध्यायो पर उपसहार रूप अपने चिंतन का प्रस्तुतीकरण करते हुए सभी अध्यायो का सार सकलित किया गया है।

इस प्रकार पाँच अध्यायो से युक्त शोध प्रबध की प्रस्तुति वेला मे निश्चित ही मै आतरिक आनद और अह्लाद का अनुभव कर रही हूँ।

यद्यपि मै महसूस करती हूँ कि द्रव्य के स्वरूप पर आज तक खूब लिखा जा चुका है यह विषय ही इतना गहरा व विस्तृत है कि इस पर जितना लिखा जायेगा, थोडा ही होगा, क्योकि यह त्रिपदी ही तो आगमो का मूल है। फिर भी मै महसूस करती हूँ कि इस 'थीसिस' का अपना मूल्य और उपयोग होगा।

द्रव्य जैसे गूढ़ विषय के चुनाव पर यद्यपि मुझे शास्त्रीय ज्ञान की अल्पज्ञता का भान था, फिर भी मुझे लेना यही विषय था। इसका कारण गुरुवर्या श्री की आतरिक/उत्कट अभिलाषा एव उनका आदेश था।

वे स्वय अपने युग की आगम ज्योति कहलाते थे और मेरे मे वे अपेक्षा

रखते थे कि मै भी आगमज्ञान को आत्मसात् करूँ। उनके अनुरूप बनने की मेरी अभिलाषा तो जरूर है पर आशा नही, फिर भी उनके ज्ञानालोक मे से प्रकाश की कुछ रश्मियाँ मेरे पल्ले भी आए और आगमो के आशिक ज्ञान को उपलब्ध करूँ,बस इसी भावना को मूर्त्तरूप देते हुए इस विषय का चुनाव किया और आत्मतोष है कि अपेक्षित ज्ञानार्जन यद्यपि नही हुआ फिर भी 'कुछ' कदम अवश्य बढ़े।

विषय का पजीकरण होने के बाद कुछ सयमी जीवन से जुडी व्यस्तता होने के कारण कार्य मे शिथिलता आ गयी थी, परतु जब गतवर्ष की जन्मदिन की कविता मे पूज्य, बडे बधु गणिवर्य श्री मणिप्रभ सागरजी म सा ने अपने अतर्मन मे भरे स्नेह से लबालब "पी एच डी करना ही है और वह भी शीघ्र" ये उद्गार व्यक्त किये तो मै इस कार्य को आगे बढ़ाने मे तत्पर बनी। जन्म-दिन की कविता का वह पद्याश -

**"वो सूर्योदय जिस दिन होगा, मुझको यह सवाद मिलेगा।**
**बनोगी जब तुम "डॉक्टर" बहिना, मेरे मन का फूल खिलेगा।।**
**शोध ग्रथ की निर्मिति मे श्रम समय तुम्हे देना है सारा।**
**एक वर्ष मे पूर्ण करूँगी, एक यही हो तेरा नारा।।**

उनके प्रति कृतज्ञता अभिव्यक्त कर मै अपने समर्पण को नही आँकना चाहती। क्योकि वे सर्वतोभावेन मेरी श्रद्धा और स्नेह के केन्द्र है।

इसी क्रम मे एक पूर्ण सकल्प के साथ मै मालपुरा गुरुदेव श्री जिन कुशल सूरि के धाम पहुँची और दर्शन के प्रथम क्षण मे ही मैने गुरुदेव की चरण पादुका के समक्ष आत्मनिवेदन किया "मुझे इस स्थान पर अपना अध्ययन करना ही है जो तेरे आशीर्वाद बिना असभव है। "प्रयत्न मेरा व कृपा तेरी"। मै निश्चित रूप से कह सकती हूँ– मेरे इस निवेदन को गुरुदेव ने सुना ही नही, पूर्ण आशीर्वाद भी दिया और इसी कारण यह शोध प्रबध कुछ ही माह मे सपूर्ण तैयार हो गया। मै अभिभूत हूँ, गुरुदेव की इस कृपामयी अमीवृष्टि पर।

मे समग्र भावेन सादर सविनय नतमस्तक हूँ, दिव्याशीष– प्रदाता मेरे

अतर्मन मे आसीन, रग-2 मे बसी आगमज्योति अध्यात्मयोगिनी, अनेको ग्रथो की निर्मात्री अपनी गुरूवर्या प्रवर्त्तनीजी श्री प्रमोद श्री जी म सा के श्री चरणो मे, जिनके नाम से जुडने का सौभाग्य मैने उपलब्ध किया।

मै इन क्षणो मे अपनी हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त किये बिना नही रह सकती - मेरे पितातुल्य अभिभावक एव प्रारभिक शिक्षा से आज तक की शिक्षायात्रा से जुडे मेरे प्रेरणादीप श्री आर एम कोठारी आई ए एस जोधपुर के प्रति। यद्यपि अभिव्यक्ति की एक सीमा है और वह मात्र चार पक्तियो मे सिमट गयी है पर मेरे भावो मे उनके प्रति असीम आस्था के स्वर गूज रहे है। क्योकि अगर वे मुझे अध्ययन से जुडे रहने की निरतर नि स्वार्थ प्रेरणा नही देते तो सभवत यह यात्रा अधूरी रह सकती थी। उन्होने साध्वी के रूप मे मुझे सम्मान तो दिया ही, उससे भी अधिक पिता बनकर स्नेहभीगी प्रेरणा भी दी।

मै अपने मार्गदर्शक विद्वद्वर्य सरलता की प्रति मूर्ति श्री डॉ वाई एस शास्त्री आचार्य, एम ए पी एच डी (Reader in Philosophy) की हार्दिक कृतज्ञ हूँ, जिन्होने मेरे अध्यायो को अन्यायन्य अध्ययन अध्यापन की व्यस्तता के बावजूद देखा, जाचा, परखा एव अविलब मुझे लौटा दिया। मेरी अनुकूलता को उन्होने प्रमुखता दी। अगर उनका अपेक्षित सानुग्रह सहयोग नही मिलता तो प्रस्तुति की अवधि और भी बढ़ सकती थी।

मै डॉ नरेन्द्र भानावत के अगाध ज्ञानप्रेम को भी विस्मृत नही कर पा रही हूँ। वे मेरे अनुरोध को स्वीकार कर अपनी धर्मपत्नी डॉ शान्ता भानावत के साथ मालपुरा पधारे एव मुझे विषय से सबन्धित मार्गदर्शन दिया। आज इस ग्रन्थ के प्रकाशन की वेला मे उनकी अनुपस्थिति मुझे व्यथित कर रही है। मै आत्म प्रिय स्व डॉ श्रीमती शान्ता भानावत एव स्व डॉ नरेन्द्र भानावत की पवित्रात्मा को विनम्र प्रणाम करती हूँ।

पाडुलिपि देखने मे मुझे श्री मिलापचदजी जैन पूर्व परीक्षा नियत्रक राजस्थान विश्वविद्यालय का सहयोग मिला। मै उनके सहयोगी व्यक्तित्व के प्रति शुभकामनाएँ ममर्पित करती हूँ।

चला रही हूँ। मै अपनी सुयोग्य शिष्या साध्वी दीप्तिप्रज्ञा को विस्मृत नही कर पाऊँगी, जिसका सौम्य एव सेवामय स्वभाव शोधनिमित्त जयपुर प्रवास के दौरान अध्ययन मे पूर्णरूपेण उपयोगी बना।

अत मे मै अपनी सुयोग्य प्रतिभाशालिनी सुशिक्षित आर्यावर्ग साध्वी शासनप्रभा M A ,स्वर्ण पदक प्राप्त साध्वी नीलाजना M A प्रज्ञाजना, दीप्ति प्रज्ञा, नीतिप्रज्ञा एव विभाजना की भी कृतज्ञ हूँ जिन्होने मेरे अध्ययन के लिये शान्त और नीरव परिवेश के निर्माण मे अपना सपूर्ण योगदान दिया, अपनी समस्त सवेदनाओ को समाप्त कर मेरे अध्ययन की भूमिका का निर्माण किया, समस्त उत्तरदायित्वो से मुक्त कर मुझे निर्श्चित किया। शोध प्रबध की प्रेस कॉपी साध्वी शासनप्रभा एव नीलाजना ने तैयार की है। उन्हे मेरा हार्दिक आत्मीय मगलमय आशीर्वाद है। वे निरतर प्रगति पथ पर अग्रसर होकर अक्षय आनद को उपलब्ध्र करे।

प्रस्तुत ग्रन्थ का लेखन मात्र उपाधि हेतु नही किया गया है अपितु इसका मुख्य उद्देश्य ज्ञान की अपूर्व सम्पदा की प्राप्ति रहा है। इन षड्द्रव्यो का अध्ययन कर अपनी आत्मचेतना को शुद्ध और मुक्त बनाऊँ,इसी कामना के साथ मेरा यह प्रयास हुआ है।

इस मजिल की प्राप्ति मे प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष सहयोगी वृन्द के प्रति हार्दिक शुभकामनाएँ व्यक्त करती हुई विद्वज्जनो की निष्पक्ष आलोचना सादर आमन्त्रित करती हूँ।

परमात्मा महावीर की अमृतवाणी को अगणित वदना।

सादर
**साध्वी विद्युत्प्रभा श्री**

# भूमिका

ऐसे सकटापन्न क्षणो मे जबकि भूत-विज्ञान परमाणु को ले कर नित-नये प्रयोग कर रहा है, साध्वीश्री विद्युत्प्रभाजी का 'द्रव्य-विज्ञान' शीर्षक यह प्रबन्ध एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। सब जानते है कि दर्शन तर्क की आधार-भूमि पर खडा होता है, और विज्ञान प्रयोग की बुनियाद पर। विज्ञान का सारा कारोबार प्रयोगशालाओ मे सम्पन्न होता है। जैनदर्शन की प्रयोगशाला कैवल्य है, वहाँ जो सम्मुख है, वह शाश्वत सत्य है। उसमे कोई ननुनच नही है। यह अन्धविश्वास नही है, ज्ञान का वैभव है, उसका सर्वोच्च शिखर है।

विज्ञान के रास्ते बदले है, जैनदर्शन का रास्ता वही है। जो पहले था, वही आज है, वही कल रहेगा। इसमे फेर-बदल की कोई गुजाइश नही है। फर्क सिर्फ एक है। विज्ञान की डगर पार्थिव है, जैनदर्शन की अपार्थिव/आध्यात्मिक। वह मुक्ति की ओर है, बन्धन की दिशा मे नही है। बन्धन-मुक्ति जैन धर्म/दर्शन का अन्तिम लक्ष्य है।

द्रव्यो से लोक बना है। जहाँ तक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल हैं – लोकाकाश है, तदनन्तर अलोकाकाश है।

सत् द्रव्य का लक्षण है। वह 'हे', उसका 'होना' ही उसकी निशानी है। जब लगता है कि 'वह नही है', तब मात्र वैसा लगता है, होता असल मे वैसा नही है। वैसा होना सभव भी नही है। पर्यायान्तरण की वजह से भ्रम हो सकता है, किन्तु ध्यान रहे, जहाँ सम्यक्त्व है, वहाँ सशय अथवा आभास के लिए कोई स्थान नही हे।

द्रव्य की इबारत है – 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' (त सू ३८)। द्रव्य, कोई भी वह हो, गुण और पर्यायवान् है। 'वह है, वह नही है' – इसकी व्याख्या गुण और पर्याय शब्दो मे धडक रही है। गुण-की-अपेक्षा वह है, पर्याय-की-अपेक्षा उसका व्यय और उत्पाद है, लोप और आगम है। जाने, लोक का जर्रा-जर्रा सापेक्ष है।

द्रव्य छह हें – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, क्रमश चेतन, अचेतन, गति, स्थिति, अवकाश और वर्तन।

तमाम द्रव्यो की अपनी-अपनी अस्मिताएँ हैं। वे स्वाधीन हैं। आत्मनिर्भर है। अपने पाँव पर अवस्थित हैं। एक-दूसरे के अस्तित्व मे एक-दूसरे का कोई

हस्तक्षेप नही है। सपूर्ण लोक-यातायात अविच्छिन्न और निर्विघ्न है। द्रव्य अनादि है। इनका कोई सिरा नही है।

द्रव्य की सत्ता को समझने के लिए उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की त्रयी को गहराई मे उतर कर समझना बहुत ज़रूरी है। द्रव्य 'है', उसका 'था' और 'गा' पर्यटक है। 'है' ही रहता है, 'गा' और 'था' उखड जाते है। द्रव्य की यह सत्यकथा अनादि है। उत्पाद और व्यय की प्रक्रिया को पर्यायान्तरण मे-से समझना चाहिये।

आत्मा है, शरीर 'था' 'गा' 'है' तीनो है। 'था' वह हुआ, 'गा' वह होगा, 'है' वह है, किन्तु आत्मा के साथ ऐसा नही है। वहाँ सिर्फ 'है' है। शुद्धावस्था मे यद्यपि 'गा' 'था' 'है' की त्रयी है तथापि वह शुद्धावस्थापरक है। द्रव्य के इस मौलिक व्याकरण को जाने बगैर लोक-रचना के रहस्य को जानना सभव नही है।

जैनधर्म/दर्शन का मुख्य लक्ष्य स्वभावोपलब्धि है। भेद-विज्ञान इसका अचूक माध्यम है। इसके द्वारा हम द्रव्यो की स्वाधीन सत्ताओ का बोधामृत पाते, पीते है। आत्मा आत्मा है, देह देह है। आत्मा न कभी देह हुआ है, न था, न होगा। इसी तरह देह न कभी आत्मा था, न होगा, न है। इस पार्थक्य को हम भेद-विज्ञान मे-से हो-गुज़र कर ही जान पाते हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध साध्वीश्री की ज्ञान-साधना की श्रमसाध्य परिणति है। उन्होने तुलनात्मक अध्ययन द्वारा द्रव्यो की विस्तृत/सर्वांग विवेचना की है। मुझे विश्वास है इसे व्यापक रूप मे पढा जाएगा।

साध्वीजी से निवेदन है कि वे अपनी अध्ययन-अनुसधान-वृत्ति को अनवरत रखे और यदि सभव हो तो इसके एक सरल जेबी सस्करण से सामान्य जैन को भी उपकृत करे। क्या हम गभीर अध्ययनो को कॉमन जैन तक पहुँचाने का तुरन्त कोई उपाय नही करेगे? मेरी समझ मे यदि हम प्रयत्न करे तो जो ज्ञानामृत साधु-जन, विद्वज्जन खोज़ते-पाते हैं, उसमे एक सामान्य श्रावक की सहभागिता अवश्य बना सकते है?

इन्दौर, म प्र<br>१४ नवम्बर १९९४

—डॉ नेमीचन्द जैन<br>सपादक 'तीर्थंकर' 'शाकाहार-क्रान्ति'

# 1
# भारतीय दर्शनों के संदर्भ में जैन दर्शन व
# द्रव्य-अवधारणा

जैन दर्शन भारतीय दर्शनो मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है
कल्पार्द्ध के जैन शासन के आद्य प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव माने
है। वर्तमान समय मे चौबीसवे एव अन्तिम तीर्थकर महावीर का जिन
प्रवर्तित हो रहा है। जैन दर्शन की सबसे बडी विशेषता है- उसकी अनेका
उदार दृष्टि। जहाँ सभी दर्शन अपने वाद की स्थापना के लिये सपूर्ण
लगाते है, वही जैन दर्शन उन दर्शनो मे कथञ्चित् सत्य पक्ष ढूँढता है
दर्शन की सबसे बडी मौलिक देन है, स्याद्वाद और अनेकातवाद एव
की पवित्रता।

अनेकान्तवाद की स्थापना की गहराई मे भी इसी अहिंसा के दर्श
है। जैन तीर्थंकरो की अहिंसा मात्र कायिक ही नही, अपितु मानसिक
वैचारिक भी है। मन से किसी का अहित चिंतन या शब्दो मे किस
अनुचित एव कटु कहना भी हिंसा ही है।

जैन दर्शन की उत्कृष्टता का एक अन्य कारण यह भी है कि यह
एक आत्मा विशेष को परमात्मा की सज्ञा देकर कर्तृत्व से नही जोडता,
समस्त आत्माओ को परमात्मा की तुल्यता प्रदान करता है। आत्मा
परमात्मा का अतर यही है कि एक की शक्ति प्रकट है और दूसरे की अ
जिसकी शक्ति प्रकट हो चुकी है वह परमात्मा है, जिसकी शक्ति
नही हुई है वह भी उसी शक्ति का स्वामी है और प्रबल पुरुषार्थ
उसे प्रकट कर वह भी परमात्मा बन सकता है।

उस परमात्मा द्वारा प्ररूपित जैन विचार धर्म भी है और दर्शन
आचार की सूक्ष्मतम व्याख्या के कारण यह धर्म है और अन्य विचार

का विरोध किये बिना आत्मानुभूत सत्य-तथ्यो के क्रमबद्ध और युक्तियुक्त विश्लेषण के कारण दर्शन भी है।

जैन दर्शन का चरम लक्ष्य आत्मानद की उपलब्धि है और वह आत्मानन्द मानसिक, वाचिक और कायिक शुद्धता द्वारा ही उपलब्ध होता है। विचारो की उदारता और आचार की पवित्रता ही वास्तविक अहिंसा है, और इसी नीव पर जैन दर्शन का भव्य प्रासाद शोभायमान है। सहिष्णुता एव आचार की अहिंसा सृष्टि के लिए उदाहरण स्वरूप है। भाषा, रस्मोरिवाज, जीवन पद्धति और आचारपद्धति की विभिन्नता भी यहाँ के जन मानस को 'भारतीय' एकता मे बाधे हुए है।

भारत मे तत्वज्ञान समीक्षात्मक रहा है। सभी दार्शनिको ने अपने-अपने स्तर पर अनेक विषयो पर चितन किया। ईश्वर जैसे विषय पर भी मुक्त चिंतन हुआ। बौद्ध और जैन सप्रदायो ने ईश्वर को कर्त्ता या सृष्टि के हेतु-भूत मानने मे अस्वीकृति देते हुए कतई सकोच नही किया। भौतिकवादी चार्वाक ने तो ईश्वर को नकार ही दिया। विचारो के विकास एव अभिव्यक्ति मे भारतीय तत्वज्ञान जितना उदार रहा है, अन्य देशो मे शायद ही इसकी कल्पना की जा सकती है।[1]

**भारतीय दर्शन पद्धति की विशेषता.**–भारतीय दर्शन की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसकी कोई मजिल है। यद्यपि भारतीय दर्शन पर निराशावादी होने का आरोप लगाया जाता है, परतु यह भ्रम मात्र है, क्योकि भारतीय दर्शन दु खो का विवेचन मात्र करके ही नही रह जाता, अपितु दु खमुक्ति का मार्ग भी बताता है। भारतीय दर्शन पद्धति जनता की आवश्यकता की पूर्ति करती है। आधि, व्याधि पूरित दैनिक जीवन से हटकर मात्र कल्पनाओ की दुनिया मे विचरण करना, भारतीय दार्शनिक परम्परा को अस्वीकार्य है। राग द्वेष रहित इस प्रकार का जीवन जीना जिससे स्थायी और अक्षय सुख उपलब्ध हो, यहाँ के दार्शनिको की पहचान है। व्यास एव विज्ञानभिक्षु का यह कथन सत्य है कि जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र रोग, रोगनिदान, आरोग्य तथा भैषज्य, इन चार तथ्यो के यथार्थ निरूपण की प्रवृत्ति अपनाता है उसी प्रकार आध्यात्मशास्त्र दु ख, दु खहेतु, मोक्ष एव मोक्ष के उपाय को बताता है।[2]

1 भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय पृ 11

2 यथा चिकित्साशास्त्र चतुर्व्यूहम्-रोगी, रोगहेतु आरोग्य भेषजमिति। तदिदमपि शास्त्र चतुर्व्यूहम्। तद यथा-ससार ससारहेतु मोक्ष मोक्षोपाय इति। व्यासभाष्य 2 15 सांख्यप्रवचर्न भाष्य पृ 6

**भिन्न-भिन्न विचारधाराओ मे एकता एव सामजस्य.**—स्वय के एव सृष्टि के स्वरूप को समझने के लिए भारतीय उर्वरा भूमि पर विभिन्न विचारधाराओ का आविर्भाव हुआ। विभिन्न विचारधाराओ के मध्य भी कुछ ऐसे तत्त्व है जो एकता की अनुगूज को प्रखर करते है। स्वय मेक्समूलर ने विभिन्न दर्शनो के अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि 'दर्शन की परस्पर भिन्नता की पृष्ठभूमि मे एक ऐसे दार्शनिक ज्ञान का भडार है जिसे हम राष्ट्रीय या सर्वमान्य दर्शन कह सकते है, एव जिसकी तुलना हम उस मान सरोवर से कर सकते है जो यद्यपि सुदूर प्राचीन काल रूपी दिशा मे अवस्थित था, तो भी उसमे से प्रत्येक विचार को अपने उपयोग के लिए सामग्री प्राप्त हो जाती थी।'[1] जैन दार्शनिको के अनुसार एकातवादी समस्त विचारधाराएँ असत्य और मिथ्या है परतु जव वही सापेक्ष रूप से प्रतिपादित की जाती है तो सत्य वन जाती है। इसे ही उन्होने स्याद्‌वाद कहा है।[2] इस प्रकार से स्याद्वाद रूपी सिद्धात द्वारा जैन दार्शनिको ने समस्त दर्शनो की ग्राह्यता एव उपयोगिता स्पष्ट की है। इस देश के विचारको की उत्कृष्टता के कारण ही मनु ने कहा कि सपूर्ण ससार ने इस भारतीय धरा पर अवतरित चारित्रिको से चरित्र की शिक्षा ली।[3]

मूलरूप से छह विचारधाराओ का अस्तित्व आचार्य हरिभद्रसूरि ने स्वीकार किया है- 'वौद्ध, न्याय, साख्य, जैन, वैशेपिक, एव मीमासक।[4] डा राधाकृष्णन् अपने 'भारतीय दर्शन' मे इन छह दर्शनो को स्वीकार करते है- न्याय, वैशेषिक,साख्य, योग, पूर्वमीमासा और उत्तरमीमासा।[5] भारतीय विचारक यद्यपि, प्रवृत्त होता है ससार की दु खमय प्रवृत्ति देखकर ही, परतु वह निराशा या कुण्ठा से हताश होकर चुपचाप तो नही बैठ जाता, प्रत्युत आगे बढ़ता है। साख्यकारिका के आरभ मे विचारशास्त्र की प्रवृत्ति का यही कारण बताया है।[6] जैन दर्शन ने द्रव्यो का विवेचन एव उन्हे समझने का कारण इसी दु ख-निवृत्ति को वताया है।[7] अत हम नि सकोच कह सकते है कि दर्शन की

---

1 मैक्समूलर–सिक्स सिस्टम्स् ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी पृष्ठ 17

2 मर्वदर्शनसमत ममीचीनामचति" पड्दर्शन टीका 1 4, स्याद्वाद हेयादेय विशेपक , आ मी 10 104, त शयो पृष्ठ 136, न्याय कुसु पृ 3 एव रत्नकराव पृ 15

3 एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन। स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा" मनुस्मृति 2 10

4 वौद्धनैयायिक ममून्यही" पड्दर्शन 3

5 भारतीय दर्शन 2 पृष्ठ 17

6 "दु खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ" सा का का 1

7 एव पवयणसार, पचत्थियसगह वियाणित्ता। जो मुयदि रारेसि, सो गाहदि दुक्खपरिमोक्ख प का 103

उपयोगिता मात्र वर्णनात्मक ही नही, अपितु आचारात्मक भी है, क्योकि मात्र ज्ञान के द्वारा ही दु ख से मुक्ति नही होती, अपितु उसके लिए रत्नत्रयरूप ज्ञान, दर्शन और चारित्र, तीनो ही आवश्यक है।[1] यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि भारत मे दर्शन और धर्म अलग-अलग तत्त्व नही है। दर्शनशास्त्र की कसौटी पर कसा जाने वाला तत्त्व धार्मिक क्षेत्र मे प्रतिष्ठित होता है। इसी कारण भारतीय दर्शन मे आत्मा मुख्य तत्त्व बना, क्योकि हेय और उपादेय का ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता आत्मा मे ही पायी जाती है।[2] बृहदारण्यकोपनिषद् मे आत्मा को सर्वप्रिय तत्त्व कहा गया है।[3] तैत्तिरीय उपनिषद् मे तो आत्मा को ब्रह्म ही कह दिया गया है।[4] मुण्डकोपनिषद् मे उस विद्या को श्रेष्ठतम बताया गया है जो ब्रह्मविद्या से अनुप्राणित हो।[5] युद्ध क्षेत्र मे अर्जुन को अपनी विभूतियो के विराट् स्वरूप के बारे मे बताते हुए श्री कृष्ण ने समस्त विद्याओ मे अध्यात्मविद्या को उत्कृष्टतम विद्या बताया है।[6]

भारत मे दर्शनशास्त्र लोकप्रिय रहा है, और उसकी लोकप्रियता का कारण यदि आचार और विचार दोनो से इसका अनुस्यूत होना कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

यदि भारतीय दर्शन ने मात्र दु खो का विवेचन ही किया होता तो हम कह सकते थे कि यह एक निराशावादी विचारपद्धति है, परतु इसने तो पूर्ण समाधान का मार्ग भी प्रशस्त किया है, और यही नही कि मात्र कुछ आत्माएँ ही स्थायी सुख शाति उपलब्ध कर सकती है, अपितु जो भी आत्मा ज्ञान, दर्शन और सयममय होती है, वह निर्वाण या मोक्ष के असीम और अक्षय आनद को प्राप्त कर सकती है।[7]

धार्मिक एव दार्शनिक उदारता के कारण ही भारतीय दर्शन निरतर पनपता रहा। और यही वैचारिक उदारता एव आचार द्वारा लक्ष्यप्राप्ति का आश्वासन इसकी विशेषता एव महत्ता को प्रतिपादित करती है।

---

1 सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग" त सू 1 1
2 यस्यैवामूर्तस्यात्मन विपयात्मकेन निरतर ध्यातव्य वृ उ स
3 बृहादारण्यकोपनिपद् 2 1 5
4 तैतिरीयोनिपद् 1 5
5 "स ब्रह्मविद्या सर्वविधाप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय आह" मु उ 1 1
6 अध्यात्मविद्या विद्याना प्रवदतामहम् गीता 10 32
7 सपज्जदि णिव्वाण दसणणाणप्पहाणादी। प्र सा 6

जहाँ भारतीय दर्शन ससार से मुक्ति या दु ख से मुक्ति के विचार और पद्धति पर प्रतिष्ठित है वही पाश्चात्य विचारपद्धति के विकास के दूसरे कारण है।

**पाश्चात्य दर्शन की विशेषता एव पद्धति** –लिटो की यह सर्वप्रसिद्ध उक्ति है कि दर्शन का जन्म आश्चर्य से होता है।[1] पाश्चात्य दर्शन के इतिहास मे यह बात स्पष्ट झलकती है कि उनके जीवन का लक्ष्य नाम के आधार पर प्रज्ञावान् या बुद्धिमान् होना ही है। कुछ ही अपवाद मिल सकते है, जिन्होने आचरण शुद्धि तथा मन की परिशुद्धता के आधार पर परम सत्ता के साक्षात्कार को अपना उद्देश्य और आदर्श माना है, और यह आदर्श भी प्राच्य है न कि पाश्चात्य।[2] पाश्चात्य विद्वान् तो आचारण की अपेक्षा ज्ञान पर अधिक जोर देते है।[3]

ब्रिटेन के विश्वविख्यात रसेल के अनुसार दर्शन का अपना कोई अधिकार क्षेत्र नही है, वह धर्म एव विज्ञान के महत्व की वस्तु है।[4] रसेल के अनुसार विज्ञान एव धर्मशास्त्र के अधिकार क्षेत्र के मध्य एक ऐसी अनाथ अथवा विवादास्पद भूमि (No man's Land) होती है जिसके ऊपर नित्य ही दोनो ओर से आक्रमण होते रहते है, यही विवादास्पद भूमि दर्शनशास्त्र है।[5]

**दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति एव उसका अर्थ** –'दर्शन' शब्द के तीन अर्थ सभी दर्शनो मे प्रसिद्ध है (1) व्यवहार भाषा मे घटदर्शन आदि, अर्थात् चाक्षुषज्ञान के अर्थ मे, (2) आत्मा इत्यादि तत्वो के साक्षात्कार के अर्थ में (3) एव न्याय, साख्य आदि निश्चित विचारसारणी के अर्थ मे दर्शन शब्द का प्रयोग सर्वसम्मत है। परतु जैन दर्शन मे 'दर्शन' शब्द का जो प्रचलित अर्थ है वह अन्य स्थानो पर उपलब्ध नही होता। जैन परम्परा मे श्रद्धा के अर्थ मे दर्शन शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है।[6] इसी तरह वस्तु के निर्विशेष सत्तामात्र के बोध को भी दर्शन कहा जाता है।[7] दर्शन चाहे चाक्षुष हो, अचाक्षुष हो या आवधिक, दर्शन मात्र दर्शन होता है, वह न सम्यग् होता है और न मिथ्या।

1 "फिलॉसफी बिगिन्स इन वडर" भारतीय दर्शन भाग 2 (डा राधाकृष्णन्) पृ 9 से उद्धृत
2 पाश्चात्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या का विषय प्रवेश पृ 1 याकूब मसीह
3 वही
4 बर्ट्रेण्ड रसेल हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसाफी इन्ट्रोडक्शन पृ 10,
5 जगदीश सहाय श्रीवास्तव ग्रीक एव मध्ययुगीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास, 11
6 तत्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्" त सू 12
7 "विषयविषयिसन्निपातान्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनात् प्रमाणनय 27

इसे सिद्धसेन ने सूचित भी किया है।[1] श्वेताम्बर और दिगबर दोनो ही सप्रदाय दर्शन को तार्किक रूप से प्रमाण के रूप मे स्वीकार नही करते। माणिक्य नदी ने न केवल दर्शन को प्रमाणबाह्य कहा, अपितु उसे प्रमाणाभास भी कहा है।[2] वादिदेव सूरि ने अपने प्रमाणनयतत्वा ग्रन्थ मे भी यही बात कही है।[3]

यद्यपि अभयदेव ने दर्शन को प्रमाण कहा है, परतु उसे तार्किक दृष्टिकोण से नही, अपितु आगमिक दृष्टि की मुख्यता को दृष्टिगत रखते हुए सम्यग्दर्शन के अर्थ मे कहा है।[4]

पडित सुखलालजी ने दर्शन का अर्थ साक्षात्कार की अपेक्षा "सबल प्रतीति" अर्थ पर बल दिया है। क्योकि अगर साक्षात्कार अर्थ करे तो विभिन्न दार्शनिको के मतभेद नही होने चाहिए। साक्षात्कार के योग्य पुनर्जन्म, उसका कारण, पुनर्जन्म ग्राही कोई तत्व एव पुनर्जन्म के कारणो का उच्छेद, ये चार प्रमेय ही साक्षात्कार के विषय माने जा सकते है। इन प्रमुख प्रमेय तत्वो के विशेष स्वरूप के विषय मे एव इनके विस्तृत मथन चिंतन मे प्रमुख दर्शनो का कभी तो इतना विरोध और मतभेद देखा जाता है कि तटस्थ तत्वान्वेषी असमजस मे पड जाता है। इस प्रवृति को देखते हुए इसका अधिक उपयुक्त अर्थ 'सबल प्रतीति' है।[5]

जैन दर्शन मे इसका दूसरा अर्थ है सामान्यबोध, जिसे अनाकार उपयोग भी कहते है। श्वेताम्बर- दिगबर दोनो मान्यताओ मे "अनाकार" शब्द ज्यादा प्रचलित है। लिङ्ग सापेक्ष उपयोग या बोध तो ज्ञान है और लिङ्गनिरपेक्ष साक्षात् होने वाला बोध अनाकार या दर्शन है। यह तो एक मत है, दूसरा मत यह भी है कि जो मात्र वर्तमान ग्राही बोध है वह दर्शन है और जो त्रिकालग्राही बोध है वह ज्ञान है।[6].

प्रचलित भाषाव्यहार मे दर्शन, दार्शनिक, दर्शनसाहित्य आदि जो शब्द प्रयुक्त होते है वे तत्वविद्या से सबधित है।

---

1 अत्र च यथा सांकाराद्वाया सम्यग्मिथ्यादृष्द्योर्विशेष, नैवमस्तिदर्शने, अनाकारत्वे उभयोरपि तुल्यत्वादित्यर्थ "- तत्वार्थभा टीका 2 9

2 परीक्षामुख 6 2

3 अज्ञानात्मकानात्म यथा सन्निकर्षा ध्यवसाया इति प्रमाण 6 24, 25

4 सन्मतिटी पृ 457

5 प सुखलालजी दर्शन थौर चिंतन पृ 67, 68

6 तत्त्वार्थ भाष्य टीका 2 9

'दर्शन' शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है- 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्', वस्तु के सत्य स्वरूप का जहाँ अवलोकन ही चितन हो वह दर्शन है। हम कौन है, कहाँ से आये है और हमारा क्या लक्ष्य है, यह चिंतन जगत की ही देन है। दर्शन के इन चिंतन बिन्दुओ के बीज प्राचीनतम शास्त्र आचाराग मे स्पष्टतया प्राप्त होते है।[1]

**दर्शन शब्द की फिलोसोफी से तुलना.**–पाश्चात्य विचारशास्त्र की सामान्य सज्ञा 'फिलोसोफी' है। यह शब्द दो शब्दो के मिश्रण से बना है–'फिलास' अर्थात्, प्रेम या अनुराग और 'सोफिया' अर्थात् विद्या। इस शब्द का प्रचलन सर्वप्रथम ग्रीक देश मे हुआ। इस सयुक्त शब्द के अर्थ से हमे पाश्चात्य दृष्टिकोण को समझने मे सरलता आती है। पाश्चात्य दार्शनिक विद्यानुरागी या प्रज्ञावान् बनना चाहता है। प्रत्येक वस्तु मे छानबीन करके मनमानी कल्पना करने के लिए पश्चिम जगत् विख्यात है। पश्चिम का दार्शनिक उस नाविक के समान है जो बिना किसी गतव्य स्थल का निर्धारण किये अपनी नौका विचार सागर मे तैरने के लिए छोड देता है। अगर नाव घाट पर लग जाये तो भी आनद और न लगे तो भी आनद।[2]

भारतीय दार्शनिक लक्ष्य का निर्धारण करके चिंतन के सागर मे उतरता है, और इसके फलस्वरूप मुक्ति मजिल स्वरूप आत्मशुद्धि का मोती उसे अवश्य हाथ लगता है।[3]

पश्चिम मे धर्म से भिन्न दर्शन छठी शताब्दी पूर्व यूनान मे प्रारभ हुआ। एक हजार वर्ष तक लगभग विचरण करता हुआ दर्शन एक बार फिर ईसाई धर्म मे निमग्न हुआ। पाँचवी शताब्दी से चौदहवी शताब्दी तक का समय दर्शन का अधकारमय युग कहलाता है, क्योकि दर्शन इस समय ईसाई धर्म का दास रहा।[4]

भारत मे इस प्रकार की हठधर्मिता कभी नही रही। श्री हैपल के अनुसार "भारत मे धर्म की रूढ़ि या हठधर्मिता का स्वरूप कभी प्राप्त नही रहा वरन् यह मानवीय व्यवहार की ऐसी क्रियात्मक परिकल्पना है जो आध्यात्मिक

1 आचाराग 1 1 2
2 बलदेव उपाध्याय- भारतीय दर्शन उपोद्घात पृ 5
3 प्रवचनभक्ति श्रुतसपद्धर्मा जनकानि प्रशमरति 141
4 ग्रीक एव मध्ययु दर्शनो का वै चिंतन जगदीश 1 2

विकास की विभिन्न स्थितियो मे और अवस्थाओ मे अपने आपको अनुकूल बना देती है।"[1]

**दार्शनिक के मापदड एव उसकी विशेषताएँ.**—सत्यान्वेषी को अपना अन्वेषण प्रारभ करने से पूर्व अपेक्षित योग्यता को अवश्य अर्जित करना पडता है। (i) सत्यान्वेषी मे जिज्ञासु प्रवृत्ति अवश्य होनी चाहिए। जिससे वह प्रकट रूप मे असबद्ध सामग्री के समूह से सत्य स्वरूप को ढूढकर निकाल सके। (ii) वह एकाग्रता से किसी विषय से जुडकर अविचलित मन से विषय की तह मे जावे। (iii) कर्मफल की आकाक्षा रहित प्रवृत्ति। उसका लक्ष्य फल प्राप्ति नही होना चाहिए, अपितु उसका एकमात्र लक्ष्य अन्वेषण ही होना चाहिए। (iv) उसकी दृष्टि पूर्वाग्रह रहित एव तटस्थ होनी चाहिए। (v) उसका अपना अतर्मन पूर्ण रूपेण प्रशिक्षित होना चाहिए। उसमे शाति, धैर्य, आत्मसयम, त्याग, श्रद्धा का होना अनिवार्य है। सासारिक आकर्षण एव प्रलोभनो से अविचलित रहना चाहिए। (vi) उसमे मुमुक्षुवृत्ति अर्थात् एक ऐसी प्रवृत्ति के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव जो आध्यात्मिक शक्ति के नाम से पुकारी जाती है, होनी चाहिए। (vii) लक्ष्य प्राप्ति और उसके समीप पहुँचने की प्रबल आकाक्षा मात्र ही अवशेष रहना।[2] ऐसे दार्शनिक ही भारतीय जनमन के श्रद्धास्पद एव विशिष्ट सम्माननीय बन सकते है। भारतीय सस्कृति व सभ्यता की सफलता का कारण यही है कि इन दार्शनिको का सपूर्ण चिंतन उपदेशो के रूप मे परहित के लिए सदैव बरसता रहा।

**आस्तिक एव नास्तिक दो प्रकार की विचार पद्धति.**—हम पूर्व मे ही स्पष्ट कर आये है कि भारतीय विचारपद्धति उदार एव सहिष्णु रही है। मुख्य रूप से यहाँ दार्शनिक जगत मे दो विचारधाराएँ प्रचलित है, आस्तिक एव नास्तिक। साधारण बोलचाल की भाषा मे ईश्वर मे श्रद्धा, आस्था रखने वाले दर्शन को आस्तिक एव श्रद्धा न रखने वाले को नास्तिक कहते है।

पाणिनि ने इसकी शास्त्रीय व्याख्या अपनी अष्टाध्यायी मे इस प्रकार की है। "अस्ति परलोके मतिर्यस्य स आस्तिक।" अर्थात् आस्तिक वह है जिसकी परलोक मे आस्था हो। आस्तिक, नास्तिक तथा दैष्टिक शब्दो की सिद्धि "अस्ति नास्ति दिष्ट मति" (4 4 60) सूत्र से ठक् प्रत्यय द्वारा हुई। पाणिनि की

1 डॉ राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन भाग 1, पृ 21 से उद्धृत

2 वेदान्त शकरभाष्य 1 1

व्याख्या के अनुसार जैन और बौद्ध दर्शन भी आस्तिक दर्शन के रूप मे प्रतिष्ठित हो जाते है।

परतु मनु ने आस्तिक और नास्तिक की व्याख्या अलग प्रकार से की है। मनु के अनुसार आस्तिक वह है जो वेद की प्रामाणिकता मे विश्वास करे और नास्तिक वह है जो वेद मे विश्वास न करे।

परतु निष्पक्ष और तटस्थ दृष्टिकोण से देखा जाये तो मात्र चार्वाक दर्शन ही नास्तिक दर्शन की कोटि मे आता है। जैन दर्शन लोक-परलोक एव ईश्वर जिसे वह परमात्मा या अर्हत् भी कहता है, को मानता है। अत जैन दर्शन को नास्तिक कहना युक्ति विरुद्ध है। इसे हम आगे स्पष्ट करेगे।

जैसा कि हम पहले ही लिख आये है कि भारत मे छ मुख्य दर्शन है और उनमे जैन दर्शन की भी परिगणना होती है। अब भारतीय दर्शनो के सन्दर्भ मे जैन दर्शन का क्या स्थान है, इसकी विवेचना करेगे।

**भारतीय दर्शन मे जैन दर्शन की प्राचीनता:**—कुछ समय पूर्व तक जैन दर्शन के बारे मे इस प्रकार की धारणा व्याप्त रही है कि यह स्वतत्र दर्शन न होकर बौद्ध दर्शन की शाखा मात्र है। कुछ ने इसे हिन्दू धर्म के अन्तर्गत बताया, परतु तटस्थ अनुसधान के कारण अब यह धारणा खड-खड हो गयी है। यह भी सिद्ध हो चुका है कि भगवान महावीर या पार्श्व इसके सस्थापक नही है, अपितु यह सिद्धान्त तो प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित है। डॉ याकोबी के अनुसार "पार्श्वनाथ जैन धर्म के सस्थापक नही थे। जैन परम्परा ऋषभदेव को इस धर्म का प्रवर्तक मानती है और इसके प्रमाण भी है।"[1]

डॉ सर राधाकृष्णन् इसे और अधिक पुष्ट करते है। उनके अनुसार जैन परम्परा ऋषभदेव से अपनी उत्पत्ति होने का कथन करती है जो बहुत शताब्दियो पूर्व हुए थे। इस बात के प्रमाण भी उपलब्ध होते है कि ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दि मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इसमे कोई सन्देह नही कि जैन धर्म पार्श्वनाथ और महावीर से पूर्व भी प्रचलित

1 There is nothing to prore that Parshva was the founder of Jainism Jain tradition in unanimous in making Rishabha the first Tirthankara (as its founder), there may be something historical in the tradition which makes him the first Tirthankara Indian Antiquary Vol IX P 163

था। यजुर्वेद मे ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि के नाम उपलब्ध होते है। भागवत पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैन धर्म के सस्थापक थे। "There is evidence to show that so far back as the first century B C , there were people who were worshiping Rishabhadeva, the first Tirthankara There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhamana or parshvanath The Yajurveda mentions the names of three Tirthankaras–Rishabha, Ajitnath and Anstanemi The Bhagavata Puran endorses the view that Rishabha was the founder of Jainism Indian Philosophy" Vol I P 287

इन अनुसधानपरक तथ्यो द्वारा यह प्रमाणित होने के कारण आज विश्व के क्षितिज पर जैन दर्शन की अपनी प्राचीनता मे कोई सदेह नही करता। साथ ही जैन दर्शन विज्ञानसम्मत नियमनिर्धारण के कारण विश्व धर्म बनने की क्षमता से ओतप्रेत है। जैन दर्शन की समस्त धारणाएँ वैज्ञानिक है, इसे हम अगले अध्यायो मे विवेचित करेगे।

**जैन दर्शन मे स्वीकृत द्रव्यः**—दर्शन आदि की आशिक परतु अनिवार्य भूमिका स्पष्ट करने के पश्चात् हम अपने मूल विषय पर दृष्टिपात करते है। मेरा विवेच्य है "द्रव्य एव उसका स्वरूप"। सर्वप्रथम हम यह देखने का प्रयास करेगे कि जैन दर्शन मे 'द्रव्य' शब्द किन-किन अर्थों मे प्रयुक्त मे हुआ है।

प्राकृत का 'दव्व', पालि का 'दब्ब' और सस्कृत का 'द्रव्य' शब्द अत्यत प्राचीन है। यद्यपि लोकव्यवहार मे तथा काव्य, व्याकरण दर्शन आदि शास्त्रो मे भिन्न-भिन्न सन्दर्भो मे 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग प्राचीन एव बहुत रूढ़ जान पडता है तथापि जैन परिपाटी मे 'द्रव्य' शब्द अन्य शास्त्रो की अपेक्षा अनेक अर्थों मे भिन्न भी प्रतीत होता है।[1] नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इन निक्षेपो के प्रसग मे[2], द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के प्रसग मे[3], द्रव्यार्थिक एव पर्यायार्थिक नय के विपय मे[4], द्रव्याचार्य एव भावाचार्य[5] मे एव द्रव्यकर्म और भावकर्म के प्रसग मे[6] आने वाला द्रव्य शब्द विशिष्ट अर्थयुक्त है।

1 प सुखलालजी - दर्शन और चिंतन पृ 143
2 नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्यास " त सू 1 5
3 "दव्वाइ, खेतओण भावओ वण्णमताइ भ 2 1 4
4 द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिकम्" तत्वार्थभा 5 31
5 पचाशक- 6
6 द्रव्यकर्मण एव कर्ता' भावकर्मण " प्र सा ता वृ 122

विश्व के मौलिक पदार्थों के अर्थ मे भी 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। वह तत्व जो स्वभाव का त्याग किये बिना उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त हो,, जैन दर्शन का द्रव्य है।[1] जैन दर्शन की तरह अन्य दर्शनो मे भी 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।

न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनो मे 'द्रव्य' शब्द गुणकर्माधार अर्थ मे प्रसिद्ध है।[2] पृथ्वी, जल, तेज आदि नौ द्रव्य है। महाभाष्यकार पतजलि ने भिन्न-भिन्न स्थानो पर द्रव्य शब्द के अर्थ की चर्चा की है। उन्होने एक स्थान पर कहा है कि घडे को तोडकर कुण्डी और कुण्डी को तोडकर घडा बनाया जाता है। भिन्न-भिन्न अलकारो को तोडकर भिन्न-भिन्न अलकार बनाये जाते है, परतु उसमे रहने वाला सुवर्ण तत्व नित्य रहता है। भिन्न-भिन्न आकृतियो मे स्थिर रहने वाला यह तत्व ही द्रव्य शब्द से अभिहित किया जाता है।[3] 'योगसूत्र' के व्यासभाष्य मे द्रव्य की यह परिभाषा ज्यो की त्यो उपलब्ध होती है।[4]

मीमासक कुमारिल ने भी द्रव्य शब्द की यही व्याख्या की है।[5] पतजलि ने दूसरी जगह गुणसमुदाय या गुण सन्दाव को द्रव्य कहा है।[6]

महाभाष्यप्रसिद्ध एव बाद मे व्यास आदि द्वारा समर्थित ये सारी व्याख्याएँ जैन दार्शनिक उमास्वाति के तत्वार्थ सूत्र मे उपलब्ध होती है।[7]

**द्रव्य का निरुक्तिलभ्य अर्थ.**–व्याकरण की दृष्टि से परम्परा मे प्रयुक्त पारिभाषिक द्रव्य शब्द का विशेष अर्थ एव उसकी व्याख्या को इस प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

**जैनेन्द्र व्याकरण के अनुसार.**–द्रव्य शब्द को इवार्थक निपात मानना चाहिये। "द्रव्य भव्ये" (4 1 158) इस जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रानुसार द्रु की तरह जो हो वह द्रव्य समझना। जिस प्रकार बिना गाँठ की लकडी बढई आदि के

1 अपरिच्चत दव्वति वुच्चति स सा 95

2 वै सू 1 1 15

3 द्रव्य हि् नित्यमाकृतिरनित्या सुवर्णं कदाचिदाकृत्या पिण्डाकृतिमुपमर्द्य रुचका क्रियन्ते आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते पात महा 1 1

4 योगभाष्य 4 13

5 वधमानकमङ्गे च हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्य न नाशेन विना सामान्यनित्यता मी श्लो वा 21 23

6 पात महा 4 1.3, 5 1 119

7 त सू 5 29, 30 37

निमित्त से टेबल कुर्सी आदि अनेक आकारो को प्राप्त होती है, उसी तरह द्रव्य भी ब्राह्य व आभ्यतर कारणो से उन-उन पर्यायो को प्राप्त होता रहता है, जैसे पाषाण खोदने से पानी निकलता है। यहाँ अविभक्त कर्तृकरण है उसी प्रकार द्रव्य और पर्याय मे भी समझना चाहिये।[1]

**पंचास्तिकाय के अनुसार:–** उन-उन सद्भाव पर्यायो को जो द्रवित होता है, प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते है, जो सत्ता से अनन्य भूत है।[2]

**सर्वार्थसिद्धि के अनुसार:–** (1) जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया गया था अथवा गुणों को प्राप्त हुआ था, या जो गुणो के द्वारा प्राप्त किया जायेगा या गुणो को प्राप्त होगा, उसे द्रव्य कहते है।[3]

(2) जो यथायोग्य अपनी-अपनी पर्यायो के द्वारा प्राप्त होते है या पर्यायो को प्राप्त होते है, वे द्रव्य कहलाते है।[4] पचास्तिकाय का अनुसरण करती व्याख्या राजवार्तिक मे भी उपलब्ध होती है।[5]

**अनेक पर्यायवाची शब्दो के द्वारा अभिहित द्रव्य:–** उत्पाद व्यय एव ध्रौव्य स्वभाव मय नित्य परिणमनशील अर्थ मे प्रयुक्त होने वाले इस 'द्रव्य' शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द उपलब्ध होते है। सत्ता, सत् अथवा सत्व, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि, ये नौ शब्द सामान्य रूप से एक द्रव्यरूप अर्थ के ही वाचक है।[6]

द्रव्य के अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है।[7] परतु अधिक प्रचलित अर्थ द्रव्य, सत्, अथवा भाव है।

**द्रव्य की परिकल्पना का कारण:–** हमे यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि द्रव्य की परिकल्पना क्यो की गयी? इसके समाधान मे हमें यही तर्क प्राप्त होता है कि सृष्टि की व्याख्या को समझने के लिये द्रव्य शब्द की

---

1 अथवा 'द्रव्य भव्ये व्यजैनेन्द्र व्याकरण (4 1 158) इत्यनेन निपातितो तेन तेन पर्यायेण द्रु इव भवतीति द्रव्यमित्युपमीयते" रा वा 5 2 2 436 26

2 "दवियदि गच्छदि ताइ ताइ सब्भावपज्जयाइ जं दविय त भण्णते, अणण्णभूदतु सत्तादो" प का 9

3 "गुणैर्गुणान्वा द्रुत गत गुणैर्द्रोष्यते, गुणान्द्रोष्यतीति वा द्रव्यम्" 1 5 17 5

4 यथास्व पर्यायैर्द्रूयन्ते द्रवति वा तानि इति द्रव्याणि 5 2 266 10

5 रा वा 1 33 1 95 4

6 सत्ता सत्व सद्वा सामान्य द्रव्यमन्वयो वस्तु। अर्थोविधिरविशेषा एकार्थवाचका अमी शब्दा "पं ध पु 143

7 "द्रव्य सामान्यमुत्सर्ग अनुवृत्तिरित्यर्थ" स सि 1 33 241

कल्पना हुई होगी। सृष्टि "द्रव्यमय है", हमारे सामने जड-चेतन चेतन जो कुछ है, वह सब कुछ द्रव्य है।

अन्य भारतीय दर्शनो मे भी 'द्रव्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका विस्तारपूर्वक विवेचन आगे के पृष्ठो मे है। जैन दर्शन का द्रव्य ही उपनिषद् का सत् है, एव जैन दर्शन मे भी 'सत्' और 'द्रव्य' पर्यायवाची है। सांख्य पुरुष-प्रकृति के अर्थ मे, चार्वाक भूतचतुष्टय के अर्थ में और न्याय-वैशेपिक परमाणुवाद के अर्थ मे 'द्रव्य' शब्द को ग्रहण करते है।

**भारतीय दार्शनिको के विभिन्न मतः**—विविधता और विशिष्टता से भरपूर यह रगविरंगी सृष्टि अनेक दार्शनिको के चिंतन का विषय रही है। उनके लक्ष्य एव उद्देश्य मे भिन्नता हो सकती है। उनके जैसे तत्वज्ञ सत इस सृष्टि की तह मे इसलिये जाना चाहते है ताकि इसका असली स्वरूप पहचानकर उसके प्रति विरक्त वने एव अन्य को भी निवृत्ति का मार्ग प्रम्पित कर सके।

दार्शनिक मात्र अपनी अन्तरनदी मे उफनती जिज्ञासाओ को समाहित करने हेतु इसे जानना चाहता है। मतो की इस भिन्नता ने जहाँ एक ओर उदारवाद का परिचय दिया वही दूसरी ओर अवधारणाएँ भिन्न-भिन्न वनती गईं। सृष्टि के प्रश्न पर भी अनेक अवधारणाएँ वनी। आगे के कुछ अनुच्छेदो मे द्रव्य एव सृष्टि के विषय मे भिन्न-भिन्न दार्शनिक मतो को प्रस्तुत किया जा रहा है।

**उपनिषद् के अनुसार द्रव्य एव सृष्टि** —सर्वप्रथम यहाँ असत् था, इस असत् मे सत् की उत्पत्ति हुई।[1] कुछ ऋषियो के मत मे असत् से सत् की उत्पत्ति नही हो सकती। सर्वप्रथम सत् ही था, उसने सोचा "मै अनेक होऊ" और सत् की इसी कल्पना से सृष्टि का निर्माण हुआ।[2] उपनिपद् आत्मा और ब्रह्म को अभिन्न मानता है। "यह सब ब्रह्म ही है और आत्मा ही ब्रह्म है।"[3] चद्रमा और सूर्य ब्रह्मा की आँखे, अतरिक्ष और दिशाएँ श्रोत्र और वायु इसका उच्छ्वास है।[4]

---

1 "असत सदजायत' छान्दोग्य 6 2 1

2 "कुतस्तु खलु सौम्य एव स्यादिति होवाच कथमसत सज्जायेतेति" सत्वेव सोम्येदमणु आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्। तदैक्षत बहुस्या प्रजायेयेति।" छान्दोग्य 6 2 2

3 "सर्व हि एतद् ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म" माण्डूक्य

4 मुण्डोकपनि 1 1

तैत्तिरीय उपनिषद् मे ब्रह्म की व्याख्या इस प्रकार बनायी गयी है "वह जिससे समस्त भूतो की उत्पत्ति हुई और उत्पन्न होने के पश्चात् जीवन को धारण करते है, मृत्यु के बाद वे सारे ब्रह्म मे ही समा जाते है।[1] एक मत यह भी है कि जिस प्रकार बढई मकान आदि बनाता है, ब्रह्मा ने भी उसी प्रकार से सृष्टि बनायी है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि जब ब्रह्म ने ससार बनाया तो बनाने की सामग्री उसे कहाँ से उपलब्ध हुई? इसका उत्तर आगे जाकर यह दिया गया कि ब्रह्म ही वह वृक्ष एव काष्ठ है जिससे द्युलोक एव पृथ्वी का निर्माण हुआ।[2]

इस प्रकार सृष्टि के सबध मे उपनिषदो मे स्पष्ट विचारधारा मिलती है कि सपूर्ण चेतन-अचेतन ईश्वर-द्वारा सर्जित है एव व्यय या विनाश होकर उसी मे विलीन हो जाता है।

**बौद्ध मत मे द्रव्य एव सृष्टि** –बौद्ध दर्शन के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध से जब इस प्रकार के जीव, जगत विषयक प्रश्न किये जाते थे[3], तब वे इन्हे अव्याकृत कहकर मौन ही रहते थे।

बुद्ध कहते थे ये प्रश्न न तो अर्थयुक्त है न ही धर्मयुक्त। इनका ज्ञान न तो ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक है और न निर्वेद के लिए, इनसे न विराग होता है, न दुखनिरोध, न शान्ति न अभिज्ञा, न सबोधि प्राप्त होती है और न निर्वाण, अत इन्हे अव्याकृत कहा है।[4]

तथागत आगे कहते है "कुछ श्रमण और ब्राह्मण शाश्वतवाद को मानते है, कुछ उच्छेदवाद को, कुछ अशत दोनो को मानते है। ये सब इन्ही प्रश्नो मे उलझकर रह जाते है। मै भी इनको जानता हूँ, प्रत्युत ज्यादा जानता हूँ, परतु जानने का अभिमान नही करता, अत तथागत निर्वाण का साक्षात्कार करते है।"[5]

बुद्ध ने आगे यह भी कहा कि जो लोक (ससार) आदि का विवेचन

---

1 तैत्तिरीयोपनिषद् 3 16 तैतिरीय ब्राह्मण 10 31 7

2 तैतिरीय ब्राह्मण

3 दीघनिकाय पोट्ठपादसुत्त 9

4 दीघनिकाय पोट्ठपादसुत्त 9

5 दीघनिकाय ब्रह्मजालसुत्त 1

करते है क्या उन्होने उस लोक का साक्षात्कार किया है? अगर नही, तो क्या उनका वचन अप्रमाणिक नही होगा?[1]

बुद्ध ने तो यहाँ तक कहा कि जो इन अव्याकृत प्रश्नो मे उलझकर रह जाता है वह दुख से मुक्त नही हो सकता।[2]

नागार्जुन समग्र व्यावहारिक धारणाओ की परीक्षा करके यही निर्णय लेते है कि यह सब कुछ असत्य है, मात्र शून्यता ही सत्य है।[3]

**साख्य के अनुसार द्रव्य एव सृष्टि.**–साख्य द्वैतवादी है, क्योकि यह पुरुष और प्रकृति दोनो की सत्ता स्वीकार करता है। इसके अनुसार कार्य कारण मे विद्यमान होता है। कारण की परिभाषा करते हुए साख्य कहता है कि कारण वह सत्ता है जिसके अदर कार्य अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। इसके लिए वह कतिपय उक्तियाँ भी प्रस्तुत करता है।[4] अभावात्मक पदार्थ किसी भी क्रिया का कारण नही हो सकता, असत् को सत् नही बनाया जा सकता। नीले को हजारो कलाकार भी पीला नही कर सकते।[5] साख्य इस सृष्टि को किसी बुद्धिमान् की रचना नही मानता, अपितु वह स्पष्ट कहता है कि प्रकृति का कार्यकलाप किसी सचेतन चिंतन का परिणाम नही है।[6]

बुद्धि रहित प्रकृति के बारे मे कहा जाता है कि वह वैसे ही कार्य करती है जैसे वृक्ष फलो को उत्पन्न करते है।[7] पुरुष स्वय रचनात्मक शक्ति नही है, परतु प्रकृति जो 'अनेकरूप विश्व' को उत्पन्न करती है वह पुरुष के मार्गदर्शन एव सपर्क के कारण ही करती है। इस सिद्धात को लगडे और अधे के उदाहरण द्वारा समझाया है।[8]

साख्य के अनुसार सृष्टि न यथार्थ है न अयथार्थ, फिर भी वर्णनीय है, क्योकि अवर्णनीय की सत्ता नही है।[9] साख्य मतानुसार उसका न तो अस्तित्व

---

1 दीघनिकाय पोट्ठपादसुत्त
2 मज्झिमनिकाय 63 चूलमालुक्यसुत्त 64, दीघनिकाय 9
3 न स्वती नाति परती भावा क्वचन केचन मा का 11
4 असदकरणादुपादान सत्कार्यम्। साख्यका 9
5 नहि नील शिल्पीसहस्त्रेण पीत कर्तु शक्यते" तत्व कौमुदी- 2 9
6 साख्यप्रवचन सूत्र 3 31
7 साख्यप्रवचनसूत्र वृत्ति 2 1
8 पुरुपस्य दर्शनार्थ केवल्यार्थ तथा प्रधानस्य। साख्यका 21
9 साख्यप्रवचनसूत्र 5 54

है[1] और न ही मात्र वैचारिक सत्ता।[2] यह जगत् प्रकृति के नित्य रूप मे विद्यमान रहता है और अपने अस्थायी परिवर्तित रूपो मे विलुप्त हो जाता है।[3] यह विकास और विलय का चक्र अनादि-अनत है। प्रकृति का यह नृत्य मुक्ति तक चालू रहता है।[4]

साख्य का सृष्टि क्रम इस प्रकार स्पष्ट है–प्रकृति से महत्, महत् से अहकार, अहकार से मन, पचज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचकर्मेन्द्रियाँ पचतन्मात्रा, एव पचमहाभूत उत्पन्न होते है।[5] ये चौबीस तत्व अचेतन है, फिर भी चेतन पुरुषके प्रयोजन के लिये प्रवृत्त होते है। पुरुष सृष्टिव्यापार से अलिप्त है, न यह विकृति है न प्रकृति। मूल प्रकृति प्रकृति है, महत्,अहकार और पचतन्मात्राएँ, ये प्रकृति विकृति दोनो है। मन, पचज्ञानेन्द्रियाँ, पचकर्मेन्द्रियाँ और पचमहाभूत, ये सोलह तत्व मात्र विकृति है।[6]

रूप, रस, गध, स्पर्श और शब्द, ये पाँच तन्मात्राएँ है। इन पाँच तन्मात्राओ से अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु और आकाश रूप पाँच महाभूतो की उत्पत्ति होती है।[7]

**न्यायवैशेषिक मे द्रव्य व सृष्टि.**–न्याय और वैशेषिक समान तत्र माने जाते है। न्याय के अनुसार जगत् की सृष्टि तथा सहार को करने वाला व्यापक, नित्य, एक, सर्वज्ञ तथा नित्यज्ञानयुक्त शिव है।[8]

पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, नदी, समुद्र आदि सभी किसी बुद्धिमान द्वारा निर्मित है, क्योकि ये घट-पट की तरह कार्य है, और जितने भी कार्य है, वे सारे किसी न किसी की निर्मित है।[9]

न्याय और वैशेषिक असत्कार्यवादी माने जाते है। वैशेषिक परमाणु को जगत् का कारण मानते है। इस जगत मे सारे पदार्थ उत्पत्ति-विनाशशील

1 साख्यप्र सू 5 55
2 सा प्र सू 1 42
3 सदसत्ख्यातिबधिबाधात् सा प्र सू 5 56
4 सा प्र सू 3 36
5 "प्रकृतेर्महास्ततो पच भूतानि" सा का 33
6 मूलप्रकृतिरविकृति विकृति पुरुप " सा का 3
7 षड्दर्शनसमुच्चय 40, सा का माठर पृ 37
8 अक्षपादमते समाश्रय" षड्दर्शनसमुच्चय 16
9 यद् यद् कार्य तत्तद् बोधाधारकारणम् तस्मात् बोधाधारकारणम्" प्रश भा पृ 302

है, नित्य परमाणुओ के विभिन्न सयोगो से बनते है और वियोग से विनष्ट होते है। भौतिक पदार्थो के अवयवो का विभाग भी किया जाता है और इन अवयवो को पुन अन्य अवयवो मे विभक्त किया जा सकता है, इस अनवस्था से बचने के लिये अतिम अवयव को अविभाज्य और निरवयव मानना होगा, और ऐसा अतीन्द्रिय नित्य अविभाज्य भौतिकद्रव्य परमाणु है।[1]

परमाणु चार प्रकार के है। पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय। आकाश एक और नित्य है।

प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य मे इन परमाणुओ से जगदुत्पत्ति का सुदर विवेचन किया है।[2] अणुपरिमाण विशिष्ट परमाणुओ से द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है। द्व्यणुक कार्य होने से अनित्य है यद्यपि वह भी अणुपरमाणुक होता है। तीन द्व्यणुको से जिस त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है वह महत्परिमाणवाला होता है। यही इन्द्रियगोचर होता है। परमाणु की व्याख्या इस प्रकार उपलब्ध होती है—छत के छेद से सूर्य की किरणो मे जो छोटे कण नजर आते है वे त्रसरेणु है और उस त्रसरेणु का छठा भाग परमाणु है।[3]

परमाणु शात और निस्पद रहते है फिर उनमे स्पद कैसे होता है? वैशेषिक इसका कारण धर्माधर्मरूप अदृष्ट को बताते है। जैसे सुई की अयस्कातमणि मे गति[4], वृक्षो मे रस का नीचे से ऊपर की ओर बढना[5] होता है, वैसे ही मन तथा परमाणुओ की पहली क्रिया अदृष्ट की सहकारिता से ईश्वर की इच्छा से परमाणुओ मे स्पदन, और फिर उससे सृष्टि क्रिया मानी गयी है।[6]

**चार्वक के मत मे द्रव्य एव सृष्टि**—भारतीय दर्शन मे चार्वक दर्शन का उल्लेख नास्तिक दर्शन मे होता है। वह इस सृष्टि की रचना को किसी व्यक्ति विशेष की उपलब्धि न मानकर इसे पृथ्वी, जल, तेज और वायु के ही तत्वचतुष्टय के द्वारा उत्पन्न बताता है।[7] जिस प्रकार महुआ आदि मादक सामग्री सयोग

1 न्यायभाष्य 4 2 17-25 7 प्रशस्तपादभाष्य पृ 19-22

2 प्रशस्तपादभाष्य पृ 19-22

3 जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्म दृश्यते रज। तस्य षष्ठतमो भाग परमाणु स उच्यते" उद्धृत आप्तमीमासा पृष्ठ 20 मे

4 "मणिगमनसूच्यभिसर्पणमित्यदृष्टकारणम्" वै सू 5 1 15

5 "वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम्" वै सू 5 2 7

6 प्रशस्त भा पृ 20

7 पृथ्वी जल तथा चतुष्टयम्" षड्दर्शन 43 "शरीरेन्द्रियविषय सज्ञेभ्य " प्रमेयकमल पृ 115

से विशिष्ट मदशक्ति उत्पन्न होती है, उसी तरह भूत चतुष्टय के विशिष्ट सयोग से चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती है।

भूत और भविष्य मे इनका विश्वास नही है। इनकी प्रसिद्ध उक्ति है- "यावज्जीवेत् सुख जीवेत् ऋण कृत्वा घृत पिवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत।"

इस प्रकार लोक (सृष्टि) के सबध मे अनेको मत है। इसके विस्तृत विवेचन के लिये हमे हरिभद्रसूरि कृत 'लोकतत्व निरूपण' ग्रन्थ देखना चाहिये। अब हम जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि के सबध मे विवेचन पर दृष्टिपात करे।

**द्रव्य व सृष्टि के सबध मे जैन दर्शन की मान्यता**.—जैन दार्शनिको ने जीवन से सबधित समस्त पहलुओ पर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। चूँकि मानव अपनी समस्त क्रियाएँ ससार मे ही सम्पन्न करता है तो इस विषय पर जैन दार्शनिक मूक कैसे रह सकते है। भगवान महावीर के परम विनम्र शिष्य, "रोह" ने समाधान की प्रार्थना करते हुए महावीर से निवेदन किया कि "पहले लोक हुआ अथवा अलोक।"

भगवान ने उसकी जिज्ञासा को उपशात करते हुए कहा-रोह[1] लोक और अलोक, ये दोनो अनादि है, इनमे पौर्वापर्य सबध सभव नही है। इसके लिए उन्होने अण्डे और मुर्गी का उदाहरण भी दिया[1] जहाँ पर हम रहते है वह लोक है। लोक मे आकाश, धर्म, अधर्म, काल पुद्गल और जीव की सहस्थिति ही है।[2]

द्रव्य से परिपूर्ण इस सृष्टि को जैन दर्शन मे लोक कहा जाता है। महावीर ने इस सपूर्ण सृष्टि को छ द्रव्यो से परिव्याप्त बताया है। जैन सिद्धातो के प्रकाश मे अभेदात्मक अपेक्षा से इस सृष्टि को द्रव्यमय एव भेदात्मक दृष्टिकोण से षड्द्रव्यमय कहा जा सकता है।[3]

यह विश्व इस अनतानत "सत्" का विराट् आगर है और अकृत्रिम है,[4] किसी व्यक्तिविशेष या ईश्वर द्वारा रचित नही है। माध्यमिको के अनुसार,

---

1 भगवती 1 6

2 जीवा चेव अजीवाय, अेस लोगे वियहिए" उत्तरा 36 2

3 धर्माधर्माकाश दित्यादिर्यथा। प्रमाणन 7 20

4 लोगो अकिट्ठिमो ग्वलु" मूलाधार 712

"पदार्थ न एक है और न अनेक। एक इसीलिये नही क्योंकि पदार्थों मे विविधता है और उस विविधता को सिद्ध करने वाला प्रमाण न होने के कारण 'अभावैकान्त' कहना ठीक है।"[1]

जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि अनादि अनत है, उसमे न तो नया उत्पाद है और न प्राप्त सत् का विनाश है। वह मात्र पर्यायपरिवर्तन करता रहता है।

न तो असत् से सत् उत्पन्न होते है और न सत् का कभी विनाश होता है। समस्त साधन की उपलब्धता मे भी मृत्पिड के अभाव मे घडे का उत्पाद नही होता।[2] भाव (द्रव्य) मात्र गुण और पर्याय मे परिवर्तन करते है, परतु सत् का उत्पाद या विनाश कभी नही होता।[3] हरिभद्रसूरि ने शास्त्रवार्ता समच्चय मे भी इसी व्याख्या की पुष्टि की है।[4]

जैन दर्शन ने द्रव्य छह माने है–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशस्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय एव काल।[5] तत्वार्थ सूत्र मे यद्यपि 'काल' द्रव्य का वर्णन उपर्युक्त पाँच अस्तिकाय द्रव्यो के वर्णन के साथ तो नही उपलब्ध होता, परतु इसी (पाँचवे) अध्याय के पैतीसवे सूत्र मे काल को द्रव्य के रूप मे लिया है।[6] राजवार्तिक मे द्रव्य की सख्या उपलब्ध होती है।[7] कुदकुदाचार्य ने धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव, इनके लिये अस्तिकाय एव काल को परिवर्तनलिंग युक्त कहकर द्रव्य की सख्या स्वीकार की है।[8] वे सभी द्रव्य परस्पर मिश्रित रहकर एक दूसरे मे प्रवेश करते है, एक दूसरे को अवकाश देते है, परस्पर मिल जाते है फिर भी अपने स्वभाव का त्याग नही करते।[9]

वैशेषिक छह पदार्थ मानते है[10]। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय

1 "भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूप नास्ति तत्वत। यस्मोदकमनेक च, रूप तेपा न विद्यते" प्रमाणवार्तिका 2 360
2 शास्त्रवार्ता समुच्चय 6 28
3 भावस्स णत्थि णासो पुकव्वति प का 15
4 शास्त्र 6 37, एव 11 5
5 त सू 1 3
6 त सू 5 35
7 रा वा 5 3 442
8 प का 2 6
9 अण्णोण्ण पविसता विजहति प का न
10 स्याद्वादमजरी 8 48

वैशेषिकमत मे द्रव्य का लक्षण है– जिसमे गुण और क्रिया पाये जाये तथा जो कार्य का समवायी कारण हो।[1] पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश,, काल, दिक्, आत्मा और मन, ये नौ द्रव्य है।[2] एक अपेक्षा से अद्रव्यत्व और अनेकद्रव्यत्व भी द्रव्य का लक्षण है। आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन और परमाणु अद्रव्यत्व है, ये न किसी से उत्पन्न है और न किसी के उत्पादक है। अवशिष्ट पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये अनेक द्रव्यत्व है, क्योकि ये अनेक द्रव्यो से उत्पन्न भी है और अनेको के उत्पादक भी[3] वैशेषिक दर्शन ने गुण को भी नितात भिन्न माना है। जो एक द्रव्याश्रित हो गुणरहित एवं सयोग विभाग का सापेक्ष कारण हो, वह गुण है।[4] रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न द्रवत्व, गुरुत्व, सस्कार, स्नेह, धर्म, अधर्म, और शब्द, ये 24 गुण होते है।[5]

वैशेषिक दर्शन की तरह बौद्ध दर्शन भी एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से सबध स्वीकार नही करते। परतत्रता नाम सबध का है परतु जो वस्तु सिद्ध हो गयी उसमे परतत्रता का प्रश्न ही नही है। इसीलिए किसी भी पदार्थ मे कोई वास्तविक सबध नही है।[6]

---

1 क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्" वै सू 1 1 15

2 वैशेपिकदर्शन 1 1 15

3 द्रव्य द्विधा अद्रव्यममनेकद्रव्य च। न विद्यते द्रव्य जन्यतया जनकतया च यस्य तदद्रव्य द्रव्यम् यथाकाशकालादि। अनेक द्रव्य जन्यतया च जनकतया च यस्य तदनेकद्रव्य द्रव्यम्" स्याद्वाद 4.49 से उद्धत

4 द्रव्याश्रय्यगुणवान् सयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्" वै सू 1 1 16

5 रूप रम गध प्रयत्नश्च" वै सू 1 1 6

6 पारतन्त्र्य हि सबध सिद्धे का परतन्त्रता। तस्मात् सर्वस्वभावस्य सबधो नास्ति तत्वत " "संबधपरीक्षा ' उद्धृतेयम् आ मी 1 11 123

2

# जैन परम्परा मान्य द्रव्य का लक्षण

भूत और भविष्य को जोडने वाला वर्तमान है। अगर वर्तमान न हो तो भूत और भविष्य दोनो महत्वहीन है। जिसका हम आज अस्तित्व स्वीकार करते है, निसदेह अतीत मे भी उसका अस्तित्व रहा है और भविष्य मे भी रहेगा। अवस्था मे परिणमन तो अनिवार्य है, परतु परिणमन के मध्य कुछ ऐसा अप्रकप तत्व है जो सर्वदा स्थायी है। दार्शनिक क्षेत्र मे द्रव्य उसे ही कहते है जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे प्रतिपल परिणमन तो करे, परतु अपने मौलिक स्वभाव की अपेक्षा नित्य रहे।[1] सत् और द्रव्य एक ही है, अथवा यह भी कह सकते हैं- जो सत् है, वही द्रव्य है।[2]

अवस्थाओ का परिणमन उसी मे सभव है जो ध्रुव या नित्य रहे। नित्य की अनुपस्थिति मे न तो पूर्ववर्ती अवस्था सभव है और न ही उत्तरवर्ती। नित्य का लक्षण उमास्वाति ने इस प्रकार बताया है- जो अपने भाव से कभी च्युत न हो वह नित्य है।[3]

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की इस व्याख्या से युक्त परिणमन की परम्परा से युक्त होकर भी द्रव्य अपने स्वभाव का उल्लघन नही करता। अत इस सत (द्रव्य) को त्रिलक्षण ही कहना चाहिये।[4] द्रव्य मे न तो मात्र उत्पाद सभव है और न ही मात्र व्यय, और ध्रौव्यता के अभाव मे उत्पाद व्यय किसका आश्रित होगा।[5] प्रतिपल उत्पाद व्यय की स्थिति के मध्य भी द्रव्य की अपनी स्वरूप हानि नही होती।[6]

1 "उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत्" त सू 5 29
2 "गोयमा सद्दव्वयाए" भ 8 9 55
3 "तद्भावाव्यय नित्यम्" त सू 5 30
4 एवमस्य स्वभावत एव त्रिलक्षणायाः सत्वमनुमोदनीयम्" प्र सा त प्र वृ 99
5 ण भवो भगविहीणो विणा धोव्वेण अत्थेण" प्र सा 100
6 पादुब्भवदि य अण्णो उप्पण्णो" प्र सा 103

द्रव्य और सत्ता, इनमे मात्र शब्दभेद है, अर्थभेद नही है। इसका प्रमाण यह है कि द्रव्य और सत्ता इन दोनो का एक ही अर्थ मे प्रयोग मिलता है। द्रव्य और सत्ता के एकार्थक होने का कारण प्रवचन सार मे इस प्रकार से प्राप्त होता है, "द्रव्य अगर सत् नही है तो असत् होगा, और असत् तो द्रव्य नही हो सकता, अत द्रव्य स्वय सत्ता है।[1]

चेतन और अचेतन जितने भी है, वे सभी द्रव्य कहलाते है। चेतन और अचेतन द्रव्यो मे उत्पाद व्यय वैसे ही होता है जिस प्रकार मृत्पिड से घडे का निर्माण और पिण्डावस्था का नाश। मिट्टी से जब घडा बना तब मृत्पिडाकार का व्यय और घट की उत्पत्ति हुई, पर इन दोनो अवस्थाओ मे मृत्तिका की स्थिति यथावत् (ध्रुव) रहती है।[2]

गुणरत्नसूरि ने 'षड्दर्शन समुच्चय टीका' मे सत् की यही व्याख्या दी है- "समस्त वस्तुएँ उत्पाद व्यय और ध्रौव्य युक्त है, क्योकि वे सत् है। जो उत्पाद व्यय युक्त नही है वे सत् नही है।[3] सत् शब्द के लोकभाषा मे विभिन्न अर्थ मिलते है, पर यहाँ सत् का अर्थ अस्तित्व है।[4]

स्वय हरिभद्रसूरि ने "उत्पाद व्यय और ध्रौव्य युक्त को ही सत् के रूप मे प्रतिष्ठित किया है।[5]

'पचास्तिकाय' मे कुन्दकुन्दाचार्य ने द्रव्य की व्याख्या इस प्रकार दी है, "जो सद्भाव पर्यायो को द्रवित होता है, प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते है, और ऐसा द्रव्य सत्ता से अनन्यभूत है।[6]

अगले ही श्लोक मे उन्होने द्रव्य के तीन लक्षण बताये- जो सत् लक्षण वाला हो, जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त हो एव जो गुण पर्यायो का आश्रय हो, वही द्रव्य है।[7]

---

1 "ण हवदि जदि सद्दव्वं दव्व सयं सत्ता" प्र सा 105

2 चेतनस्य अचेतनस्य घटपर्यायवत्। तथा पूर्वभावविगमा घटोसत्तौ पिण्डाकृते" स वा 5 30 494, 95

3 सर्व वस्तूत्पादव्यय तत्सदपि न भवति" षड्दर्शन टी 57 360

4 तत्रेह विवक्षात वेदितव्य स वा 5 30 495

5 येनोत्पाद तत्सदिष्यते षड्दर्शन 57

6 दवियदि गच्छदि भूदंतु सत्तादी" प का 9

7 दव्व सल्लक्खणय भण्णति सव्वण्हू" प का 10

**द्रव्य का लक्षण-गुण पर्याययुक्त है:**—गुण और पर्याय युक्त को ही द्रव्य सज्ञा से अभिहित किया है।[1] नियम सार मे भी द्रव्य की यही व्याख्या है।[2] इसी व्याख्या से मिलती जुलती व्याख्या प्रवचन सार एव न्यायबिन्दु मे उपलब्ध होती है।[3] गुण और पर्याय के साथ सत्, जिसे द्रव्य कहते है, का तन्मयत्व है।[4]

द्रव्य गुण और पर्याय ये तीनो एक साथ पाये जाते है, इन तीनो मे सह अस्तित्व है। तीनो मे से एक भी विभक्त नही होता। द्रव्य का अभाव गुण का भी अभाव कर देगा और गुण के अभाव मे द्रव्य का भी अस्तित्व नही होगा, द्रव्य और गुण अव्यतिरिक्त है।[5] इसी प्रकार से पर्याय के अभाव मे द्रव्य नही हो सकता और द्रव्य के अभाव मे पर्याय नही, द्रव्य और पर्याय भी अनन्यभूत है।[6] जो अन्वयि है वे गुण है जो और व्यतिरेकी है, वे पर्याय है।[7]

गुण और पर्याय को और ज्यादा स्पष्ट करते हुए कहते है कि द्रव्य मे भेद करने वाले को गुण (अन्वयी) और द्रव्य के विकार को पर्याय कहते है।[8]

गुण और पर्याय को उदाहरण सहित इस प्रकार समझाया है, "ज्ञान आदि गुणो द्वारा ही जीव अजीव से भिन्न प्रतीत होता है। जीव मे घटज्ञान, पटज्ञान, क्रोध, मान आदि पाये जाते है। वे जीव द्रव्य की पर्याये है।[9]

गुण और पर्याय युक्त समूह को तो द्रव्य सभी कहते है।[10] परतु कही-कही मात्र गुणो के समुदाय को भी द्रव्य कहते है, केवल इतने से भी कोई आचार्य द्रव्य का लक्षण कहते है।[11]

**सहभावी और क्रमभावी की अपेक्षा गुण-पर्याय:**—द्रव्य मे गुण सहवर्ती एव

---

1 "गुणपर्यायवत् द्रव्यम्" त सू 5 38
2 नानागुणपर्यायै संयुक्ता नि सा 9
3 प्र सा 95, न्यायवि 1 115 428
4 जेसिं अत्थि विविहहिं" प का 10
5 दव्वेण विणा हवदि तम्हा प का 13
6 पज्जयविजुद अणण्णभूदं प का 12
7 अन्वयिनोगुणा व्यतिरेकिण पर्याया स सि 5 38 600
8 गुण इदि दव्वविहाण अजुपदसिद्ध हवे णिच्च" स सि पृ 237 पर उद्धृत
9 द्रव्यं द्रव्यातराद् येन विशिष्यते स गुण, ज्ञानादयो जीवस्य गुणा तेषा विकारा घटज्ञान, पटज्ञान, कोधो इत्येवमादये" स सि 5 38 600
10 "गुणपर्ययसमुदायो द्रव्य पुनरस्य भवति वाक्यार्थ" प ध पृ 72
11 गुण समुदायो द्रव्य लक्षणमेतावताप्युशति बुधा प ध पू 733 सहक्रम प्रवृत्तगुण पर्याय प का टी 11

पर्याय क्रमवर्ती कहलाते है।[1] सहभावी धर्म तत्व की स्थिति और क्रमभावी धर्म तत्व की गतिशीलता के सूचक होते है। पर्याय परिणमन प्रतिपल होता रहता है। जैसे चावल को पकाने के लिये बर्तन मे डाला और उसे आग पर रखा। वह आधे घटे मे पके तो यह नही समझना चाहिये कि 29 या 29 5 मिनिट मे वह ज्यो का त्यो रहा और मात्र अतिम क्षण मे पक गया।

उसमे सूक्ष्मरूप से परिवर्तन प्रथम समय मे ही प्रारभ हो गया था। अगर प्रथम क्षण से परिवर्तन प्रारभ नही होता तो दूसरे क्षण मे परिवर्तन सभव ही नही है।[1]

वादीदेव सूरि ने पर्याय एव गुण को विशेष के दो प्रकार बताये है एव सहभावी धर्म को गुण की सज्ञा दी है। ज्ञान शक्ति आदि आत्मा के गुण है,[2] जिनका कभी नाश नही होता। अगर जीव का ज्ञानादि गुण समाप्त हो सकता तो वह अजीव हो जाता और इस प्रकार, द्रव्य की इस मूल व्याख्या का ही लोप हो जाता कि "द्रव्य से द्रव्यातर" नही होता।

द्रव्य की उत्पादव्ययात्मक जो पर्यायें है, वे क्रमभावी है, जैसे- सुख, दु ख, हर्ष आदि।[3]

टीकाकार रत्नप्रभाचार्य ने गुण और पर्याय की इस भिन्नता का कारण काल को बताया है।[4]

न्यायविनिश्चय मे भी द्रव्य मे गुणो को सहभावी एव पर्याय को क्रमभावी कहा है।[5]

स्वजाति का त्याग किये विना द्रव्य मे दो प्रकार के परिणमन होते है, अनादि एव आदिमान। सुमेरु पर्वत आदि के आकार इत्यादि अनादि परिणाम है। आदिमान दो प्रकार का है, एक प्रयोगजन्य और दूसरा स्वाभाविक। स्वाभाविक को वैस्रसिक भी कहते है। कर्मो के उपशम होने के कारण जीव

---

1 यथा व्यावहारिकस्य च न स्यादिति त वा 5 22

2 "विशेपोपि द्विरूपो गुण पर्यायश्चेति, गुण सहभावी धर्मो यथात्मानि विज्ञानव्यक्तिशक्तयादिरिति" प्रमाण न 5 6 7

3 पर्यायस्तु क्रमभावी यथा तत्रैव सुखदु खादिरिति" प्रमाण न 5 8

4 स्याद्वाद म 5 8 736

5 गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ते सहक्रमप्रवृत्तय" न्यायवि भू 1 115 428

आदि जो भाव है, जिनमे पुरुषप्रयत्न की आवश्यकता नही है, वे वैस्रसिक मे औपशमिक है और जो ज्ञान, शील आदि गुरु के निमित्त से होते है, वे प्रयोगज है। कुम्हार के द्वारा अचेतन मिट्टी को घट आदि का आकार देना प्रयोगज है। इन्द्रधनुष, बादल आदि स्वाभाविक है।[1]

इन्हे क्रमश स्वभाव पर्याय एव विभाव पर्याय भी कहते है। अन्य के सहयोग के अभाव मे होने वाले परिणमन को स्वभाव पर्याय एव निमित्त से होने वाले परिणमन को विभाव पर्याय कहा जाता है। जीव की स्वभाव पर्यायें अनन्तज्ञान आदि है। इसी प्रकार पुद्गल की स्वभाव पर्यायें रूप आदि है।

स्वभावपर्याय सभी द्रव्यो मे पायी जाती है, परतु विभावपर्याय मात्र जीव और पुद्गल मे ही पायी जाती है। जीव की विभावपर्यायें नारकदेव आदि एव पुद्गल की विभाव पर्यायें स्कधरूप (स्थूल रूप) आदि है।[2]

जिस प्रकार द्रव्य मे पर्याय अनिवार्य है, उसी प्रकार गुण भी उतने ही आवश्यक है। "द्रव्य रूप से तो द्रव्य सभी एक (समान) ही है। परतु गुण भेद के कारण ही द्रव्यभेद है।[3] पर्याय तो विनाशशील है, परतु गुण ध्रुव है। जैसे अगूठी, हार आदि बनने पर स्वर्ण मे आकृति परिवर्तन तो हो गया, परतु स्वर्ण का पीतगुण स्थायी ही रहा। इसे सदृश परिणमन भी कहते है।[4]

"अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व अगुरुलघुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, प्रदेशत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व, इस प्रकार से ये दस सामान्य गुण है। प्रत्येक द्रव्य मे आठ सामान्य गुण पाये जाते है, जैसे जीव मे मूर्तत्व और अचेतनत्व का अभाव है और पुद्गल मे अमूर्तत्व एव चेतनत्व का अभाव है।[5]

ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, गध, वर्ण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहन हेतुत्व, वर्तनहेतुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व और मूर्तत्व, अमूर्तत्व ये सोलह द्रव्यो के विशेष गुण है। अत के चार गुणो को स्वजाति की अपेक्षा सामान्य और विजाति की अपेक्षा विशेष गुण कहा जाता है।[6]

1 द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन परिणामो वैस्रसिक त वा 5 22
2 य सर्वेषा द्रव्याणा जीवपुद्गलादीना उत्पादयतीति का प्रे टी 216
3 सव्वाण दव्वाण भिण्णाणि का प्रे 10 236
4 सरिसो जो गुणो सोहि का प्रे 10 241
5 का प्रे टी 241
6 का प्रे टीका 10 241

जो गुण सभी द्रव्यो मे पाया जाये वह सामान्य और जो अमुक द्रव्य मे ही पाया जाये वह विशेष गुण है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे शुभचद्र ने छ सामान्य गुणो की व्याख्या इस प्रकार की है- जिससे द्रव्य का नाश न हो वह अस्तित्व, जिससे अर्थक्रिया हो वह वस्तुत्व, जिससे सदा परिणमन हो वह द्रव्यत्व, जिससे द्रव्य किसी न किसी के ज्ञान का विषय हो वह प्रमेयत्व, जिससे द्रव्यातर एव गुणातर न हो वह अगुरुलघुत्व, जिससे द्रव्य का कोई न कोई आकार बना रहे वह प्रदेशित्व गुण है।[1]

गुण की व्याख्या करते हुए उमास्वाति ने कहा कि "गुण द्रव्य के आश्रित और स्वय निर्गुण होते है।"[2]

प्रवचनसार की टीका मे अमृतचद्राचार्य ने गुण को सामान्य-विशेषात्मक कहा है। उन्होने अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायित्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि को सामान्य, एव गतिनिमित्तता, स्थितिकारणत्व, अवगाहनत्व, वर्तनाय तनुत्व, रूपादिमत्व एव चेतनत्व को विशेष गुण कहा है।[3]

**वस्तु अनतधर्मात्मक है.**–सहभावी गुण और क्रमभावी पर्याय होते है। प्रत्येक वस्तु अनतधर्मात्मक होती है।[4] सभी वस्तुओ मे अगर हम पदार्थ मे अनतधर्मो को स्वीकार नही करते तो वस्तु की सिद्धि नही होती, अत वस्तु अनतधर्मात्मक ही माननी चाहिए।[5]

एक अन्य अपेक्षा से पर्याय के दो प्रकार है- अर्थपर्याय एव व्यजनपर्याय। भेदो की परपरा मे जितना सदृश परिणामप्रवाह किसी भी एक शब्द के लिए वाच्य बन कर प्रयुक्त होता है वह प्रवाह व्यजनपर्याय कहलाता है। और उस परपरा मे जो भेद अतिम और अविभाज्य है वह अर्थपर्याय कहलाता है। जैसे चेतन पदार्थ का सामान्य रूप जीवत्व है। काल कर्म आदि के कारण

---

1 वही

2 द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा त सू 5 41

3 प्र सा ता प्र पृ 95

4 अनतकालस्त्रिकालविपयत्वाद तदनतधर्मात्मकम्" स्याद्वाद0 22 200

5 अनतधर्मात्मकमेव सत्वमसूपपादम् अन्ययो 22

उसमे उपाधिकृत ससारित्व, मनुष्यत्व, पुरुपत्व, बालत्व आदि अनत भेदोवाली अनेक परपराएँ है। उन परम्पराओ मे निरतर पुरुप रूप समान प्रतीति का विषय और एक 'पुरुष' शब्द का प्रतिपाद्य जो सदृश पर्याय प्रवाह है वह तो व्यजन पर्याय और पुरुषरूप मे सदृश प्रवाह के अतर्गत दूसरे बाल, युवा आदि जो भेद है, वे अर्थपर्याय है।[1]

जन्म से मृत्यु पर्यंत पुरुप के लिए जो 'पुरुष' सबोधन दिया जाता है, वह व्यजन पर्याय का उदाहरण है। उस पुरुष के बाल युवा आदि अश अर्थपर्याय के उदाहरण है।[2] यहाँ अश का अर्थ पर्याय है।

व्यजन पर्याय की अपेक्षा से देखने वाले को 'पुरुष' निर्विकल्प या अभिन्न रूप मे दिखता है, और बचपन आदि विकल्प युक्त देखने पर वही (पुरुष)अर्थपर्याय के रूप मे भिन्न-भिन्न (बाल, युवा आदि) दिखता है।[3]

व्यजनपर्याय और अर्थपर्याय का अल्प विवेचन शुभचद ने भी किया है। उनके अनुसार धर्म, अधर्म, आकाश और काल मे अर्थपर्याय एव जीव और पुद्गल मे अर्थ और व्यजन दोनो प्रकार की पर्याये उपलब्ध होती है।[4]

जैन दर्शन का यह उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त 'सत्' सिद्धात 'परिणामी नित्यत्ववाद' कहलाता है। इस सिद्धात की तुलना 'रासायनिक विज्ञान' के 'द्रव्याक्षरत्ववाद' से की जा सकती है। इस सिद्धात की स्थापना Lawoisier नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने थी। इसके अनुसार विश्व मे द्रव्य का परिणमन सदा होता है, परतु न्यूनाधिकता नही होती। साधारण दृष्टि से जिसे द्रव्य का नाश समझा जाता है वह उसका रूपातर मे परिणमन मात्र है, जैसे- कोयला जल कर राख हो जाता है, साधारण रूप से इसे नाश होना कहते है, परतु वास्तव मे तो वह वायुमडल ऑक्सीजन अश के साथ मिलकर कार्बानिक एसिड गैस के रूप मे परिवर्तित हो गया है।

इसी प्रकार शक्कर या नमक भी पानी मे घुलकर नष्ट नही होते, परतु वे ठोस से द्रव मे रूपातरित हो जाते है। वस्तुत नवीन वस्तु की उत्पत्ति

1 सन्मतितर्क 1 30 पर प सुखलालजी एव बेचरदास जी का विवेचन
2 पुरिसमि पुरिससद्दो बहुवियप्पा स त 1 32
3 वजणपज्जायस्स अत्थपज्जाओ स त 1 34
4 ना प्रे टीका 10 220

नहीं होती मात्र रूपांतर होता है।

प्रकाश, तापमान, चुम्बकीय आकर्षण आदि का ह्रास नही होता, वे तो एक दूसरे मे मात्र परिवर्तित होते हैं।[1]

क्षण-क्षण मे परिवर्तनशील पदार्थ यदि समाप्त होते तो आज सृष्टि का यह स्वरूप नही होता। परिवर्तन के अभाव मे मात्र उत्पाद से सृष्टि का यह स्वरूप संभव नहीं था।[2]

'सन्मति तर्क' मे इस उत्पाद-व्ययरूप परिणमन को प्रयत्नजन्य और अप्रयत्नजन्य दो प्रकार का कहा है। प्रयत्नजन्य वह है जो कि अपरिशुद्ध है। इसे समुदायवाद भी कहा जाता है।[3]

परिणमन अस्तित्व का ही स्वभाव है। 'सद्' का यह लक्षण ईश्वरवादियो की मान्यता का प्रतिरोध करता है। ईश्वरवादियो के अनुसार परिणमन ईश्वर द्वारा प्रेरित है। कहा भी है- ईश्वर से प्रेरित जीव ही स्वर्ग की ओर प्रस्थान करता है। ईश्वर के सहयोग बिना जीव सुख-दुःख को भी नही प्राप्त कर सकता।[4] प्राणी के प्रयत्नो द्वारा होने वाले परिवर्तन को प्रयत्नजन्य और अन्य किसी द्रव्य के सहयोग बिना के प्रयत्न होने वाले को अप्रयत्नजन्य कहते है। वैशेषिक मात्र प्रयत्नजन्य परिणाम ही स्वीकार करते है।[5]

यह प्रयत्नजन्य और अप्रयत्नजन्य परिणमन सामुदायिक और वैयक्तिक, दो प्रकार का है। दूध मे शक्कर मिलाने से दूध मे होने वाली मधुरता की उत्पत्ति सामुदायिक प्रयत्नजन्य उत्पाद है।

अलग-अलग रहने वाले अवयवो को मिलाकर या जुडे हुए अवयवो को अलग कर जो उत्पाद और विनाश किया जाता है, वह सामुदायिक उत्पाद एव विनाश है, और एक ही द्रव्य के आश्रित न होने के कारण यह अपरिशुद्ध परिणमन है।

सामुदायिक उत्पाद और विनाश, स्कध सापेक्ष होने के कारण और स्कध

1 मुनि नथमलजी - जैन धर्म और दर्शन पृ 330

2 उत्पादध्रुवविनाशै दृश्यते द्रव्यानु त 9 2

3 उप्पाओ दुवियाओ- अपरिसुद्धा स त 3 32

4 ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्ग वा श्वभ्रमेव वा। अन्योजतुरनीशोयमात्मन सुखदु खयो, महाभारत वनपर्व 30 28

3 क्षित्यादयो बुद्धिमत्कृर्तका कार्यत्वाद् घटवदिति। उद्धृतोयम् स्याद्वम पृष्ठ 32

**द्रव्य त्रैकालिक है.**– अपने परिणामी स्वभाव के कारण द्रव्यों मे प्रतिक्षण परिणमन होना अवश्यम्भावी है, वे किसी भी क्षण परिणमन शून्य नही रह सकते। परिणमन करने पर भी वे अपनी सीमा का उल्लघन नही करते। वे तद्भाव परिणमन करते है।[1] अनादि काल के इस परिणमन प्रवाह मे द्रव्य जितने थे, उतने ही है, न घटे है और न बढे है।

जीव द्रव्य अथवा अन्य कोई भी द्रव्य न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है, मात्र पर्याय परिणमन होता है।[2] इससे यह स्पष्ट अवबोध होता है कि द्रव्य की सत्ता त्रैकालिक है।

द्रव्य मे अतीत मे अनत पर्याय हो चुकी है। भविष्य मे भी अनत पर्याये होगी, मात्र वर्तमान की अपेक्षा पर्याय एक है।[3] पर्यायवाला ही द्रव्य होता है। इस प्रकार से, सूत्रकार के स्पष्टीकरण से तीनो कालो मे द्रव्य का अस्तित्व निर्विवाद है।[4]

तीनो कालो को विषय करने वाले नयो और उपनयो के विषयभूत अनेक धर्मों के तादात्म्य सबध को प्राप्त समुदाय का नाम द्रव्य है। वह द्रव्य एक (सामान्य की अपेक्षा) भी है और अनेक (विशेष की अपेक्षा) भी।[5]

पर्याय द्रव्य मे ही होती है। अत जब पर्यायो का त्रैकालिक अस्तित्व है, तो उसका आश्रयदाता द्रव्य तो स्वत त्रैकालिक हो जाता है।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी अन्ययोग व्य मे सत् का लक्षण प्रतिपादित करते हुए कहा है कि प्रत्येक क्षण मे उत्पन्न और नाश होने वाले पदार्थों की स्थिति देखकर भी जो द्रव्य के उत्पाद और विनाश को नही मानते, इसमे उनकी कलुषित मानसिकता ही कारण हो सकती है।[6]

उत्पाद और विनाश दोनो का अधिकरण त्रैकालिक ध्रुव द्रव्य ही है, जैसे चैत्र और मैत्र दोनो भाइयो का अधिकरण एक माता है।[7]

---

1 तद्भाव परिणाम त सू 5 42

2 मणुसत्तणेण- प का 17 18 19

3 का प्रे 10 221 एय दवियम्मि- हवइ दव्व ध 1 1 136 199 क पा 1 1 14 108

4 पर्ययवद् द्रव्यमिति- द्रव्यमुक्तम् लो वा 2 1 5 63 269

5 नयोपनय- द्रव्यमेकमनेकधा आ मी 10 107

6 प्रतिक्षणोत्पाद--पिशाचकी वा अन्ययो 21

7 स्थिरमुत्पादविनाशयौ यथा चैत्रमैत्रयोरेका जननी स्यान् वही 21 197

आत्मा शब्द से अनत पर्यायो मे रहने वाले अनत धर्मात्मिक नित्य द्रव्य का सूचन होता है।[1]

आत्मसाधक श्रीमद् राजचद्र के शब्दो मे द्रव्य की नित्यता इस प्रकार स्पष्ट हुई है- "सपूर्ण रूप से द्रव्य का नाश तो होता ही नही, अगर द्रव्य का ही नाश हो जायेगा तो हे साधक! तू खोज कि वह किसमे मिश्रित होगा, अर्थात् तुझे समझ मे आ ही जायेगा क्योकि चेतन चेतनानतर नही होता।"[2]

"बचपन, युवा एव प्रौढ अवस्था मे एक ही आत्मा द्रव्य है मात्र अवस्थागत परिवर्तन से आत्मा नही बदलता, वैसे ही पर्याय परिणमन तो होता है पर द्रव्य नित्य (अनाशवान) ही है।"[3]

द्रव्य के त्रैकालिक होने मे कारण है, क्योकि जिसका उत्पाद होता है विनाश भी उसी का होता है। द्रव्य तो न किसी का उत्पाद है और न उसका व्यय होता है।[4] वही जन्मता और वही मरता है अर्थात मात्र उसमे पर्याय परिणमन होता है, सर्वथा नाश नही। इस प्रकार का एकत्व तभी सभव है जब कोई उत्पत्ति और व्यय होते हुए भी ध्रुव हो।[5]

उत्पत्ति और विनाश मे नित्य रहने वाला एकत्व भी दो प्रकार का है, मुख्य और उपचरित। आत्मा आदि मे तो मुख्य एकत्व होता है जैसे जो आत्मा नरक मे थी वही अब मनुष्य है, जो आत्मा बचपन मे थी वही जवानी और बुढापे मे है इत्यादि मे मुख्य एकत्व ज्ञान है और सादृश्य युक्त वस्तु मे उपचरित एकत्व होता है, जैसे काटने के बाद पुन उत्पन्न हुए नख और केश।[6]

**परिणमन अस्तित्व की अनिवार्यता है.-** परिणमन करना अस्तित्व का स्वभाव है। जिसमे प्रतिक्षण परिणमन की क्षमता नही होती वह अपनी सत्ता स्थायी नही रख सकता। यह अस्तित्व गत परिणमनशीलता आरोपित नही है। द्रव्य का स्वय का स्वभाव है कि वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त हो।[7] स्वभाव मे स्थिति

1 अत्र चात्मशब्देनानतेष्वपि--द्रव्य ध्वनितम् स्याद्वाद 22 203
2 क्यारे कोई वेमा भले तपास आत्मसिद्धि 70
3 आत्मा द्रव्ये नित्य एकने थाय आ सि 68
4 आ सि 66
5 सो चेव जादि-पज्जाओ प का 18
6 द्विविध (ह्येवत्व मुख्यमुपचरित-सादृश्ये तदुपचरितमिति अष्टम 161
7 प्र सा 95 96

का नाम ही सत् है और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त होना यह पदार्थ का स्वभाव है।[1]

सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिणमन के प्रवाह से गुजरते है। जो स्थिति प्रथम समय मे थी वह दूसरे समय मे नही होगी, परतु परिणमन के कारण सर्वथा नवीनता भी नही आती।[2]

पर्याय दृष्टि से वस्तु की उत्पत्ति और विनाश देखे जाते है, क्योकि पर्यायो का परिणमन निर्बाध रूप से हमारे अनुभव मे आता है।[3]

उत्पादित को परस्पर निरपेक्ष ही मान लिया जाये तो उनकी कल्पना आकाशकुसुम की तरह थोथी होगी। अत उत्पाद-व्यय रूप परिणमन सापेक्ष है। इस परिणमन का कोई अपवाद नही है, क्योकि परिणमन के कारण ही पुण्य, पाप, परलोक गमन, सुखादिफल, वध और मुक्ति सभव है।[4]

"जीव द्रव्य मनुष्य रूप से नष्ट हुआ और देव के रूप मे पैदा हुआ"[5], यही परिणमन है। अगर परिणमन स्वभाव नही हो, तो क्या सृष्टि मे परिवर्तन नजर आता? सृष्टि के परिवर्तन का कारण ही सत् का उत्पाद-व्यय रूप परिणमन है जिसे शास्त्रीय भाषा मे अर्थक्रिया भी कहते है।

पर्याय परिणमन के कारण ही ऊर्जा मे वृद्धि एव हानि होती है।

सभी पदार्थों मे नाना प्रकार की शक्ति है, और वे पदार्थ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार परिणमन करते है और उनकी इस परिणमन की क्रिया से कोई बाधक नही वन सकता। जिस प्रकार भव्यत्व शक्ति से युक्त जीव काल लब्धि को प्राप्तकर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है उसमे कोई बाधक नही वन सकता।[6]

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइस्टीन के पहले यह माना जाता था कि द्रव्य को शक्ति रूप मे और शक्ति को द्रव्य रूप मे नही वदला जा सकता, परतु आइस्टीन ने इस धारणा को खडित कर दिया। यह माना जाने लगा कि

---

1 प्र सा 99

2 सर्वव्यक्तिषु नियत व्यवस्थानात् उद्धृतेयम्, अनेकातवाद प्र पृ 51

3 द्रव्यात्मना सर्वस्य वस्तुन-पर्यायानुद्सभावात्, षड् समु टी 57 357

4 उत्पाद केवली प्रतिपत्तव्यौ अष्टस पृ 211 पुण्यपाप न तैषा आ मी 3 40

5 मणुसत्तणेण-इदरो वा प का 17

6 "कामाइ लद्धि जुत्ता-हवे काली" का प्रे 10 219

द्रव्य और शक्ति भिन्न-भिन्न नही है, एक ही वस्तु के रूपातरण है। एक पौड कोयले से शक्ति के रूप मे दो किलोवाट की विद्युत शक्ति को प्राप्त किया जा सकता है।

चूकि वैज्ञानिक परीक्षण पुद्गल तक ही सीमित है, अत पुद्गल की शक्ति को मापा जाता है, परतु द्रव्य चाहे पुद्गल हो या जीव, सभी अनत शक्ति सपन्न है और इसी कारण उसका त्रैकालिक अस्तित्व है।

परिणमन का अर्थ है अवस्थातर होना। कोई व्यक्ति एक स्थान से प्रयाण कर अन्य स्थान पर पहुँचा। स्थान का परिवर्तन तो हुआ, परतु व्यक्ति मे परिवर्तन नही हुआ। द्रव्य का परिणमन भी ऐसा ही है। सर्वथा उत्पाद या विनाश न होकर मात्र अवस्था का परिवर्तन है।[1]

कूटस्थ नित्यवादियो की मान्यता है कि पदार्थ सर्वथा नित्य होते है, क्योकि वे सत् है "सर्व नित्य सत्वात्"। उनके अनुसार क्षणिक पदार्थो मे अर्थक्रिया नही हो सकती, क्योकि क्षणिक पदार्थ एक क्षण के बाद दूसरे क्षण मे स्थिर नही रहते। जबकि बौद्धो की मान्यता है कि "सपूर्ण पदार्थ क्षणिक है क्योकि वे सत् है-"सर्व क्षणिक सत्वात्।" नित्य पक्ष मे अर्थक्रिया सभव नही है। अर्थक्रिया के लिये पूर्व स्वभाव का विनाश और उत्तरकालीन स्वभाव का पदार्थ के प्रयोजन भूत कार्य को धारण करना आवश्यक है जो कि नित्य तत्व मे सभव नही है।[2]

जैन दर्शन इन दोनो मान्यताओ का खडन करता है। उसके अनुसार "जो दोप नित्य एकातवाद मे है, वही दोष सर्वथा क्षणिकवाद मे है।"[3]

सर्वथा नित्य एकातवाद मे सुख, दु ख, पुण्य, पाप, वध और मोक्ष की व्यवस्था नही वन सकती।[4]

अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर और एक रूप को नित्य कहते है। यदि आत्मा अपनी कारणसामग्री से सुख को छोडकर दु ख का उपभोग करने लगे तो अपने नित्य और एक स्वभाव के त्याग के कारण आत्मा को अनित्य मानना

---

1 -परिणामस्तद्विदामिष्ट उद्धृतेयम् स्याद्वाद 239

2 स्याद्वादम 26 233 34

3 अन्ययोगव्य 26

4 नैकातवादे सुखदु खभोगे वधमोक्षौ" अन्ययो 27

पडेगा।[1] अत एकातवाद मे अर्थक्रिया सभव ही नही है। इसी प्रकार क्षणिकवाद मे भी अर्थ क्रिया सभव नही, क्योकि वहाँ हिसा का सकल्प करने वाला अलग है, हिसा करने वाला कोई दूसरा है और हिसा का परिणाम भोगने वाला कोई तीसरा ही है।[2]

हम हिंसक किसे कहे? क्योकि क्षणिकवाद के अनुसार हिंसा करने वाला हिंसक नही हो सकता। उसका अस्तित्व तो दूसरे क्षण ही विलीन हो जाता है। इस प्रकार पदार्थों का निरन्वय विनाश मानने से एक को कर्ता और दूसरे को भोक्ता मानना पडेगा। इसका समाधान क्षणिकवादियो ने इस प्रकार किया है- "जिस प्रकार कपास के बीज मे लाल रग लगाने से बीज का रग भी लाल हो जाता है उसी प्रकार अवस्था सतान मे कर्मवासना का फल मिलता है।"[3]

परतु जैन दर्शन इस मान्यता का खडन करता है। एक क्षणवर्ती वस्तु को दूसरे क्षण से जोडने वाला कोई सबध नही है। दोनो क्षणो को परस्पर जोडने वाले के अभाव मे दोनो का सवध सभव नही है। दोनो को जोडने वाली कडी चाहिये। जैन दर्शन मे बौद्धो जैसा उत्पाद और विनाश भी है और साथ ही दोनो को जोडने वाली कडी जो ध्रुव कहलाती है, भी विद्यमान है।

जैन दर्शन के 'ध्रुव' की कूटस्थ नित्य ब्रह्मवादियो के नित्य से एव बौद्धो के अनित्य से समानता है, परतु यह समानता कथचित् ही है सर्वथा नही, क्योकि जैन दर्शन पदार्थ को कथचित् नित्य एव कथचित् अनित्य मानता है। जैन दर्शन के अनुसार दीपक से लेकर आकाश तक के सारे पदार्थ नित्यानित्य स्वभाव युक्त है।[4]

वैशेषिक कुछ पदार्थो को नित्य और कुछ पदार्थों को अनित्य मानते है। अत वे अर्ध बौद्ध भी कहे जाते है। शकराचार्य ने अर्धबौद्ध कहकर सबोधित किया है।[5]

**ऊर्ध्वता एव तिर्यगश की अपेक्षा द्रव्य.**–अभेद दृष्टिकोण को सामान्य एव

---

1 स्याद्वाद 27 236

2 हिनस्त्यनभिसधातृ-चित्त बद्ध न मुच्यते" आ मी 3 51

3 यस्मिन्नेव हि सन्ताने-रक्तता यथा। उदधृतेयम् स्याद्वाद 27 238

4 अन्ययोगव्य 5

5 प्रो ए बी ध्रुव स्याद्वादमजरी पृ 54

भेदग्राही दृष्टिकोण को विशेष कहते है, इन्हे नय की भाषा मे क्रमश द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक कहते है। जगत के सभी पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक होते है। सामान्य को अनुवृत्त एव विशेष को व्यावृत्त भी कहते है। प्रत्येक वस्तु मे सत् आदि रूप की समानता होने से अनुवृत्ति एव विसदृशता होने के कारण व्यावृत्ति रूप ज्ञान का हेतु पाया जाता है।

पूर्व पर्याय का व्यय और नवीन पर्याय का उत्पाद, इन दोनो अवस्थाओ मे द्रव्यत्व की स्थिति अविच्छिन्न रूप से रहने से इसे नित्य परिणामी कहते है, और इस स्वभाव मे ही अर्थक्रिया सभव है।[1]

सामान्य के दो भेद है- तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य। समान परिणाम को तिर्यक् सामान्य एव पूर्व व उत्तर पर्याय मे रहने वाले को ऊर्ध्वता सामान्य कहते है।[2]

ऊर्ध्वता सामान्य अपनी कालक्रम से होने वाली क्रमिक पर्यायो मे ऊपर से नीचे तक व्याप्त रहता है, साथ ही सहभावी गुणो को भी व्याप्त करता है। तिर्यक् सामान्य तिरछा चलता है। अनेक स्वतत्रसत्ताक मनुष्यो मे सादृश्यमूलक जाति की अपेक्षा मनुष्यत्व की सामान्य कल्पना तिर्यक् सामान्य कहलाती है।[3]

प्रवचनसार की टीका मे भी लगभग इसी से मिलती-जुलती व्याख्या है। वस्तु ऊर्ध्वतासामान्यरूप द्रव्य मे, सहभावी विशेष स्वरूप गुणो मे एव क्रमभावी-विशेष स्वरूप पर्यायो मे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय है।[4]

जितने भी पदार्थ इस सृष्टि मे है, वे सब सामान्य समुदायात्मक (गुणसमुदायात्मक) और आयातसामान्य समुदायात्मक (पर्ययसमुदायात्मक) द्रव्य से रचित होने के कारण द्रव्यमय है।[5]

**उत्पादादि भिन्न भी अभिन्न भी.**–द्रव्य को हम त्रिलक्षणयुक्त सिद्ध कर आये

1 अनुवृत्तव्यावृतप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्ति-स्थिति-लक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपतेश्च अष्टस पृ 162

2 सदृशपरिणामस्तिर्यक्खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् एव परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्यासादिषु अष्टस पृ 164

3 पं महेन्द्रकुमारजी जैन दर्शन पृ 481

4 वस्तु पुनरुर्ध्वतासामान्यलक्षणे निवर्तितनिवृत्तिमच्च प्र सा त प्र 10

5 इह खलु य कश्चन परिच्छिद्यमान निर्वृत्तत्वाद्द्रव्यमय प्र मा प्र 93

है। यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि द्रव्य के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर भिन्न है या अभिन्न? दार्शनिको ने इस प्रश्न की गभीरता को समझा और अपनी पैनी प्रतिभा से इस प्रश्न को निम्न प्रकार से समाहित किया।

जैन दार्शनिक स्याद्वाद की नीव पर ही समस्त जिज्ञासाओ का समाधान खोजते है। उनके दृष्टिकोण मे एकातवाद मिथ्या है। अत उन्होने वस्तु के स्वरूप को भी कथचित् भिन्न एव कथचित् अभिन्न कहा है। सत् को त्रिलक्षणात्मक कहा। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि इनमे परस्पर भिन्नता है। परतु ये एक वस्तु के उत्पाद-व्यय को दूसरी वस्तु मे लेकर नही जा सकते, अत अभिन्नता है। जैसे रूप, रस आदि के लक्षण अलग है, अत इनमे भेद है, परतु ये परस्पर मे सापेक्ष है, अत अभिन्न भी है।[1]

न तो उत्पाद स्वतत्र है और न पदार्थ। इस प्रकार एक ही द्रव्य मे भेद और अभेद, दोनो पाये जाते है। जो गुण है वह उत्पाद नही, जो उत्पाद है वह पर्याय नही, इन तीनो का सयुक्त स्वरूप ही अस्तित्व का सूचक है और प्रमाण का विषय होने से भेद, अभेद दोनो ही वास्तविक है, काल्पनिक नही। गौण और प्रधान की अपेक्षा से भेद और अभेद दोनो अविरोधी है।[2]

प्रख्यात दार्शनिक सत श्री कुदकुदाचार्य ने प्रवचन सार मे "उत्पाद के अभाव मे व्यय नही होता और व्यय के अभाव मे उत्पाद नही होता है। उत्पाद और व्यय, दोनो ही ध्रौव्य के ही आश्रित है" कहकर भिन्नता और अभिन्नता स्वीकार की है।[3]

आगे इसी को और स्पष्ट करते हुए कहते है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायो मे और पर्याये नियम से द्रव्याश्रित होती है।[4]

द्रव्य स्वय ही गुणातर रूप से परिणमित होता है। द्रव्य की सत्ता गुण-पर्यायो की सत्ता के साथ अभिन्न है, अत गुणपर्याय ही द्रव्य है।[5] टीकाकार अमृतचद्राचार्य ने इसे वृक्ष के उदाहरण द्वारा और अधिक स्पष्ट किया है।

---

1 ननूत्पादादय परस्पर भिद्यते-अन्योन्यापेक्षाणामुत्पादादीना वस्तूनि सत्व प्रतिपत्तुत्तव्य पड्द समु टी 57 258

2 प्रमाणगोचरौ सतौ-गुणमुख्यविवक्षया आ मी 2 36

3 ण भदि भगविहीणो धोव्वेण अत्थेण प्र सा 100

4 उप्पादट्ठिदिभगा-दव्व हवदि सव्व प्र सा 101

5 परिणमदि सय दव्व दव्वमेवत्ति प्र सा 10 4 एव गुणपर्यय वत् द्रव्यम् त मू 5 37

"जिस प्रकार अशीवृक्ष के बीज, अकुर, वृक्षत्व स्वरूप तीन अश एक साथ दिखायी देते है, वैसे ही द्रव्य के व्यय, उत्पाद और ध्रौव्य स्वरूप निजधर्मो के द्वारा अवलबित एक साथ ही प्रतीत होते है। अगर द्रव्य को उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप से भिन्न माना जाये तो सर्वत्र विप्लव हो जायेगा।

यदि द्रव्य का व्यय ही माने तो सारा ससार शून्य हो जायेगा। अगर द्रव्य का उत्पाद ही माने, तो द्रव्य मे अनतता आ जायेगी। अगर द्रव्य को ध्रौव्य ही माने तो भावो का अभाव होने से क्रमश द्रव्य का अभाव हो जायेगा।[1]

जो गुण है वे द्रव्य नही है और जो द्रव्य है वे गुण नही है।[2] अत द्रव्य और गुण भिन्न है। उत्पाद व्यय रूप भेद पदार्थों का धर्म है, वह धर्म पदार्थों से कथचित् भिन्न है कथचित् अभिन्न है। धर्म और धर्मी मे सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद नही पाया जाता।[3]

एक ही व्यक्ति मे सबधो की भिन्नता पायी जाती है, जैसे एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, भानजा, और भाई आदि सबधो से ज्ञापित होता है। सबधो की भिन्नता ने व्यक्ति को भिन्न-भिन्न नही बनाया, उसी प्रकार इन्द्रियग्राह्य रूप, रस आदि पर्यायो मे द्रव्य का एकत्व अवगत होता है।[4] वैशेषिक द्रव्य और गुण को भिन्न पदार्थों के रूप मे मान्यता देते है। भिन्न मान्यता मे किन दोषो के आगमन का द्वार खुलता है, जैन दार्शनिक इसे स्पष्ट करते है।

यदि द्रव्य का लक्षण स्थिति और गुण का लक्षण उत्पत्ति का विनाश मान ले तो ये लक्षण क्रमश द्रव्य एव गुण मे ही घटित होगे न कि सपूर्ण सत् मे। द्रव्य से भिन्न गुण या तो मूर्त होगे या अमूर्त। अगर गुणो को इन्द्रियग्राह्य और मूर्त मानेगे तो परमाणु नही रहेगे, क्योकि परमाणु अतीन्द्रिय होते है। अगर अमूर्त होंगे तो इन्द्रियग्राह्य नही रहेगे।[5]

यहाँ यह शका स्वाभाविक है कि जब उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनो परस्पर भिन्न है तो इन्हे त्रयात्मक रूप वस्तु नही कहा जा सकता और अभिन्न

1 यथा किलाशिन पादपस्य बीजाङ्कुरपादपत्व द्रव्यस्याभाव प्र सा त प्र पृ 101।
2 यद्दव्य भवति न तद्गुणा भवन्ति न द्रव्य भवतीति प्र सा त प्र पृ 130
3. भेदो हि पदार्थाना धर्म भिन्नोभिन्नश्च स्याद्वादरत्ना 1 16 203
4 पिउपुत्तणतुभव्वय विसेसणं लहइ स त 3 17 18
5 दव्वस्स ठिई जम्म अमुत्तेसु अग्गहण स त 3 23 24

है तो इन्हे तीन रूप न मानकर एक रूप मानना चाहिए।[1]

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, इन तीनो की प्रतीति भिन्न-भिन्न होती है। इसे समतभद्र ने इस प्रकार समझाया है–स्वर्ण घट का इच्छुक मानव स्वर्ण से मुकुट बनते समय दु खी होता है और मुकुट का इच्छुक प्रसन्न, परतु स्वर्णप्रिय तो दोनो ही स्थिति मे तटस्थ रहता है।[2] दही नही खाने का सकल्प करने वाला दूध लेगा और जिसने दूध नही लेने का सकल्प लिया है वह दही लेगा, परतु जिसने गोरस नही खाने का सकल्प लिया है वह न दूध लेगा और न दही।[3]

द्रव्य और पर्याय मे कथचित् अभेद है, क्योकि उन दोनो मे अव्यतिरेक पाया जाता है। द्रव्य और पर्याय कथचित् भिन्न भी है, क्योकि द्रव्य और पर्यायो मे परिणाम का भेद है। द्रव्य मे अनादि और अनत रूप से परिणमन का प्रवाह है जबकि पर्यायो का परिणमन सादि और सात है। द्रव्य शक्तिमान् है। पर्याय शक्तिरूप एक की द्रव्य सज्ञा है दूसरे की पर्याय सज्ञा। द्रव्य एक है, पर्याये अनेक। द्रव्य का लक्षण अलग है, पर्याय का लक्षण अलग है। प्रयोजन भी दोनो के भिन्न है, क्योकि द्रव्य अन्वयज्ञानादि कराता है जबकि पर्याय व्यतिरेक ज्ञान कराता है। द्रव्य त्रिकालगोचर है जबकि पर्याय वर्तमानगोचर। इन नाना कारणो और लक्षणो से द्रव्य की भिन्नता भी है और अभिन्नता भी।[4] द्रव्य गुण नही है और गुण द्रव्य नही।[5]

**द्रव्य मे ऐकातिक प्रतिपादन के दूषण.**–प्रख्यात दार्शनिक एव तार्किक आचार्य समतभद्र एकातवाद मे आने वाले दूषणो का आप्तमीमासा मे विशद विश्लेषण करते है।

वौद्ध दर्शन की शाखा शून्यवाद के अनुसार एक मात्र अभाव ही प्रमाण है। उनके अनुसार अभाव ही सत्य है, भाव तो स्वप्नज्ञान की तरह मिथ्या है। स्वप्न का ज्ञान अनेको की अपेक्षा स्वप्नदर्शी को ही होता है और वह स्वप्न तक ही सीमित होता है। जगत का ज्ञान अनेको को होता है, अधिक

---

1 यद्युत्पादादयो कथमेक त्रयात्मकम् स्याद्वादम मे उद्धृत 21 199

2 घटमौलीसुवर्णार्थी सहेतुकम् आ मी 3 56

3 पयोव्रती न दध्यति त्रयात्मकम् 3 60

4 द्रव्यपर्याययोरेक्य नानात्व न सर्वथा आ मी 4 71 72

5 प्र सा 108

स्थायी होता है, पर है दोनो मिथ्या।

जैन दर्शन के अनुसार, भाव की सत्ता नही मानने वाले मत मे इष्ट तत्व की सिद्धि नही होती है। न तो वहाँ बोध प्रमाण है न ही वाक्य। प्रमाण के अभाव मे स्वमत की सिद्धि और परमत का खण्डन सभव नही है।[1]

मीमासक सर्वथा भावाभावात्मक रूप वस्तु को मानते है, परतु यह भी युक्तियुक्त नही है, क्योकि यदि भाव और अभाव दोनो एकरूप है, तो या तो भाव रहेगा या अभाव।

साख्य के मत मे व्यक्त और अव्यक्त दोनो का तादात्म्य है। महत् आदि का प्रकृति मे तिरोभाव हो जाता है फिर भी इनका सद्भाव बना रहता है। व्यक्त और अव्यक्त सर्वथा एकरूप है तो दोनो मे एक ही शेष रहेगा।

बौद्ध तत्व को सर्वथा अवाच्य बताते है, परतु अवाच्य कहने वाला अवाच्य का प्रयोक्ता नही हो सकता।[2] "स्याद्वादविरोधी मतो मे भाव और अभाव का निरपेक्ष अस्तित्व सभव नही है, क्योकि दोनो को एकात्म मानने मे विरोध है। यहाँ तो अवाच्यैकात भी नही बनता, क्योकि "यह अवाच्य है" ऐसे शब्दो का प्रयोग नही हो सकता।[3]

'पदार्थो का सर्वथा सद्भाव ही है,' अगर ऐसा माने तो समस्त पदार्थ अनादि अनत और स्वरूप रहित हो जायेगे।[4]

अभाव चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यताभाव। वस्तु की उत्पत्ति के पूर्व को प्रागभाव कहते है। पदार्थ के नाश के बाद के अभाव को प्रध्वसाभाव कहते है। एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से सापेक्ष अभाव को अन्योन्याभाव कहते है। एक पदार्थ के दूसरे पदार्थ मे शाश्वत अभाव को अत्यताभाव कहते है।

साख्य पदार्थों का सर्वथा सद्भाव मानते है, प्रागभाव नही। और प्रागभाव न मानने से महत् आदि अनादि हो जायेगे, फिर प्रकृति से महदादि की

---

1 अभावैकातपक्षेपि साधनदूषणम् 1 12
2 आप्तमी तत्वदीपिका टीका 1 13 129 31
3 विरोधान्नोभयै युज्यते आ मी 1 13
4 भावैकान्ते पदार्थाना मतापकम् आ मी 1 9

उत्पत्ति वताना व्यर्थ है, जवकि वे प्रकृति से ही उत्पत्ति वताते है।[1] साख्य पुरुष और प्रकृति मे अत्यताभाव नही मानते तव, तो प्रकृति और पुरुष मे भेद[2] व्यर्थ हो जायेगा।

चार्वाक प्रागभाव और प्रध्वसाभाव, दोनो को नही मानता। वह भूतो से सर्वथा नवीन उत्पत्ति और उनके वियोग को सर्वथा विनाश मानता है।

मीमासक भी शब्द को सर्वथा नित्य मानते है। यदि शब्द मे प्रागभाव को न मानकर नित्य माना जाये तो पुरुष के तालु आदि प्रयत्न को क्या माना जायेगा ?।

साख्य के अनुसार पदार्थ एव मीमासक के अनुसार शब्द मात्र अभिव्यक्त होते है, उनकी उत्पत्ति नही होती, कारणो के द्वारा अविद्यमान वस्तु की उत्पत्ति होती है। किसी आवरण से ढकी हुई वस्तु के किसी अन्य कारण से प्रकट होने को अभिव्यक्ति कहते है, जैसे अधेरे मे कोई वस्तु है पर दिखाई नही दे रही है, वही दीपक के प्रकाश से दिखने लगती है, यही अभिव्यक्ति है। परतु प्रागभाव का निराकरण करने के कारण घट आदि कार्यद्रव्य अनादि हो जायेगे और प्रध्वसाभाव को न मानने के कारण कार्यद्रव्य अनत हो जायेगे।[3]

धर्म और धर्मी को सर्वथा भिन्न मानने पर "यह धर्मी है, ये इस धर्मी के धर्म है और यह धर्म और धर्मी मे सबध कराने वाला समवाय है" इस प्रकार तीन बातो का अलग-अलग ज्ञान प्राप्त नही होता। यदि कहो कि समवाय सबध से परस्पर भिन्न धर्म और धर्मी का सबध होता है तो भी ठीक नही, क्योकि जैसे धर्म और धर्मी का ज्ञान होता है वैसे समवाय का नही होता। अगर यह कहे कि एक समवाय को मुख्य मानकर समवाय मे समवायत्व को गौण मानेगे, तो यह काल्पनिक मात्र है तथा इसमे लोकविरोध भी है।[4]

कार्य की एकात नित्यता मे पुण्य, पाप, परलोक गमन आदि सव असभव हो जायेगे।[5]

---

1 साख्यकारिका 22

2 वही 11

3 कार्यद्रव्यमनादि अनतता व्रजेत् आ मी 1 10

4 न न धर्मधर्मित्व लोकबाध अन्ययो व्य 7

5 पुण्यपापाक्रिया तेपा न आ मी 3.40

क्षणिकैकात मे "यह वही है" इस प्रकार का व्यवहार सभव नही रहेगा और तब कार्य का आरभ भी सभव नही होगा। जब कार्य का आरभ ही नही होगा तो उसका फल कैसे सभव है।[1] क्षणिक पक्ष मे कार्यकारणभाव भी नही बन सकता, कार्य रूप सतान कारण से सर्वथा पृथक् है (बौद्ध प्रत्येक पदार्थ को सतान मानते है)।[2]

मात्र कार्य को असत् मान ले तो आकाशपुष्प की तरह उसकी उत्पत्ति ही नही है।[3]

इन सभी एकातवादो का खडन करके जैन दर्शन वस्तु का स्वरूप विरोधी युगलो द्वारा प्रतिपादित करता है।

**उत्पाद क्या है.**–हमने द्रव्य को त्रिलक्षणात्मक सिद्ध किया, परतु जिज्ञासा हो सकती है कि उत्पाद क्या है? किसका उत्पाद होता है? ग्रन्थकार यह स्पष्ट करने का प्रयास करते है कि "अपनी-अपनी जाति को न छोडते हुए बाह्य और आतरिक दोनो निमित्तो को पाकर चेतन और अचेतन द्रव्य का अन्य पर्याय मे परिवर्तित होना उत्पाद है।[4]

पूर्वकाल मे असत् का उत्तरकाल मे सत्तालाभ उत्पाद नही है, अपितु अननुभूत का उत्तरकाल मे प्रादुर्भाव ही उत्पाद है।[5]

**विनाश क्या है.**–अपनी जाति का त्याग किये बिना पूर्व पर्याय का नाश होना विनाश या व्यय है, जैसे पिण्डरूप आकृति का नष्ट होना।[6]

उत्पाद-व्यय की इस प्रवाह परम्परा मे स्थायिता न तो नष्ट होती है और न उत्पन्न। द्रव्य की एक पर्याय का व्यय होता है और दूसरी पर्याय का उत्पाद, परतु द्रव्य ध्रुव बना रहता है।[7]

उत्पाद और व्यय युक्त पर्याय, गुण और ध्रौव्य युक्त सत् (द्रव्य) का

1 क्षणिकैकातपक्षेपि वुत फलम् आ मी 3 41
2 न हतुफलभावा.. पृथक् आ मी 3 41
3 यद्यसत् सर्वथा खपुष्पवत् आ मी 3 42
4 चेतनस्याचेतनस्य वा द्रव्यस्य घटपर्यायवत् स सि 5 30 584
5 उत्पादो भूतभवन शास्त्रवार्ता 7 12
6 तथा पूर्वभाव विगमन व्यय यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृते स सि 5 30 584 विनाशस्तद्विपर्यय शास्त्रवार्ता 7 12 एव त वा 5 30
7 प्र सा 103

ही अस्तित्व है। उत्पाद, व्यय या पर्याय द्रव्य रूप स्थायी धर्म के धर्मी है। न तो धर्म धर्मी से विभक्त होता है और न धर्मी धर्म का परित्याग करते है। धर्म और धर्मी की भिन्नता प्रमाण ग्राह्य नही है। धर्मधर्म्यात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय है।[1]

धर्म और धर्मी की सत्ता कथचित् सापेक्ष एव कथचित् निरपेक्ष है।

**द्रव्य-गुण-पर्याय मे एकात भेद नहीं है.**—न्यायवैशेषिक द्रव्य और गुण को सर्वथा भिन्न मानते है। अगर द्रव्य और गुण को सर्वथा भिन्न माना जाये तो जैन दर्शन के मत मे या तो द्रव्य की अनतता होगी या अभाव। व्यपदेश, सस्थान, सख्या और विषय तो अनेको है, और वे सब द्रव्य और गुण की अभिन्नता मे ही सभव है।[2] द्रव्य के नाश होने की आशका इसलिए है कि गुण द्रव्याश्रित ही होते है। अगर गुण द्रव्य से भिन्न होगा तो गुण किसी और का आश्रित होगा, और वह भी यदि द्रव्य से भिन्न होगा तब तो द्रव्य मे अनतता आयेगी, क्योकि गुण जिसका भी आश्रित होगा वह द्रव्य ही होगा।[3] धर्म और धर्मी (द्रव्य और गुण) को सर्वथा भिन्न मानने से विशेष्य विशेषण भाव भी सभव नही है।[4]

गुणो को उसके आश्रयभूत द्रव्य से भिन्न मानने पर गुण निराश्रय हो जायेगे एव गुण से पृथक् रहने वाला द्रव्य भी नि स्वरूप होने से कल्पना-मात्र बनकर रह जायेगा।[5] वैशेषिक दिशा, काल और आकाश को क्रियावाले द्रव्यो से विलक्षण होने के कारण नि[illegible] है। कर्म और [illegible] भी वे निष्क्रिय ही मानते है।[6] अगर इन्हे [illegible] तो "गुणसन्द्र [illegible]"[7] यह लक्षण कैसे सिद्ध होगा? एकातव [illegible] मे तो " [illegible] लक्षण भी सिद्ध न[illegible] । जब द्रव्य [illegible] तो उसमे [illegible] वाले) की कल्प[illegible] जा[illegible]

गुण, कर्म अ[illegible] तो [illegible]

---

1 षड्दर्शनसमुच्चयटीका [illegible]
2 जदि हवदि मदव्वभण्ण [illegible]
3 द्रव्यस्य गुणेभ्यो भेदे द्रव्य [illegible]
4 स म 4 17 18
5 यदि गुणा एव द्रव्याभावि [illegible]
6 दिक्कालावकाशश [illegible]
7 पातजल महाभाष्य 5 1 119

की तरह असत् होने से भवन क्रिया का कर्ता नही हो सकता।[1] असत् होने के कारण उसमे समवाय सबध के कारण स्वरूप कल्पना भी नही होगी। "अनेकातवाद अर्थात् भिन्न-भिन्न स्वभाव मे ही गुण सन्द्रावो एव द्रव्यभव्ये दोनो लक्षण सिद्ध होते है।

वैशेषिक धर्म और धर्मी को समवाय सबध से जोडते है। यह समवाय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष पदार्थों मे रहता है। समवाय सबध के कारण ही सर्वथा भिन्न धर्म और धर्मी मे धर्म-धर्मी का व्यवहार होता है।[2]

जैन दर्शन मे सत् और द्रव्य पर्यायवाची है, जबकि वैशेषिक सत्ता और द्रव्य को अलग-अलग मानता है,[3] क्योकि वह प्रत्येक द्रव्य मे (आधेय रूप से) पायी जाती है। जैसे द्रव्यत्व नौ द्रव्यो मे से प्रत्येक मे रहता है। अत द्रव्यत्व को द्रव्य नही कहा जाता, परतु सामान्य विशेषरूप (द्रव्य) कहा जाता है। इसी तरह सत्ता भी प्रत्येक द्रव्य मे रहने के कारण द्रव्य नही अपितु सामान्य कही जाती है।[4]

जैन दर्शन द्रव्य को सामान्य विशेषात्मक मानता है, जबकि वैशेषिक दर्शन द्रव्यादि से विलक्षण होने के कारण 'विशेष' को पदार्थान्तर मानता है। प्रशस्तपाद के अनुसार अन्त्य मे होने के कारण वे (विशेष) अन्त्य है तथा आश्रय के नियामक है अत विशेष है।[5] ये विशेष नित्यद्रव्यो मे रहते है।[6]

सामान्य को भी वैशेषिक लोग सत्ता से भिन्न पदार्थ के रूप मे स्वीकार करते है। यह सामान्य नित्य और व्यापक है। सामान्य के दो भेद है—पर और अपर।[7] सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म-इन तीन पदार्थों मे रहता है।

न्याय-वैशेषिक के सर्वथा भेदभाव का खडन करते हुए आचार्य समतभद्र कहते है कि 'गुण और गुणी मे, कार्य और कारण मे तथा सामान्य और

1 द्रव्यं भव्ये इत्ययमपि द्रव्यशब्द एकातवादिना अनेकांतवादिनस्तु 'गुण सन्द्रावो द्रव्यम्, द्रव्यं भव्ये' इति चोपपद्यते रा वा 5 2 11 441 1 9

2 घटादीना कपालादौ द्रव्येपु गुणकर्मणो। तेपु जातेश्च सबध समवाय प्रकीर्तित। कारिकावली का 12, मुक्तावली पृ 23

3 द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता। वै सू 1 2 4

4 स्याद्वादमजरी पृष्ठ 49

5 अन्तेपु भवा अन्त्या स्वाश्रयविशेपकत्वाद विशेपा प्रशस्तपादभाष्य विशेप प्रकरण पृ 168

6 अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्ति विशेप परिकीर्तित। का 10

7 सामान्य द्विविधं प्रोक्तं परापरतयो उच्यते का 8 9

ही अस्तित्व है। उत्पाद, व्यय या पर्याय द्रव्य रूप स्थायी धर्म के धर्मी
न तो धर्म धर्मी से विभक्त होता है और न धर्मी धर्म का परित्य
करते है। धर्म और धर्मी की भिन्नता प्रमाण ग्राह्य नही है। धर्मधर्म्यात्मकव
ही प्रमाण का विषय है।[1]

धर्म और धर्मी की सत्ता कथचित् सापेक्ष एव कथचित् निरपेक्ष

**द्रव्य-गुण-पर्याय मे एकात भेद नहीं है.**—न्यायवैशेषिक द्रव्य और गुण
सर्वथा भिन्न मानते है। अगर द्रव्य और गुण को सर्वथा भिन्न माना जा
तो जैन दर्शन के मत मे या तो द्रव्य की अनतता होगी या अभाव। व्यपदे
सस्थान, सख्या और विषय तो अनेको है, और वे सब द्रव्य और गुण
अभिन्नता मे ही सभव है।[2] द्रव्य के नाश होने की आशका इसलिए है
गुण द्रव्याश्रित ही होते है। अगर गुण द्रव्य से भिन्न होगा तो गुण कि
और का आश्रित होगा, और वह भी यदि द्रव्य से भिन्न होगा तब तो द्र
मे अनतता आयेगी, क्योकि गुण जिसका भी आश्रित होगा वह द्रव्य ही होगा
धर्म और धर्मी (द्रव्य और गुण) को सर्वथा भिन्न मानने से विशेष्य विशेष
भाव भी सभव नही है।[4]

गुणो को उसके आश्रयभूत द्रव्य से भिन्न मानने पर गुण निराश्रय
जायेगे एव गुण से पृथक् रहने वाला द्रव्य भी नि स्वरूप होने से कल्पन
मात्र बनकर रह जायेगा।[5] वैशेषिक दिशा, काल और आकाश को क्रियावा
द्रव्यो से विलक्षण होने के कारण निष्क्रिय मानते है। कर्म और गुण को
वे निष्क्रिय ही मानते है।[6] अगर इन्हे निष्क्रिय माने तो "गुणसन्द्रावो द्रव्यम्
यह लक्षण कैसे सिद्ध होगा? एकातवादियो के मत मे तो "द्रव्य भव्ये" य
लक्षण भी सिद्ध नही होता। जब द्रव्य ही असिद्ध, है तो उसमे भव्य (हो
वाले) की कल्पना कैसे की जा सकती है?[7]

गुण, कर्म और सामान्य से जब द्रव्य सर्वथा भिन्न है तो खरविषाणगु

1 षड्दर्शनसमुच्चयटीका 57 36 3
2 जदि हवदि मदव्वभण्ण पकुव्वति, ववदेसा सठाणा विज्जते प का 44, 46
3 द्रव्यस्य गुणेभ्यो भेदे द्रव्यानत्यम् प का टी 44
4 स म 4 17 18
5 यदि गुणा एव द्रव्याभावि निराधारत्वाद् कल्पना द्रव्यस्य स्यात् रा वा 9 2 9 439
6 दिक्कालावकाशश निष्क्रिया वै द 5 2 21, 22
7 पातजल महाभाष्य 5 1 119

की तरह असत् होने से भवन क्रिया का कर्ता नही हो सकता।[1] असत् होने के कारण उसमे समवाय सबध के कारण स्वरूप कल्पना भी नही होगी। "अनेकातवाद अर्थात् भिन्न-भिन्न स्वभाव मे ही गुण सन्द्रावो एव द्रव्यभव्ये दोनो लक्षण सिद्ध होते है।

वैशेषिक धर्म और धर्मी को समवाय सबध से जोडते है। यह समवाय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष पदार्थो मे रहता है। समवाय सबध के कारण ही सर्वथा भिन्न धर्म और धर्मी मे धर्म-धर्मी का व्यवहार होता है।[2]

जैन दर्शन मे सत् और द्रव्य पर्यायवाची है, जबकि वैशेषिक सत्ता और द्रव्य को अलग-अलग मानता है,[3] क्योकि वह प्रत्येक द्रव्य मे (आधेय रूप से) पायी जाती है। जैसे द्रव्यत्व नौ द्रव्यो मे से प्रत्येक मे रहता है। अत द्रव्यत्व को द्रव्य नही कहा जाता, परतु सामान्य विशेषरूप (द्रव्य) कहा जाता है। इसी तरह सत्ता भी प्रत्येक द्रव्य मे रहने के कारण द्रव्य नही अपितु सामान्य कही जाती है।[4]

जैन दर्शन द्रव्य को सामान्य विशेषात्मक मानता है, जबकि वैशेषिक दर्शन द्रव्यादि से विलक्षण होने के कारण 'विशेष' को पदार्थान्तिर मानता है। प्रशस्तपाद के अनुसार अन्त्य मे होने के कारण वे (विशेष) अन्त्य है तथा आश्रय के नियामक है अत विशेष है।[5] ये विशेष नित्यद्रव्यो मे रहते है।[6]

सामान्य को भी वैशेषिक लोग सत्ता से भिन्न पदार्थ के रूप मे स्वीकार करते है। यह सामान्य नित्य और व्यापक है। सामान्य के दो भेद है—पर और अपर।[7] सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म-इन तीन पदार्थो मे रहता है।

न्याय-वैशेषिक के सर्वथा भेदभाव का खडन करते हुए आचार्य समतभद्र कहते है कि 'गुण और गुणी मे, कार्य और कारण मे तथा सामान्य और

1 द्रव्य भव्ये इत्ययमपि द्रव्यशब्द एकातवादिना अनेकातवादिनस्तु 'गुण सन्द्रावो द्रव्यम्, द्रव्य भव्ये' इति चोपपद्यते रा वा 5 2 11 441 1 9

2 घटादीना कपालादौ द्रव्येपु गुणकर्मणो। तेपु जातेश्च सबंध समवाय प्रकीर्तित। कारिकावली का 12, मुक्तावली पृ 23

3 द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तर सत्ता। वै सू 1 2 4

4 स्याद्वादमजरी पृष्ठ 49

5 अन्तेपु भवा अन्त्या स्वाश्रयविशेपकत्वाद विशेपा प्रशस्तपादभाष्य विशेप प्रकरण पृ 168

6 अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्ति विशेप परिकीर्तित। का 10

7 सामान्य द्विविधं प्रोक्तं परापरतयो उच्यते का 8 9

विशेष मे सर्वथा भेद मानना अनुपयुक्त है।[1]

**द्रव्य गुण और पर्याय मे एकात अभेद भी नहीं है.**–गुण और गुणी मे सर्वथा अभेद मानने पर या तो गुण रहेगे या गुणी, तब दोनो का व्यपदेश सभव नही होगा।[2] अकेले गुणी के या गुण के रहने पर यदि गुणी रहता है तो गुण का अभाव होने के कारण वह नि स्वभावी होकर अपना भी विनाश कर बैठेगा और यदि गुण रहता है तो वह निराश्रय होकर कहाँ आश्रय लेगा।[3]

ब्रह्माद्वैतवादी सपूर्णत अभेद को ही स्वीकार करते है। उपनिषदो मे ऐसे अनेको वाक्य आते है जो मात्र ब्रह्म की ही सत्ता को स्थापित करते है।[4] चेतन-अचेतन समस्त सृष्टि के तत्व मात्र उस ब्रह्म के प्रतिभासमात्र है। जिस प्रकार तिमिर रोगी को विशुद्ध आकाश भी चित्र विचित्र रेखाओ से खचित दिखाई देता है, उसी प्रकार अविद्या या माया के कारण एक ही ब्रह्म अनेक प्रकार के देश काल और आकार के भेदो से चित्र विचित्र प्रतिभासित होता है। वस्तुत जो भी सृष्टि मे था, है और रहेगा, वह सब ब्रह्म है।[5]

यही ब्रह्म सपूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का उसी प्रकार कारण है जिस प्रकार मकडी अपने जाल के प्रति।[6]

सृष्टि मे एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, अन्य सब कुछ मिथ्या है- "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या" यह उपनिषद की प्रसिद्ध उक्ति है, तो क्या आत्मश्रवण, मनन और ध्यान, जिसे वे आत्मशुद्धि का और अमृत की प्राप्ति का माध्यम मानते है, वह भी मिथ्या है या अविद्यात्मक है? वेदाती इसका भी समाधान करते है और कहते है "भेदरूप होने से ये भी अविद्यात्मक है, परतु इनसे चूँकि विद्या की उत्पत्ति सभव है। जैसे धूल युक्त पानी को स्वय धूलमय होते हुए भी कतक के फल का चूर्ण स्वच्छ कर देता है, जहर को जहर समाप्त कर देता है, उसी प्रकार श्रवण आदि भेदरूप अविद्या भी मोह, राग, द्वेष आदि मूल अविद्या को नष्टकर स्वगतभेद की शाति से निर्विकल्प स्वरूप को प्राप्त

1 कार्य कारण नानात्व यदीष्यते। आ मी 6 61
2 एकातानन्यत्वे हि गुणा एव वा स्यु रा वा 5 2 9 439
3 यदि गुणा एव द्रव्याभावे निराधारत्वादभाव स्यात्। रा वा 5 2 9 439
4 सर्व खल्विद ब्रह्म। छान्दोग्य उप 3 1 14
5 यथा विशुद्धमाकाश तिमिराप्लुतो जन सकीर्णमिव रेखामाभिश्चित्राभिरभिमिन्यते तथेदममल ब्रह्म निर्विकारमविद्यया कलुपत्वमिवापन्न भेदरूप प्रपश्यति वृहदा भा वा 3 5 43 44
6 यथोर्णनाभ सृजते गृह्णीतेश्च मुण्डकोप 1 1 7

होती है।[1]

सपूर्ण ससार ब्रह्म की ही पर्याय है, पर लोग ब्रह्म को न देखकर उसकी पर्याय ही देखते है,[2] जबकि यह मिथ्या है, क्योकि यह प्रतीति का विषय है और जो भी प्रतीति के विषय है, वे मिथ्या है जैसे सीप मे चाँदी।[3]

जिस सृष्टि को मायामात्र कहकर ब्रह्माद्वैतवादी ब्रह्म को ही सत् मानकर अद्वैत सिद्ध करते है, वह माया सत् है या असत्? अगर माया को सत् माने तो अद्वैत नही रहेगा और असत् माने तो तीनो लोको के पदार्थो की उत्पत्ति नही हो सकती। यदि यह कहे कि माया माया होकर अर्थक्रिया करती है, तो उसी प्रकार विरोधाभास होगा जैसे यह कहना कि एक स्त्री मा होकर भी वाझ है।[4]

**जैन दर्शन समन्वय करता है:**—जैन दर्शन का दृष्टिकोण आपेक्षिक रहा है। वह एकात से न भेद मानता है और न अभेद। उसकी मान्यता है—जो द्रव्य है वह गुण या पर्याय नही और जो गुण या पर्याय है वह द्रव्य नही।[5] गुण और गुणी से भेद न करे तो द्रव्य का लक्षण सभव नही है।[6] द्वैत के अभाव मे अद्वैत की सिद्धि सभव ही नही है।[7]

जैन दर्शन के अनुसार लक्षणरूप भेद होने पर भी वस्तु स्वरूप से गुण और गुणी अभिन्न है।[8] यद्यपि ये आपस मे विशेषण विशेष्य से सबधित है, फिर भी दोनो अभिन्न है।[9] द्रव्य मे गुण-गुणी का भेद प्रादेशिक नही है, अपितु अतद्भाविक है।[10] सज्ञा की अपेक्षा भेद अवश्य प्रतीत होता है, परतु सत्ता की अपेक्षा दोनो मे अभेद है।[11]

---

1 यथा पयो पयोन्तर जरयति स्वय च जीर्यति, यथा विष विषातर शमयति स्वय च शाम्यति, यथा च कतकरजो रजोन्तराविले पयसि प्रक्षिप्त रजोन्तराणि भिदत् स्वयमपि भिद्यमानमनाविल पय करोति एव कर्म अविद्यात्मकमपि अविद्यान्तराणि अपगमयत् स्वयमप्यपगच्छतीति। ब्रह्मसू शा भा भा पृष्ठ 32

2 सर्व वै खल्विद तत्पश्यति कश्चन छान्दोग्य उ 14

3 स्याद्वादमजरी 13 112

4 माया सती चेद् वन्ध्या च भवेत् परेषाम्। अन्ययो 13

5 तेषामेव गुणानां तै प्रदेशै विशिष्टा भिन्न प्र सा त प्र 130

6 षट् खण्डागम, धवला टीका, 3 1 2 63

7 अद्वैत न बिना द्वैतादहेतुरिव हेतुना आ मी 2 27

8 द्रव्यं च लक्ष्यलक्षण भावादिभ्य भूतमेवेति मतव्यम् प का टी 9

9 1 1 14 242

10 प्र सा त प्र वृ 98

11 द्रव्यगुणानामभ्यादेशवशात् मतव्यम् प का टी 13

कथचित् भेदाभेद के कारण ही 'द्रव्य' इस सज्ञा की सिद्धि हो जाती है। गुण और द्रव्य परस्पर अविभक्त रूप से रहते है, अंत अभेद है तथा सज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद है।[1]

जैनदर्शन की भेदाभेद की स्वीकृति से विरोधो की समाप्ति स्वत ही हो जाती है। हमे वस्तु के स्वरूप को कथचित् स्वीकार करना चाहिये। अद्वैत एकात को मानने से उसमे कारको (कर्त्ता, कर्म, करण) का जो प्रत्यक्षसिद्ध भेद मानते है, उसमे विरोध आता है, क्योकि एक वस्तु स्वय अपने से उत्पन्न नही होती।[2]

**उत्पाद व्यय ध्रौव्य मे काल की भिन्नता एव अभिन्नता**.–द्रव्य का लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है। वस्तु के इन लक्षणो मे काल की भिन्नता भी है और अभिन्नता भी। इन्हे द्रव्य से भिन्न भी कहा जा सकता है और अभिन्न भी,[3] क्योकि जो सिकुडने का समय है वह फैलने का नही और एक अपेक्षा से सिकुडने के और फैलने के समय मे भिन्नता भी नही।[4] जिस प्रकार तराजू के एक पलडे का उपर जाना और दूसरे का नीचे आना एक साथ होता है, उसी प्रकार उत्पाद और व्यय भी एक काल मे ही होते है।[5]

द्रव्य एक ही क्षण मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त होता है।[6]

पूर्व पर्याय के विनाश का क्षण ही उत्तरपर्याय के उत्पाद का क्षण है। अत उत्पाद और विनाश समकालीन है। एक अपेक्षा से इनमे कालभेद नही है, क्योकि एक पर्याय की आदिकालीन सीमा और अतिमकालीन सीमा भिन्न-भिन्न है। जिस समय उत्पाद-विनाश रूप पर्याय परिवर्तन घटित होता है उस समय भी वस्तु सामान्यरूप से विद्यमान रहती है।

जैसे अगुली एक वस्तु है, वह जव सीधी (सरल) है तब टेढ़ी नही है और जव टेढ़ी है तब सीधी नही है। अगुली मे टेढ़ापनरूप पर्याय के उत्पाद और सरलतारूप पर्याय के विनाश का समय अलग-अलग नही है, यह हुई एक वस्तु रूप अगुली मे उत्पाद विनाश रूप दो पर्यायो के एक साथ होने

---

1 कथचिद् भेदाभेदोपपत्तेस्तद्व्यपदेशसिद्धि 5 2 529

2 अद्वैतेकांत स्वस्मात् प्रजायते आ मी 2 24

3 सन्मति तर्क 3 36

4 जो आऊचण कालो कालतरणत्थि स त 3 36

5 नाशोत्पादौ तुलान्तयो उद्धृत आ मी 220 पृ मे

6 सभवेद खलु दव्व सण्णिद्दट्ठेहिं प्र सा 102

की व्याख्या।

अव एक पर्याय वक्रता को ले तो उत्पाद-विनाश का कालभेद स्पष्ट हो जायेगा।

अगुली का टेढ़ापन मिटा और वह सरल बनी, यह अगुली की सरलता का उत्पादकाल, अमुक समय तक सरल रहकर वक्र बनी, यह सरलता का विनाशकाल और सरलता से वक्रता तक की यात्रा के मध्य जो समय व्यतीत हुआ वह सरलता का स्थितिकाल बना।[1]

इसे और स्पष्ट करने के लिए सपादक युगल ने एक मकान का उदाहरण भी दिया है। जब मकान निर्माण की प्रक्रिया से गुजरता है, तब वह सपूर्ण मकान की अपेक्षा तो उत्पद्यमान (अधूरा) है, परतु उसके जितने भाग परिपूर्ण हो गये' उनकी अपेक्षा से उसे 'बन गया' कहेगे और जो बनने बाकी है, उनकी अपेक्षा उसे कहेगे कि 'बनेगा।'[2] उत्पन्न होते द्रव्य को कहेगे 'हो गया', नाश हो रहे को कहेगे 'नष्ट हो गया' इस प्रकार कहकर द्रव्य को त्रिकालविषयी बना देते है।

भारत मे मुख्यरूप से तीन प्रकार की विचारधारा पायी जाती है- परिणामवादी, सघातवादी, और आरभवादी। साख्य वस्तु का मात्र रूपातर मानते है, अत वे परिणामवादी, बौद्ध स्थूल को भी सूक्ष्म द्रव्यो का समूहमात्र मानते है, अत समूहवादी, और वैशेषिक अनेको द्रव्यो के सयोग से अपूर्व नवीन वस्तु या द्रव्य की उत्पत्ति मानते है, अत वे आरभवादी कहलाते है।

जैन दर्शन न आरभवादी, न सघातवादी और न ही परिणामवादी है, वह कथचित् सभी को मानता है।

यहाँ सपादक युगल द्वारा विवेचित एव सिद्धसेन द्वारा निरूपित उत्पादादि मे कालभिन्नता कार्य की पूर्णता की दृष्टि से है। प्रक्रिया की अपेक्षा से तो काल की अभिन्नता ही है।

**सभी द्रव्य स्वतत्र है.**—सत् स्वय अपने परिणमनशील स्वभाव के कारण परस्पर निमित्त-नैमित्तिक बनकर प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते है। बाह्य और

---

1 सन्मतित मे सपादक युगल का विवेचन 3 35 37 295, 96
2 वही 3 स त 3.37

आभ्यतर सामग्री के अनुसार समस्त कार्य उत्पन्न होते है और पर्याय की अपेक्षा से विनष्ट भी। इनमे परस्पर कार्य-कारण भाव वनते है, फिर भी सत् स्वतत्र और परिपूर्ण है। वह अपने गुण-पर्याय का स्वामी भी है और आधार भी।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य मे कोई नया परिणमन नही ला सकता। जैसी-जैसी सामग्री उपस्थित होती जाती है, कार्य-कारण नियम के अनुसार द्रव्य स्वय वैसा वैसा परिणत होता जाता है। जिस समय प्रबल बाह्य सामग्री उपलब्ध नही होती, उस समय द्रव्य स्वय की प्रकृति के अनुसार सदृश या विसदृश परिणमन करता ही है।

एक द्रव्य दूसरे मे कोई नया गुणोत्पाद नही करता। सभी द्रव्य अपने अपने स्वभाव से उत्पन्न होते है अर्थात् पर्याय परिवर्तन करते है।[1]

इसी तरह प्रत्येक द्रव्य अपनी परिपूर्ण अखडता और व्यक्ति स्वातत्र्य की चरमनिष्ठा पर अपने-अपने परिणमन चक्र का स्वामी है। कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य का नियत्रक नही है। प्रत्येक सत् का अपने ही गुण और पर्याय पर अधिकार है। सभी द्रव्य स्वभाव मे रहते हुए स्व द्रव्य का ही कार्य करते है, कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कार्य नही करता।[2]

जो गुण जिस द्रव्य मे होते है वे उसी द्रव्य मे रहते है, अन्यत्र सक्रमण नही करते। गुण-पर्याय अपने ही द्रव्य मे रहते है।[3] सत् स्वलक्षण वाला स्वसहाय एव निर्विकल्प होता है।[4]

सभी प्रकार के सकर व शून्य दोषो से रहित सपूर्णवस्तु सद्भूत व्यवहारनय से अणु की तरह अनन्यशरण है, ऐसा ज्ञान होता है।[5]

द्रव्य की सख्या छ है। उन छ द्रव्यो मे से कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव का परित्याग नही करता। यद्यपि वे परस्पर मे मिले हुए रहते है। एक दूसरे

1 समयसार 372

2 सर्वभाव निज भाव निहारे पर कारज को कोयन धारे। द्रव्यप्रकाश 109

3 जो जम्हि गुणे दव्वे परिणामए दव्व। स मा 103 विस्तार के लिये इसी की अमृतचद्राचार्य कृत टीका

4 तत्व सल्लक्षणिक-स्वसहाय निर्विकल्प च प ध पू 8 528

5 अस्तमितसर्वसकरदोप क्षतसर्वशून्यदोप वा। अणुरिव वस्तु समस्त ज्ञान भवतीत्यनन्यशरणम्। वही प ध पू 528

मे प्रवेश भी करते है तथा एक ही क्षेत्र मे रहते है।[1]

प्रत्येक द्रव्य स्वतत्र है। दो द्रव्य मिलकर एक पर्याय नही बनाते और न दो द्रव्यो की एक पर्याय वनती है। द्रव्य अनेक है और अनेक ही रहते है।[2]

द्रव्य स्वय कर्ता, कर्म, और क्रिया तीनो है। द्रव्य पर्यायमय वनकर परिणमन करता है।[3] जो परिणमन हुआ वही द्रव्य का कर्म है और परिणति ही क्रिया है, अर्थात् द्रव्य ही कर्ता है, क्रिया तथा कर्म का स्वामी भी वही है।[4]

कर्ता, क्रिया, और कर्म, भिन्न प्रतीत अवश्य होते है, परतु इनकी सत्ता भिन्न नही है। स्वय की पर्याय का स्वामी स्वय है।[5]

निजवस्तु आत्मा ही है, देहादि पदार्थ पर ही है। परद्रव्य आत्मा नही होता और आत्मा पर द्रव्य नही होता।[6]

समस्त पदार्थ स्वभाव से ही अपने स्वरूप मे स्थित है। वे कभी अन्य पदार्थों से अन्यथा नही किये जा सकते। एवभूतनय की दृष्टि से देखा जाये तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित है। इनमे आधार आधेयभाव नही है। व्यवहार नय से ही परस्पर आधारआधेय भाव की कल्पना होती है। जैसे वायु का आधार आकाश, जल का वायु और पृथ्वी का आधार जल माना जाता है।[7]

**सत् सप्रतिपक्ष है** – जैन दर्शन सत् का स्वरूप विरोधी युगल से प्रतिपादित करता है। सत् की सत्ता परिवर्तन के मध्य शाश्वत है। न तो सर्वथा सत् है और न सर्वथा असत् अपितु कथचित् सत् भी है असत् भी। प्रतिपक्ष के अभाव मे सत् की व्याख्या सभव नही है। सत्ता उत्पाद, व्यय ध्रौव्यात्मक, एक, सर्वपदार्थस्थित सविश्वरूप अनतपर्यायमय और प्रतिपक्ष है।[8]

वस्तु कथचित् असत् है, सर्वथा नही। इसी प्रकार अपेक्षाभेद से वस्तु

---

1 अवगेण्पर विमिस्स परसहावे गच्छति न च वृ 7

2 'नोभौ परिणामत मनेकमेव सदा।" अध्यात्म अमृत कलश 53

3 वही 51

4 वही 52

5 अप्पा अणु जि परू जि, परू अप्पा परु जिण होई। परुणि नयाइ वि अप्पू णियमे पमणेहि जोई। परमात्म प्रकाश 1 67

6 सर्वे भावा स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थिता । न शक्यतेन्यथा कर्तु ते परेण कदाचन। प ध पू 461

7 रा वा 5 12 454

8 पंचास्तिकाय 8 एव सभाष्य तत्वार्था पृ 282

उभयात्मक और अवाच्य है, नय की अपेक्षा से ही वस्तु सत् आदि रूप है, सर्वथा नही।[1]

नय का विवेचन इसी प्रकरण मे आगे के पृष्ठो मे है। जैन दर्शन वस्तु को अपेक्षा से ही प्रतिपादित करता है। वक्ता जिस दृष्टि से वस्तु के स्वरूप को कहना चाहता है उसी दृष्टि से उस वस्तु का विचार किया जाता है। वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध अगर एक ही दृष्टिकोण से वस्तु का विचार किया जाये तो अव्यवस्था निश्चित है। जैन दर्शन मे वस्तु का ऐकान्तिक रूप मिथ्या है। अत समस्त वस्तुओ को अनेकातात्मक रूप से ही प्रमाण का विषय मानना चाहिये।[2]

**वस्तु सदसदात्मक है** .—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एव स्वभाव की अपेक्षा सब पदार्थ सत् है और पररूपादि (परद्रव्य, परकाल एव परभाव) की अपेक्षा सभी पदार्थ असत् है।[3]

चाहे चेतन हो या अचेतन, इस नियम का कोई भी अपवाद नही है। अगर इस नियम को अस्वीकृत कर दिया जाये तो या तो सारा ससार शून्य हो जायेगा या द्रव्य की सत्ता का कोई नियम नही रहेगा।

**वस्तु मे वाच्यावाच्यत्व है** – एक ही वस्तु मे अनत धर्म पाये जाते है। इन अनत धर्मो मे से जिस धर्म का प्रतिपादन किया जाये वह मुख्य और अन्य धर्म गौण कहे जाते है, ये ही शास्त्रीय भाषा मे क्रमश अर्पित और अनर्पित भी कहे जाते है।[4]

जव क्रम से स्वरूपादि चतुष्टयी की अपेक्षा से सत् तथा पररूपादि चतुष्टयी की अपेक्षा से असत् अर्पित होते है उस समय वस्तु कथचिद् उभयात्मक (सदसदात्मक) होती है और जब कोई स्वरूपादि चतुष्टय तथा पररूपादि चतुष्टय के द्वारा वस्तु के सत्वादि धर्मों का एक साथ प्रतिपादन करना चाहता है तो ऐसा कोई शब्द नही मिलता जो एक ही शब्द मे दोनो धर्मों का प्रतिपादन कर सके, ऐसी अवस्था मे वस्तु अवाच्य है।[5]

---

1 कथचित् ते न सर्वथा। आ मी 1 14

2 पड्दर्शनसमुच्चय टीका 57 363

3 सदेव सर्व को व्यवतिष्ठते। आ मी 1 15

4 अर्पितानर्पितसिद्धे त सू। 5 32 एव स सि 5 32 588

5 क्रमार्पितद्वयाद् शक्तित। आ मी 1 16

**वस्तु मे अस्तित्व-नास्तित्व है**—अस्तित्व और नास्तित्व, ये आपस मे अविनाभावी है। अस्तित्व के अभाव मे नास्तित्व नही है और नास्तित्व के अभाव मे अस्तित्व नही है। अविनाभाव अर्थात् एक सबध, जो उन दो पदार्थो मे पाया जाता है जिनमे से एक पदार्थ के बिना दूसरा न रह सके।

एक ही वस्तु मे रहने वाला अस्तित्व विशेषण होने से प्रतिपेध्य (नास्तित्व) का अविनाभावी है, जैसे हेतु मे विशेषण होने से साधर्म्य वैधर्म्य का अविनाभावी होता है।[1]

अन्वय को साधर्म्य और व्यतिरेक को वैधर्म्य कहते है। हेतु के होने पर साध्य का होना अन्वय है। हेतु के अभाव मे साध्य का नही होना व्यतिरेक है। "पर्वत मे अग्नि है, धूम होने से। यहाँ धूम हेतु है और अग्नि साध्य है, जहाँ वह्नि नही होती वहाँ धुँआ भी नही होता, यह व्यतिरेक है।

यद्यपि न्याय दर्शन कुछ हेतुओ को केवल अन्वयी और कुछ हेतुओ को केवल व्यतिरेकी मानता है, पर जैन न्याय के अनुसार सूक्ष्मता से देखा जाये तो कोई भी हेतु न केवल अन्वयी होता है और न केवल व्यतिरेकी।

वौद्ध तत्व (स्वलक्षण) को सर्वथा अवाच्य मानते है। उसमे विधि-निषेध रूप व्यवहार सर्वथा सवृति (कल्पना) से होता है।

**वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है** – द्रव्य एक भी है और अनेक भी। सामान्य की अपेक्षा एक है और विशेप की अपेक्षा अनेक है। सामान्य सत्ता सभी पदार्थो मे समान रूप से रहती है। विशेष सत्ता सभी पदार्थो की भिन्न-भिन्न है। घट की सत्ता से पट की सत्ता भिन्न है। इस सामान्य सत्ता और विशेप सत्ता को तो 'पदार्थ की आत्मा' तक कह दिया गया है।[2]

हेमचद्राचार्य ने भी इसी मान्यता की पुष्टि की है कि "समस्त पदार्थ सामान्य की अपेक्षा अनेक होकर भी एक है और एक होकर भी विशेप की अपेक्षा अनेक है।[3]

अद्वैतवादी, मीमासक और साख्य सामान्य को ही सत् रूप मे स्वीकार

1 अभिन्न भेदविवक्षया" आ मी। 1 17
2 सामान्यविशेपात्मा तदर्थो विपय। परीक्षामुख 4 1
3 अन्ययो व्य 14 एव आ मी 2 34

करते है, बौद्ध विशेष को ही सत् मानते है, न्याय-वैशेषिक सामान्य और विशेष को निरपेक्ष और भिन्न-भिन्न मानते है।[1]

परतु जैन दर्शन सामान्य-विशेषात्मक सत्ता युक्त को ही सत् मानता है। उसका स्पष्ट कथन है विशेष रहित सामान्य खरगोश के सीग के समान है और सामान्य रहित विशेष भी इसी प्रकार से असत् होता है।[2]

अशोक ने भी अपने ग्रन्थ मे एकात सामान्य विशेष का खडन करते हुए कहा कि जो अलग-अलग दिखने वाली पाँच अँगुलियो मे केवल सामान्य रूप को देखता है वह पुरुष अपने सिर पर सीग ही देखता है। अत विशेष को छोडकर मात्र पदार्थों मे सामान्य का ज्ञान होना असभव है।[3]

बौद्ध सामान्य और स्वलक्षण मे भेद मानते है। उनके अनुसार स्वलक्षण का कार्य अर्थक्रिया करना है, सामान्य कोई अर्थक्रिया नही करता। स्वलक्षण परमार्थसत् है और सामान्य सवृत्तसत् अर्थात् काल्पनिक है।[4]

जैनदर्शन वस्तु को विरोधी युगल से सिद्ध करते है। आचार्य समतभद्र के अनुसार "विरोधी धर्मो का अविरुद्ध सद्भाव प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सिद्ध है। वस्तु मे विरोधी धर्म का होना वस्तु को भी रुचिकर है, हम उनका निषेध नही कर सकते।[5]

सामान्य और विशेष को निरपेक्ष या अभिन्न मानना प्रमाणाभास हो सकता है, प्रमाण नही।[6]

हम सामान्य को शाश्वत और विशेप को अशाश्वत भी कह सकते है, क्योकि आचार्य समतभद्र ने स्पष्ट कहा है कि सामान्य की अपेक्षा वस्तु न उत्पन्न होती है और न नष्ट, परतु विशेष की अपेक्षा उत्पन्न भी होती है और नप्ट भी।[7]

---

1 स्याद्वाद्मजरी 14 120

2 निर्विशेप हि सामान्य भवेच्छ्शविपाणवत मी लो आवृ श्लो 10

3 एतासु पचस्ववभामनीपु ईक्षते स अशोकविरचित सामान्य द्रपणदिक्गन्थे उद्धृतेयम् स्याद्वाद 24 122

4 "यदेव अर्थक्रियाकारि स्वासामान्यलक्षणे" प्रमाण वा 2 3

5 विरुद्धमपि ससिद्ध तत्र के वयम्" अष्टस पृ 292

6 प्रमाण नयतत्वा 6 86 87

7 "न सामान्यात्मनो दयापि सत्" आ मी 1 57

वस्तु (सद्) का अर्थक्रियाकारी होना तभी सभव है जव उसमे विरोधी धर्मो का युगपत् अस्तित्व हो। विधि और निपेध रूप उभयधर्मो की एक साथ उपलब्धि मे ही अर्थक्रिया पायी जाती है जैसे वहिरग और अन्तरग कारणो से ही कार्य की निष्पत्ति होती है, इनके बिना नही।[1]

इस प्रकार जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार समस्त वस्तुओ मे सप्रतिपक्ष (विरोधी) धर्म पाया जाता है।[2] लोक मे जो कुछ है वह सव द्विपदावतार है, इसका समर्थन ठाणाग भी करता है।[3]

अनतधर्मात्मक वस्तु ही कार्य कर सकती है, इसकी पुष्टि स्वामी कार्तिकेय भी करते है। जो वस्तु अनेकातस्वरूप है वही नियम से कार्यकारी होती है। एकातरूप द्रव्य कार्यक्षम नही हो सकता, और जो कार्यक्षम नही होता उसे द्रव्य नही कह सकते, क्योकि परिणमन रहित नित्य द्रव्य न विनाश को प्राप्त होता है और न उत्पाद को, फिर वह कार्य कैसे करता है, और जो क्षण-क्षण मे विनाश को प्राप्त होता है वह भी अन्वयी द्रव्य से रहित होने के कारण कार्यकारी नही हो सकता।[4]

**नय का स्वरूप और उसकी व्याख्या.**—जब तक हम नयवाद की चर्चा नही करेंगे, हमारा विवेचन अधूरा रहेगा। सपूर्ण ज्ञान प्राप्ति के दो आधार माने गये है—प्रमाण और नय।[5] अनेकधर्मात्मक वस्तु को अखड रूप से ग्रहण करना प्रमाण है। इसे सकलादेश भी कहते है।[6]

नय वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करता है, साथ ही दूसरे नय की विवक्षा रखता है। दुर्नय एक धर्म को ग्रहण करके अन्य धर्मो का निराकरण करता है।[7]

नय की व्याख्या करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने कहा कि—अनेकान्तात्मक वस्तु मे विरोध के विना हेतु की मुख्यता से साध्यविशेप की यथार्थता के

1 एव विधिनिपेधा रुपाधिभि आ मी 1 21
2 एव सप्रतिपक्षे सर्वस्मिन्नेव वस्तुत्वेस्मिन्। उदधृतेयम् स्याद्वादरत्नाकर 5 88 34
3 ठाण 2 1
4 ज वत्थु अणेयत दीसए लोए "एयत पुण दव्व केरिस दव्व" परिणामेण विहीण वह वुणडपज्जयभिन्त तच्च किंपि साहदि। का प्रे 225 28
5 "प्रमाणनयैरधिगम"। त सू 1 6
6 तथा चोक्त सकामोदेश प्रमाणाधीन। स सि 1 6
7 अनेकस्यानेकरूपस्य, धी प्रमाणं तदशधी। नयो धर्मान्तरापेक्षी, दुर्नयस्तन्निरगवृति। अष्टशती मे उद्धृत पृ 35

करते है, बौद्ध विशेष को ही सत् मानते है, न्याय-वैशेषिक सामान्य और विशेष को निरपेक्ष और भिन्न-भिन्न मानते है।[1]

परतु जैन दर्शन सामान्य-विशेषात्मक सत्ता युक्त को ही सत् मानता है। उसका स्पष्ट कथन है विशेष रहित सामान्य खरगोश के सीग के समान है और सामान्य रहित विशेष भी इसी प्रकार से असत् होता है।[2]

अशोक ने भी अपने ग्रन्थ मे एकात सामान्य विशेष का खडन करते हुए कहा कि जो अलग-अलग दिखने वाली पाँच अँगुलियो मे केवल सामान्य रूप को देखता है वह पुरुष अपने सिर पर सीग ही देखता है। अत विशेष को छोडकर मात्र पदार्थो मे सामान्य का ज्ञान होना असभव है।[3]

बौद्ध सामान्य और स्वलक्षण मे भेद मानते है। उनके अनुसार स्वलक्षण का कार्य अर्थक्रिया करना है, सामान्य कोई अर्थक्रिया नही करता। स्वलक्षण परमार्थसत् है और सामान्य सवृत्तसत् अर्थात् काल्पनिक है।[4]

जैनदर्शन वस्तु को विरोधी युगल से सिद्ध करते है। आचार्य समतभद्र के अनुसार "विरोधी धर्मों का अविरुद्ध सद्भाव प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सिद्ध है। वस्तु मे विरोधी धर्म का होना वस्तु को भी रुचिकर है, हम उनका निषेध नही कर सकते।[5]

सामान्य और विशेष को निरपेक्ष या अभिन्न मानना प्रमाणाभास हो सकता है, प्रमाण नही।[6]

हम सामान्य को शाश्वत और विशेष को अशाश्वत भी कह सकते है, क्योकि आचार्य समतभद्र ने स्पष्ट कहा है कि सामान्य की अपेक्षा वस्तु न उत्पन्न होती है और न नष्ट, परतु विशेष की अपेक्षा उत्पन्न भी होती है और नष्ट भी।[7]

---

1 स्याद्वादमजरी 14 120

2 निर्विशेष हि सामान्य भवेच्छशविपाणवत मी लो आवृ श्लो 10

3 एतासु पचस्ववभासनीपु ईक्षते स अशोकविरचित सामान्य द्रपणदिक्गन्थे उद्धृतेयम् स्याद्वाद 24 122

4 "यदेव अर्थक्रियाकारि स्वासामान्यलक्षणे" प्रमाण वा 2 3

5 विरुद्धमपि ससिद्ध तत्र के वयम्" अष्टस पृ 292

6 प्रमाण नयतत्वा 6 86 87

7 "न मामान्यात्मनो दयापि सत्" आ मी 1 57

वस्तु (सद्) का अर्थक्रियाकारी होना तभी सभव है जब उसमे विरोधी धर्मों का युगपत् अस्तित्व हो। विधि और निपेध रूप उभयधर्मो की एक साथ उपलब्धि मे ही अर्थक्रिया पायी जाती है जैसे वहिरग और अन्तरग कारणो से ही कार्य की निष्पत्ति होती है, इनके विना नही।[1]

इस प्रकार जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार समस्त वस्तुओ मे सप्रतिपक्ष (विरोधी) धर्म पाया जाता है।[2] लोक मे जो कुछ है वह सव द्विपदावतार है, इसका समर्थन ठाणाग भी करता है।[3]

अनतधर्मात्मक वस्तु ही कार्य कर सकती है, इसकी पुष्टि स्वामी कार्तिकेय भी करते है। जो वस्तु अनेकातस्वरूप है वही नियम से कार्यकारी होती है। एकातरूप द्रव्य कार्यक्षम नही हो सकता, और जो कार्यक्षम नही होता उसे द्रव्य नही कह सकते, क्योकि परिणमन रहित नित्य द्रव्य न विनाश को प्राप्त होता है और न उत्पाद को, फिर वह कार्य कैसे करता है, और जो क्षण-क्षण मे विनाश को प्राप्त होता है वह भी अन्वयी द्रव्य से रहित होने के कारण कार्यकारी नही हो सकता।[4]

**नय का स्वरूप और उसकी व्याख्या** —जब तक हम नयवाद की चर्चा नही करेगे, हमारा विवेचन अधूरा रहेगा। सपूर्ण ज्ञान प्राप्ति के दो आधार माने गये है—प्रमाण और नय।[5] अनेकधर्मात्मक वस्तु को अखड रूप से ग्रहण करना प्रमाण है। इसे सकलादेश भी कहते है।[6]

नय वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करता है, साथ ही दूसरे नय की विवक्षा रखता है। दुर्नय एक धर्म को ग्रहण करके अन्य धर्मों का निराकरण करता है।[7]

नय की व्याख्या करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने कहा कि—अनेकान्तात्मक वस्तु मे विरोध के विना हेतु की मुख्यता से साध्यविशेप की यथार्थता के

1 एव विधिनिपेधा रुपाधिभि आ मी 1 21
2 एव सप्रतिपक्षे सर्वस्मिनेव वस्तुत्वेस्मिन्। उद्धृतेयम् स्याद्वादरत्नाकर 5 88 34
3 ठाण 2 1
4 ज वत्थु अणेयत दीसए लोए "एयत पुण दव्व केरिस दव्व" परिणामेण विहीण कह तच्च किंपि साहदि। का प्रे 225 28
5 "प्रमाणनयैरधिगम"। त सू 1 6
6 तथा चोक्त सकलादेश प्रमाणाधीन। स सि 1 6
7 अनेकस्यानेकरूपस्य, धी प्रमाण तदशधी। नयो धर्मान्तरापेक्षी, दुर्नयस्तन्निराकृति। पृ 35

करते है, बौद्ध विशेष को ही सत् मानते है, न्याय-वैशेषिक सामान्य और विशेष को निरपेक्ष और भिन्न-भिन्न मानते है।[1]

परतु जैन दर्शन सामान्य-विशेषात्मक सत्ता युक्त को ही सत् मानता है। उसका स्पष्ट कथन है विशेष रहित सामान्य खरगोश के सीग के समान है और सामान्य रहित विशेष भी इसी प्रकार से असत् होता है।[2]

अशोक ने भी अपने ग्रन्थ मे एकात सामान्य विशेष का खडन करते हुए कहा कि जो अलग-अलग दिखने वाली पाँच अँगुलियो मे केवल सामान्य रूप को देखता है वह पुरुष अपने सिर पर सीग ही देखता है। अत विशेष को छोडकर मात्र पदार्थो मे सामान्य का ज्ञान होना असभव है।[3]

बौद्ध सामान्य और स्वलक्षण मे भेद मानते है। उनके अनुसार स्वलक्षण का कार्य अर्थक्रिया करना है, सामान्य कोई अर्थक्रिया नही करता। स्वलक्षण परमार्थसत् है और सामान्य सवृत्तसत् अर्थात् काल्पनिक है।[4]

जैनदर्शन वस्तु को विरोधी युगल से सिद्ध करते है। आचार्य समतभद्र के अनुसार "विरोधी धर्मो का अविरुद्ध सद्भाव प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सिद्ध है। वस्तु मे विरोधी धर्म का होना वस्तु को भी रुचिकर है, हम उनका निषेध नही कर सकते।[5]

सामान्य और विशेष को निरपेक्ष या अभिन्न मानना प्रमाणाभास हो सकता है, प्रमाण नही।[6]

हम सामान्य को शाश्वत और विशेष को अशाश्वत भी कह सकते है, क्योकि आचार्य समतभद्र ने स्पष्ट कहा है कि सामान्य की अपेक्षा वस्तु न उत्पन्न होती है और न नष्ट, परतु विशेष की अपेक्षा उत्पन्न भी होती है और नष्ट भी।[7]

1 स्याद्वादमजरी 14 120

2 निर्विशेष हि सामान्य भवेच्छशविषाणवत मी लो आवृ श्लो 10

3 एतासु पचस्ववभासनीषु ईक्षते स अशोकविरचित सामान्य द्रपणदिक्ग्रन्थे उद्धृतेयम् स्याद्वाद 24 122

4 "यदेव अर्थक्रियाकारि स्वासामान्यलक्षणे" प्रमाण वा 2 3

5 विरुद्धमपि ससिद्ध तत्र के वयम्" अष्टस पृ 292

6 प्रमाण नयतत्वा 6 86 87

7 "न सामान्यात्मनो दयापि सत्" आ मी 1 57

वस्तु (सद्) का अर्थक्रियाकारी होना तभी सभव है जब उसमे विरोधी धर्मो का युगपत् अस्तित्व हो। विधि और निपेध रूप उभयधर्मो की एक साथ उपलब्धि मे ही अर्थक्रिया पायी जाती है जैसे वहिरग और अन्तरग कारणो से ही कार्य की निष्पत्ति होती है, इनके विना नही।[1]

इस प्रकार जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार समस्त वस्तुओ मे सप्रतिपक्ष (विरोधी) धर्म पाया जाता है।[2] लोक मे जो कुछ है वह सव द्विपदावतार है, इसका समर्थन ठाणाग भी करता है।[3]

अनतधर्मात्मक वस्तु ही कार्य कर सकती है, इसकी पुष्टि स्वामी कार्तिकेय भी करते है। जो वस्तु अनेकातस्वरूप है वही नियम से कार्यकारी होती है। एकातरूप द्रव्य कार्यक्षम नही हो सकता, और जो कार्यक्षम नही होता उसे द्रव्य नही कह सकते, क्योकि परिणमन रहित नित्य द्रव्य न विनाश को प्राप्त होता है और न उत्पाद को, फिर वह कार्य कैसे करता है, और जो क्षण-क्षण मे विनाश को प्राप्त होता है वह भी अन्वयी द्रव्य से रहित होने के कारण कार्यकारी नही हो सकता।[4]

**नय का स्वरूप और उसकी व्याख्या.**–जब तक हम नयवाद की चर्चा नही करेगे, हमारा विवेचन अधूरा रहेगा। सपूर्ण ज्ञान प्राप्ति के दो आधार माने गये है–प्रमाण और नय।[5] अनेकधर्मात्मक वस्तु को अखड रूप से ग्रहण करना प्रमाण है। इसे सकलादेश भी कहते है।[6]

नय वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करता है, साथ ही दूसरे नय की विवक्षा रखता है। दुर्नय एक धर्म को ग्रहण करके अन्य धर्मों का निराकरण करता है।[7]

नय की व्याख्या करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने कहा कि–अनेकान्तात्मक वस्तु मे विरोध के विना हेतु की मुख्यता से साध्यविशेप की यथार्थता के

1 एव विधिनिपेधा रुपाधिभि आ मी 1 21
2 एव सप्रतिपक्षे सर्वस्मिन्नेव वस्तुत्वेस्मिन्। उद्धृतेयम् स्याद्वादरत्नाकर 5 88 34
3 ठाण 2 1
4 ज वत्थु अणेयत दीसए लोए "एयत पुण दव्व वेरिस दव्व" परिणामेण विहीण नह गुणपज्जयभिन्न सव्व विपि माहदि। का प्रे 225 28
5 "प्रमाणनयैरधिगम"। त सू 1 6
6 तथा चोक्त सकलादेश प्रमाणाधीन। स सि 1 6
7 अनेकस्यानेकरूपस्य, धी प्रमाण तदशधी। नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृति। अष्टशती मे उद्धृत पृ 35

प्राप्त कराने मे समर्थ प्रयोग को नय कहते है।[1]

यहाँ यह भी प्रश्न हो सकता है कि वस्तु तो अनतधर्मात्मक है, तब उसके एक अश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को नय कैसे कहते है। इसका समाधान यही है कि नय के अभाव मे स्याद्वाद की व्याख्या सभव नही है। जो एकातवाद या आग्रह से अपनी मुक्ति चाहता है उसे नय को जानना अत्यत आवश्यक है।[2]

अनेकात की सिद्धि मे नय की वही भूमिका है जो सम्यक्त्व मे श्रद्धा की, गुणो मे तप की और ध्यान मे एकाग्रता की है।[3] नय को विकलादेश भी कहते है।[4]

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि नय प्रमाण है या अप्रमाण। इसका समाधान हाँ मे भी नही दिया जा सकता और ना मे भी नही। जैसे घडे मे भरे समुद्र के जल को न समुद्र कहा जाता है न असमुद्र।[5] जैसे घडे का जल समुद्रैकदेश है समुद्र नही, वैसे ही नय प्रमाणैकदेश है अप्रमाण नही। अन्तर इतना है कि प्रमाण मे पूर्ण वस्तु का ग्रहण होता है और नय मे वस्तु के किसी एक पक्ष का।

पूर्व मे हम इन्ही प्रमाणैकदेश भूत नयो के द्वारा वस्तु मे सप्रतिपक्षत्व, वाच्यावाच्यत्व आदि धर्मों का प्रतिपादन कर आये है। यहाँ इन वस्तुधर्मो को अन्य भारतीय दर्शनो मे किसने और किस स्वरूप मे स्वीकार किया है, इसका अगुलिनिर्देश निम्न अनुच्छेदो मे किया जा रहा है।

## विभिन्न वस्तुधर्मो के विषय में दार्शनिक तुलना

**सद्-असद्**.– जैन दर्शन तो वस्तु को सदसदात्मक मानता ही है, परतु **वैशेषिक दर्शन** मे भी महर्षि कणाद ने अन्योन्याभाव के निरूपण मे वस्तु को उभयरूप ही स्वीकार किया है।[6]

---

1 स सि 133 241

2 नयचक्र 175

3 नयचक्र 176

4 स सि 1 6 24

5 "नाय वस्तु यपोच्यते" तत्वार्थश्लोक 1 6

6 सच्चासत्। यच्चान्यदसदतस्तदसत् वैशेपिक द अ 9 आ 1 सू 4 5 उद्धृत चपाबाई अभि ग्र 250

गौतम ऋषि के न्यायसूत्र की वैदिक वृत्ति मे 'कर्म से उत्पन्न होने वाला फल उत्पत्ति से पूर्व सत् है अथवा असत्'? इस प्रश्न के उत्तर मे "उत्पाद व्यय दर्शनात्" (4 1 49 न्या ) इस सूत्र की टीका मे हूवहू जैनदर्शन के समान ही वस्तु की सदसदात्मकता प्रतिपादित की गयी है।[1]

**भेद-अभेद.**–वेदान्त दर्शन ने भी भेदाभेद को स्वीकार किया है। व्यास रचित व्रह्मसूत्र पर भास्कराचार्य ने अपने भाष्य मे "शब्दान्तराच्च" (2 1 18) सूत्र पर स्वीकार किया है कि वस्तु मे अत्यत भेद स्वीकार नही किया जा सकता।[2]

**अद्वैत.**– अभिन्नवाद मे भी भेदाभेद की चर्चा उपलब्ध होती है। विद्यारण्य स्वामी कार्यकारण सिद्धात पर चर्चा करते हुए अपने ग्रन्थ मे लिखते है 'घडा मिट्टी से न तो एकात रूप से भिन्न है और न अभिन्न'।[3]

**सामान्य विशेष.**–कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रन्थ मे वस्तु के स्वरूप को स्पष्टत सामान्य-विशेषात्मक स्वीकार किया है।[4]

यद्यपि भिन्न-भिन्न दर्शनो मे उपरोक्त विरोधी युगलो का प्रतिपादन उपलब्ध होता है, परतु जिस प्रकार का तर्कयुक्त और स्पष्ट प्रतिपादन जैन दर्शन मे है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इतर दर्शनो मे सप्रतिपक्ष वस्तु का विवेचन अपवाद रूप मे ही उपलब्ध होता है।

यद्यपि नय मे वस्तु के एक ही अश को ग्रहण किया जाता है, फिर भी अन्य सभी धर्मो की अपेक्षा रहती है। प्रमाण तत् और अतत् सभी, को जानता है। नय मे केवल तत् की प्रतीति होती है।[5]

सापेक्षता नय का प्राण है। जो पर पक्ष का निषेध करके अपने ही पक्ष मे आग्रह रखते है, वे सारे मिथ्या है।[6] जव वे परस्पर सापेक्ष और अन्योन्याश्रित होते है तव सम्यग् होते है, जैसे मणियाँ जव तक धागे मे पिरोई

---

1 वैदिकी वृत्ति उद्धृत वही

2 वही पृ 251

3 म घटो ना मृदो मनविक्षणात्। वही

4 वही पृ 251 52

5 धर्मांतरादान्योपक्षा तदन्यनिराकृतेश्च अष्ट पृ 290

6 निरपेक्षा तेर्थकृत आ मी

नही जाती तव तक माला नही वनती।[1]

वस्तु जव अनतधर्मात्मक है तव स्वाभाविक रूप से उनके धर्म को ग्रहण करने वाले अभिप्राय भी अनत है और उन अनत अभिप्रायो के कारण नय भी अनत है,[2] फिर भी इन्हे मुख्यरूप से दो भागो मे बाँटा गया है।

वस्तु स्वरूपत अभेद है और अपने मे मौलिक है, परतु गुण और पर्याय के धर्मो द्वारा अनेक है। अभेदग्राही दृष्टि द्रव्यार्थिक नय और भेदग्राही दृष्टि पर्यायार्थिक नय कहलाती है।[3]

स्वामी कार्तिकेय ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है-युक्ति के बल से जो पर्यायो को कहता है वह पर्यायार्थिक[4] और जो वस्तु के सामान्य स्वरूप को कहता है वह द्रव्यार्थिक नय है।[5]

नयो की अपेक्षा से ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चार निक्षेपो का विभाग इस प्रकार होता है-पर्यायार्थिक नय मात्र भावनिक्षेप को तथा द्रव्यार्थिक नय अवशिष्ट तीनो को ग्रहण करता है।[6]

दोनो नय मिलकर ही सत् के लक्षण ग्रहण करते है, क्योकि सत् का लक्षण सामान्य और विशेष दोनो से मिलकर बनता है।[7]

द्रव्यार्थिक नय का वक्तव्य पर्यायार्थिक की दृष्टि मे अवस्तु है और पर्यायार्थिक नय का वक्तव्य दृव्यार्थिक की अपेक्षा अवस्तु है। क्योकि द्रव्यार्थिक नय मात्र सामान्य को ही देखता है और पर्यायार्थिक नय मात्र विशेष को ही देखता है।[8]

अगर एक ही नय से वस्तुधर्मो को ग्रहण करे तो सद् मे परिणमन सभव नही है क्योकि यदि मात्र द्रव्यार्थिक नय को स्वीकार करे तव तो ससार मे परिवर्तन सभव ही नही, क्योकि यह नय मात्र शाश्वत की अपेक्षा

---

1 जहणेय लक्खणगुणा विसेससण्णाओ। स त 1 22 25

2 जावइया वयणपहा णयवाया। स त 3 47

3 दव्वट्ठियवत्तव्व पज्जव्व वत्तव्वभग्गोय, स त 1 29

4 का प्रे 10 270

5 वही 10 269

6 स सि 1 24 116

7 एए पुण सगहओ मूलणया स त 1 13

8 स त 1 11

कथन करता है और मात्र पर्यायार्थिक नय मे भी ससार मात्र सभव नही, क्योकि यह अशाश्वत धर्मो की अपेक्षा कथन करता है।[1]

सुख-दु ख की कल्पना नित्यानित्य पक्ष मे ही सभव है।[2]

पुद्गलो के योग होने से कर्मबध होता है और कषाय के कारण बधे हुए कर्मो की स्थिति का निर्माण होता है। एकात रूप से क्षणिक या शाश्वत बध एव स्थिति का निर्माण असभव है।[3]

बध और स्थिति के अभाव मे न ससार मे भय की प्रचुरता होगी और न मुक्ति की आकाक्षा।[4]

आध्यात्मिक दृष्टि से भी निश्चयनय और व्यवहारनय की ही मान्यता है।[5]

कुदकुदाचार्य ने निश्चयनय को भूतार्थ अर्थात् वस्तु के शुद्ध स्वरूप का ग्राहक और व्यवहारनय को अभूतार्थ अर्थात् वस्तु के अशुद्धस्वरूप का विवेचक कहा है।[6]

**षड्द्रव्यो का विभाजन**·–जैनदर्शन ने द्रव्यो की सख्या छ स्वीकार की है। उन छ द्रव्यो के विभिन्न विभाजन है, वे यहाँ (अपेक्षा से) प्रस्तुत है।

**चेतन-अचेतन की अपेक्षा** –द्रव्य दो है जीव और अजीव। चेतना और उपयोग जीव के लक्षण है इनके विपरीत लक्षणो वाला अजीव है।[7]

**मूर्त-अमूर्त की अपेक्षा.**–आकाश, काल, जीव, धर्म और अधर्म अमूर्त है, पुद्गल द्रव्य मूर्त है।[8]

**क्रियावान् और भाववान् की अपेक्षा** –धर्म, अधर्म, काल और आकाश निष्क्रिय है, पुद्गल और जीव सक्रिय है। यह बात अर्थापत्ति से प्राप्त हो जाती है।[9]

---

1 म त 1 17

2 स त 1 18

3 जम्हा जोगनिमित्त बधट्ठिइकारण णत्थि म त 1 19

4 बंधम्मि अपूरन्ते णत्थि मोक्खोय। म त 1 20

5 नयसार गा 183

6 ववहारो भूदत्थो हवदि जीवो स सा 11

7 प्रवचनसार 127 प का 124

8 प का 97

9 अधिकृतानां धर्माधर्माकाशानां सक्रियत्वमर्थादापन्नम् स सि 5 7 273

प्रवचन सार के अनुसार पुद्गल और जीव भाव वाले और क्रिया वाले होते है, क्योकि परिणाम, सघात और भेद के द्वारा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य को प्राप्त करते है। शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल मात्र भाववान् है, क्योकि केवल परिणाम द्वारा ही उनमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता है। भाव का लक्षण परिणाम मात्र है और क्रिया का लक्षण परिस्पदन।[1]

**एक और अनेक की अपेक्षा.**—धर्म, अधर्म और आकाश-द्रव्य की अपेक्षा एक ही है, जीव और पुद्गल अनेक है।[2] वसुनन्दि ने जीव और पुद्गल की तरह व्यवहार काल को भी अनेकरूप माना है।[3]

**परिणामी और नित्य की अपेक्षा** —स्वभाव तथा विभाव परिणामो से जीव तथा पुद्गल परिणामी है, शेप चार द्रव्य विभावव्यजन पर्याय के अभाव की मुख्यता से अपरिणामी है।[4]

**सप्रदेशी और अप्रदेशी की अपेक्षा.**—लोक प्रमाण मात्र असख्यप्रदेशयुक्त जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल सप्रदेशी है, काल अप्रदेशी है, क्योकि उसमे कायत्व नही है।[5]

इन धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव को प्रदेशो के समूहयुक्त होने के कारण ही अस्तिकाय कहते है। काल मे प्रदेशो का अभाव है, अत नास्तिकाय है।[6] इसे अप्रदेशी भी कहते है।

**क्षेत्रवान् एव अक्षेत्रवान् की अपेक्षा** —सभी द्रव्यो को अवकाश देने के कारण मात्र आकाश ही क्षेत्रवान् है, अन्य पाँचो अक्षेत्रवान् है।[7]

**सर्वगत एव असर्वगत की अपेक्षा.**—लोक और अलोक मे व्याप्त होने की अपेक्षा से आकाश को सर्वगत कहा जाता है। लोकाकाश मे व्याप्त होने के कारण धर्म और अधर्म भी सर्वगत है। एक जीव की अपेक्षा से जीव असर्वगत है, परतु लोकपूरण समुद्घात कीअवस्था मे एक जीव की अपेक्षा से सर्वगत

1 क्रियाभाववत्वेन क्रियाश्वतश्च भवन्ति। प्र सा त प्र 129
2 धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्य च मेकद्रव्यत्वम्। रा वा 5 6 6 445
3 धम्माधम्मागासा ववहारकालपुग्गलजीवा हु अणेयरुवति वसु श्रा 30
4 वृ द स अधिकार प्रथम की चूलिका द्वय
5 व्र द स अधिकार की चूलिका 1 2
6 प का टी 22 वृहद् द्र स 1 की चूलिका 1 2
7 वृ द्र स अधिकार 1 की चूलिका 1 2

है। भिन्न-भिन्न जीवो की अपेक्षा तो सर्वगत होता ही है। पुद्गलद्रव्य लोकव्यापक महास्कध की अपेक्षा से सर्वगत है ही, शेष पुद्गलो की अपेक्षा से असर्वगत है। कालद्रव्य भी एक कालाणुद्रव्य की अपेक्षा से सर्वगत नही है। लोकाकाश के प्रदेश के बराबर भिन्न-भिन्न कालाणुओ की विवक्षा से कालद्रव्य लोक मे सर्वगत है।[1]

**कारण और अकारण की अपेक्षा.**—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल व्यवहार नय से जीव के शरीर, वाणी, मन, प्राण, उच्छ्वास, गति, स्थिति, अवगाहन और वर्तनारूप कार्य करते है, अत कारण है। जीव-जीव का तो गुरु शिष्य रूप मे उपकार करते है, परतु अन्य पाँचो द्रव्यो का कुछ भी नही करते, अत अकारण है।[2]

**कर्ता और भोक्ता की अपेक्षा.**—शुद्धद्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जीव यद्यपि बध-मोक्ष, द्रव्य-भावरूप पुण्य-पाप और घट-पटादिका अकर्ता है तो भी अशुद्ध निश्चय से शुभ और अशुभ के उपयोग मे परिणमित होकर पुण्य पाप का कर्ता और उनके फल का भोक्ता बनता है। विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावी शुद्ध आत्मद्रव्य के सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और अनुष्ठान रूप शुद्धोपयोग से परिणमित होकर मोक्ष का भी कर्ता और उसका भोक्ता बनता है। अवशिष्ट पाँचो का अपने-अपने परिणाम से जो परिणमन है वही कर्तृत्व है, पुण्य पाप की अपेक्षा तो अकर्तृत्व ही है।[3]

**उपादान और निमित्त कारण की अपेक्षा.**—कार्य की उत्पत्ति मे उपादान और निमित्त का क्या स्वरूप है, इस सबध मे चर्चा किये बिना द्रव्य के स्वरूप को समझने मे अपूर्णता ही रहेगी। जैसे घट मे, घट का उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्हार है।

जो द्रव्य तीनो कालो मे अपने रूप का कथचित् त्याग और कथचित् त्याग न करता हुआ पूर्वरूप से और अपूर्वरूप से विद्यमान रहता है वही उपादान कारण होता है।[4]

द्रव्य का न सामान्य (शाश्वत) अश और न विशेष (क्षणिक) अश

1 वही
2 वही
3 बृहद् द्रव्य सग्रह मे प्रथम अधिकार की चूलिका
4 [illegible] उपादानमिति स्मृतम् अष्टस पृ 10 मे उद्धृत

उपादान होता है, परतु कथचित् अशाश्वत और कथचित् शाश्वत ही द्रव्य का उपादान कारण हो सकता है।[1]

उपादान मे कारणकार्यभाव विद्यमान रहता है। इसे स्वामी कार्तिकेय ने स्पष्ट किया है कि पूर्वपरिणाम से युक्त द्रव्य कारणरूप से प्रवर्तित होता है और उत्तरपरिणाम से युक्त वही द्रव्य नियम से कार्य होता है।[2]

स्वामी विद्यानद के अनुसार उपादान का पूर्व आकृति से विनाश कार्य का उत्पाद है, क्योकि ये दोनो एक हेतु से है, ऐसा नियम है।[3] स्वामी पूज्यपाद के अनुसार जिस प्रकार गति क्रिया का निमित्त धर्मास्तिकाय है उसी प्रकार अन्य सब बाह्य पदार्थ निमित्त मात्र होते है। कोई अज्ञ विज्ञता को प्राप्त नही होता और विज्ञ अज्ञता को प्राप्त नही करता, मात्र उपादान की योग्यता के अनुसार बाह्य निमित्त सहायक होते है।

कार्तिकेय ने भी इसी मान्यता का समर्थन किया है। सभी द्रव्य अपने-अपने परिणमन के उपादान (मुख्य) कारण है अन्य बाह्य द्रव्य तो मात्र निमित्त है।

प्रत्येक सत् या द्रव्य पूर्वपर्याय को छोडकर प्रतिक्षण उत्तरपर्याय को धारण करता है। यह परिवर्तन सदृश या विसदृश, दोनो प्रकार का होता है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और शुद्ध जीवद्रव्य के परिणमन सदा एक से होते है। इनमे वैभाविक शक्ति नही है। शुद्ध जीव मे वैभाविक शक्ति का सदा स्वाभाविक परिणमन होता है। इस पर निमित्त का कोई प्रभाव नही होता।

ससारीजीव और पुद्गल मे वैभाविक शक्ति है। जिस-जिस प्रकार की सामग्री उपलब्ध होती है वैसे ही ये बदलते जाते है। यद्यपि सर्वथा असद्भूत परिवर्तन लाने की क्षमता नैमित्तिक कारण मे नही है, जैसे लाख प्रयत्न करने पर भी पत्थर से तैल नही मिलता। परिणाम का अर्थ भी यही है।[4]

---

1 यत् स्वरूप शाश्वत यथा त। जैन त मी मे पृ 47 मे उद्धृत

2 पुव्वपरिणामजुत्त णियमा का प्रे 230

3 जैन त मी पृ 49 पर उद्धृत। "नाज्ञोविज्ञत्वमायाति धर्मास्तिकायवत्।" इष्टोपदेश 35

4 तद्भाव परिणाम त सू 5 42

# 3

# जैन दर्शन के अनुसार आत्मा

'आत्मा' शब्द की व्युत्पत्ति है 'अतति-गच्छति-जानाति इति आत्मा' अर्थात् शुभ, अशुभ रूप कायिक, वाचिक एव मानसिक व्यापार यथासभव तीव्र मद आदि रूपो मे समग्रत ज्ञान आदि गुणो मे रहते है। ज्ञानादिगुण आत्मा द्रव्य के है। अत उपर्युक्त व्युत्पत्ति सार्थक है।

जैन दर्शन ने आत्मा के जिस स्वरूप का प्रतिपादन शताब्दियो पूर्व किया था, अद्यपर्यत वही स्वरूप उसी रूप से स्थापित है। उत्तरवर्ती तार्किकप्रतिभासपन्न दार्शनिक आचार्यो ने उस स्वरूप को अपनी प्रखर तर्क शैली से सिद्ध किया, और उस स्वरूप मे परिवर्तन नही आने दिया।

'आत्मवाद या आत्मा भारतीय दर्शन की आत्मा ही है' कहे तो अतिशयोक्ति नही होगी; क्योकि भारतीय दार्शनिको के सपूर्ण चितन का केन्द्रबिन्दु आत्मा ही रही है, और सारा दर्शन इसी के इर्द-गिर्द घूमता-सा प्रतीत [illegible] है।

'आत्मवाद' शब्द का प्रयोग हमे अति-प्राचीन जैन [illegible] के रूप मे स्थापित 'आचाराग' मे भी उपलब्ध होता है।[1] [illegible] को विज्ञाता और विज्ञाता को ही आत्मा कहा है। [illegible] का व्यपदेश (व्यवहार) होता है।[2]

इस सूत्र के द्वारा आत्मा की दो [illegible] द्रव्याश्रित और द्वितीय गुणाश्रित है। चेतन '[illegible] (ज्ञान) उसका गुण है। चेतन प्रत्यक्ष नही [illegible] होता है।

यहाँ एक प्रश्न सभव है कि [illegible]

---

1 से आयावाई, लोयावाई [illegible]

2 जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया [illegible]

की तरह आत्मा भी अनेक हो जायेगी? इस प्रश्न का ममाधान 'भगवती' मे उपलब्ध होता है। घट, पट, रथ, अश्व आदि ज्ञेयो मे परिणत ज्ञान के आधार पर घटज्ञानी, आत्मा को ही पटज्ञानी, रथज्ञानी, अश्वज्ञानी आदि कहा जाता है।[1] आत्मा जिस समय ज्ञान के जिस परिणमन मे परिणत होती है उसी के आधार पर आत्मा का व्यपदेश अर्थात् व्यवहार होता है।

लोकराशि दो ही प्रकार की मानी है—जीव राशि और अजीव राशि।[2] और लोक मे शाश्वत क्या है? इस प्रश्न का ममाधान दिया गया है कि जीव और अजीव दोनो शाश्वत है।[3]

चूँकि अजीव का महत्व जीव के कारण ही है, क्योकि अजीव स्वय भोक्ता नही है, अपितु जीव ही अजीव का भोक्ता है।[4] अगर जीव न रहे तो सृष्टि का कोई मूल्य नही है, पर ऐसा समय सभव ही नही है कि सृष्टि जीवरहित कभी हो।

षड्द्रव्यो मे जीव को अस्तिकाय कहा है।[5] अस्तिकाय के स्वरूप के सबध मे जब गौतम स्वामी ने यह पूछा कि अस्तिकाय का स्वरूप क्या है? तब प्रभु महावीर ने कहा—जैसे चक्र का, छत्र का, चर्मरत्न का, दड का, दुष्यपट्ट का, आयुध का, मोदक का खड या टुकडा क्रमश चक्र, छत्र, रत्न, दड, दुष्यपट्ट या आयुध, मोदक नही कहला सकता, वैसे ही अस्तिकाय के एक प्रदेश को अस्तिकाय नही कहते, परन्तु सम्पूर्ण तत्व को ही अस्तिकाय कहते है।[6] मिट्टी के अभाव मे जिस प्रकार घट का निर्माण असभव है, वैसे ही आत्मा के अभाव मे सृष्टि का व्यापार भी असभव है।

**आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि.**—जिस प्रकार हमे घट, पट आदि पुद्गल द्रव्य की पर्यायो के दर्शन होते है, वैसे हमे आत्मा के दर्शन नही होते। इसकी प्रतीति हमे कारण व्यापार द्वारा होती है। सारथी जिस प्रकार से रथादि का सचालन करता है, आत्मा भी उसी प्रकार से शरीर का नियत्रण करती

---

1 भगवती 6 174

2 "दो रासी पण्णता त जहा जीवरासी चेव अजीवरासी चेव" ठाण 2 392

3 "के सासया लोगे? जीवच्चेव अजीवच्चेव" ठाण 2 419

4 भगवती 25 4 4

5 भगवती 2 10 1

6 भगवती 2 10 4, (3)

है। आत्मा ज्योही शरीर का त्याग कर देती है त्यो ही सुदर, स्वस्थ, प्रिय शरीर को आग के सुपुर्द कर दिया जाता है। इससे अनुमान लगाया जाता है कि शरीर से भिन्न कोई तत्त्व या सत्ता अवश्य होनी चाहिए।

आत्मा इन्द्रियो से भिन्न है, क्योकि इन्द्रियो के नष्ट हो जाने पर भी इन्द्रियो द्वारा ज्ञात वस्तुओ की स्मृति विद्यमान रहती है।[1]

आत्मा इन्द्रियो से भिन्न है, क्योकि कई बार इन्द्रियो का व्यापार होने पर भी पदार्थों की उपलब्धि नही होती। आँख, कान सक्षम है, फिर भी पदार्थों का ग्रहण नही होना यही प्रतीति कराता है कि इनके अतिरिक्त कुछ और भी है और वही आत्मा है।[2]

आत्मा इन्द्रियभिन्न नही होती तो एक इन्द्रियविकार दूसरी इन्द्रिय को प्रभावित नही करता। इमली को आँख से देखा, पर तुरत जिह्वा प्रभावित हो गयी। इससे इन्द्रिय से भिन्न आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति होती है।[3]

अगर आत्मा का अस्तित्व भिन्न नही होता तो आँख से घडा देखकर शरीर रूप इन्द्रिय आवश्यकता होने पर क्यो ग्रहण करता?[4]

इसी प्रकार "मै" सुखी-दु खी आदि का सवेदन आत्मा के अस्तित्व की ही अनुभूति कराते है। आत्मा के अस्तित्व को नकारना स्वय के अस्तित्व को ही नकारना है।

**आत्मा प्रमाण सिद्ध है.**—भारतीय दर्शन मे चूँकि आत्मा सर्वोत्कृष्ट एव महत्वपूर्ण प्रमेय रहा है, अत उसके सबध मे सभी दर्शनो ने अपने-अपने स्तर से विचार प्रस्तुत किया है। एक चितक है—चार्वाक, जो भूतचतुष्टय मे चैतन्य की उत्पत्ति मानता है। इसे भूतचैतन्यवाद कहते है। दूसरा चितन है आत्मवाद।

जैन दर्शन आत्मवादी है। चार्वाक पृथ्वी, पानी, हवा और तेज के उचित अनुपात के मिश्रण मे चैतन्य की उत्पत्ति मानता है। इन चार भूतो के अतिरिक्त पाँचवे किसी भी तत्व की मान्यता चार्वाक दर्शन मे नही मिलती। षड्दर्शन

---

1 षड्दर्शनसमु टी 49 157
2 षड्दर्शन समु टी 49 158
3 वही 49 159
4 वही 49 160

समुच्चय की टीका मे गुणरत्नसूरि ने इसके प्रत्युत्तर प्रस्तुत किये है। गुणरत्नसूरि ने आत्मा को निम्नलिखित तर्को से प्रमाणित किया है।

गुणरत्नसूरि के अनुसार आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, क्योकि ज्ञान गुण का प्रत्यक्ष होता है, अत आत्मा को प्रत्यक्षसिद्ध मानना चाहिये।[1] स्मृति, जिज्ञासा, आकाक्षा, घूमने आदि की इच्छा इत्यादि आत्मा के गुणो का स्वसवेदन प्रत्यक्ष मे अनुभव होता है। चूँकि गुण प्रत्यक्ष है, अत गुणी भी प्रत्यक्ष है।

जैसा कि चार्वाक दर्शन मानता है कि भूतचतुष्टय के मिश्रण से चैतन्य उत्पन्न होता है, तो उनका मिश्रण करने वाला कोई तत्व भी तो होना चाहिए, और वह आत्मा के अतिरिक्त कौन हो सकता है? अगर कोई तत्व नही है तो घट, पट आदि जितने पदार्थ है उन सभी को चैतन्ययुक्त होना चाहिए क्योकि भूतो की सत्ता तो सर्वत्र है, परतु प्रत्येक भूतचतुष्टय युक्त पदार्थ चैतन्य नही बनता। अत स्पष्ट है कि चैतन्य भूत का नही, अपितु आत्मा का लक्षण है।[2] इसके अतिरिक्त निम्न लिखित तर्को से भी आत्मा सिद्ध होती है।

(1) ज्ञान प्राप्ति के माध्यम कान, मुँह आदि उपकरण किसी से प्रेरित होकर ही अपनी क्रियाएँ सपन्न करते है। इन इन्द्रिय रूपी गवाक्षो से ज्ञान का ग्राहक आत्मा ही है।[3]

आचार्य पूज्यपाद ने भी आत्मा का अस्तित्व इसी प्रकार से प्रतिपादित किया है—जिस प्रकार यत्र प्रतिमा की चेष्टाएँ अपने प्रयोक्ता का ज्ञान कराती है वैसे ही प्राण, अपान आदि क्रियाएँ भी आत्मा का ज्ञान कराती है।[4]

(2) यह ससरणशील शरीर किसी की प्रेरणा से ही चल सकता है, जैसे रथ सारथी की इच्छानुसार चलता है। खाने की या पीने की इच्छा होने पर तदनुसार प्रवृत्ति करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रवृत्ति कराने वाला कोई और है, और वही आत्मा है।[5]

(3) इस शरीर को इस आकृति मे किसी ने बनाया है जैसे घट का निर्माता कुम्हार है, वैसे ही समस्त कार्यो का कोई उत्पादक है। शरीर का जो

1 षड्दर्शन समु टी 49 120

2 वही 49 119

3 वही 49 123

4 "यथा यत्रप्रतिमाचेष्टित साधयति" वस सि 5 19 563

5 वही, प्रशस्त भा पृ 69, प्रश व्यो पृ 402, न्यायकुसु पृ 349

निर्माता है वही आत्मा है।

(4) इस शरीर का कोई स्वामी अवश्य होना चाहिए, क्योकि इन्द्रियाँ तो उपकरण या साधन मात्र है। जैसे घट निर्माण मे महयोगी औजारो का मालिक कुम्हार है, वैसे ही इन इन्द्रिय रूप औजारो का स्वामी आत्मा है।

(5) यह शरीर तो जड है, और जड का भोक्ता चेतन ही होता है।[1]

(6) रूप, रस आदि अनेक प्रकार के ज्ञान किसी आश्रय-भूत द्रव्य मे ही रहते है। जैमे रूप घट का आश्रित है, वैमे ही ज्ञान का आश्रय आत्मा है।

(7) ज्ञान, मुख आदि का कोई न कोई उपादान कारण अवश्य होना चाहिए जैमे घट का उपादान मिट्टी है, इसी तरह ज्ञान, मुख आदि का जो उपादान कारण है और ज्ञानी, सुखी आदि वनता है, वही आत्मा है।[2] (उपादान कारण को हम द्वितीय अध्याय मे म्पष्ट कर आये है।)

(8) चाहे जीव हो या अजीव, ममस्त पदार्थ द्विपदावतार (सप्रतिपक्ष) होते है।[3] जहाँ जीव है वहाँ अजीव भी है यह अजीव निपेधात्मक है। जिम निपेधात्मक शव्द का प्रतिपक्षी अर्थ न हो तो ममझना चाहिये कि वह या तो व्युत्पत्तिमिद्ध शव्द का निपेध नही करता या फिर शुद्ध शव्द का किन्तु किमी रूढ शव्द या मयुक्त शव्द का निपेध करता है, जैसे- अखरविपाण।[4]

(9) मामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा भी आत्मा की मिद्धि हो मकती है। म्वय की क्रिया जैमी क्रिया अन्य शरीर मे भी देखकर आत्मा की मिद्धि हो मकती है। इम प्रकार की क्रिया देखकर हम आत्मा के अम्तित्व का अनुमान कर मकते है। प्रिय मे आकर्षण और अप्रिय मे विकर्षण का निर्णायक आत्मा ही वनती है। परतु यदि घट पर भयकर मर्प चढ जाय तो भी घट मे आकर्षण या विकर्षण जैसा कोई अतर नही आता।[5]

1 षड्दर्शन टी 49 123
2 षड्दर्शन टी 49 125
3 ठाण 2 1,
4 षड्दर्शन टी 49 125
5 वही 49 126

जैसे प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणो से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है, वैसे ही आगम (शब्द), उपमान और अर्थापत्ति द्वारा भी आत्मा प्रमाणसिद्ध है।[1]

**जिनभद्रसूरि के अनुसार आत्मसिद्धि :**—जैसे गुण और गुणी की अभिन्नता है, वैसे ही स्मरण आदि गुणो से जीव भी प्रत्यक्ष सिद्ध है।[2] इन्द्रियाँ कारण है। अत इनका कोई अधिष्ठाता अवश्य होना चाहिये। वह अधिष्ठाता ही आत्मा है।[3] शरीर सावयव और सादि है, अत घट की तरह इसका भी कोई कर्त्ता है। जिसका कोई कर्त्ता नही है, उसका निश्चित आकार नही होता। शरीर का कर्त्ता आत्मा है।[4] विषय और इन्द्रियो के मध्य कोई ऐसा तत्व अवश्य होना चाहिए जो ग्राहक हो, और वह आत्मा है।[5]

जिस प्रकार भोजन, वस्त्र आदि का कोई भोक्ता अवश्य होता है, उसी प्रकार शरीर का भी कोई भोक्ता होना चाहिये, और वह भोक्ता आत्मा ही हो सकता है।[6]

इसी प्रकार शरीरादि के 'सघातरूप मे,[7] सशय के रूप मे,[8] अजीव के प्रतिपक्षी के रूप मे, आत्मा का अस्तित्व है।

**अन्य आचार्यो के अनुसार आत्मसिद्धि:**—श्वासोच्छ्वास के रूप मे[9] एव प्राणापान के कारण[10] आत्मा का अस्तित्व है।

आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। इन्द्रियनिरपेक्ष आत्मजन्य केवलज्ञान रूप सकल प्रत्यक्ष के द्वारा शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष होता है। देश प्रत्यक्ष-अवधि और मन पर्यय के द्वारा कर्म- नोकर्म से युक्त आत्मा का प्रत्यक्ष होता है।[11]

इन्द्रियो से प्राप्त विभिन्न ज्ञानो मे आत्मा ही एकसूत्रता स्थापित करती

---

1 वही 49 127
2 गणधरवाद —1560 62
3 वही 1567
4 वही —1567
5 वही 1568
6 वही 1569
7 वही 1569
8 वही 1571
9 रा व 5 19 38 पृ 473
10 स्याद्वादम 17 174
11 रा वा 28 18 122

है।[1] किसी व्यक्ति को देखने मात्र से प्रियता और अप्रियता का भाव अचानक नही उठता, कही न कही उसके सुख-दु ख कारण का अनुभव हुआ होगा, इस प्रवृत्ति से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है।[2]

**आत्मा और उपनिषद्.**–अधिकाश भारतीय दार्शनिको ने चेतन और अचेतन को सृष्टि का मौलिक तत्व माना है। जैन दर्शन ने इन्हे जीव और अजीव, साख्य ने इसे प्रकृति और पुरुष, और बौद्ध ने इन्हे ही नाम और रूप के रूप मे प्रतिपादित किया है।

उपनिषद् का दृष्टिकोण अत्यत आत्मवादी रहा है। समस्त तत्वो मे आत्मा को ही श्रेष्ठतम तत्व कहा गया है।[3] जब याज्ञवल्क्य अपनी भौतिक सपदा का अपनी पत्नियो मे विभाजन करके सन्यस्त होने का निर्णय लेते है, तब उनकी पत्नी मैत्रेयी उनमे दीर्घ सवाद करती है। जिसका निष्कर्ष यह प्राप्त होता है कि "जिस सपत्ति से मै अमृत नही बन सकती, उसकी प्राप्ति निरर्थक है, जिसे पाकर अमृत बनूँ उसी का उपदेश दे।" तब याज्ञवल्क्य उन्हे इस प्रकार से आत्मा का उपदेश देते है- "आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान करने योग्य है।"

नचिकेता भी जब आत्म तत्व को जानने की प्रबल जिज्ञासा अभिव्यक्त करते है, तब[4] उन्हे यम अगणित भौतिक विभूतियो का प्रलोभन देकर आत्मा की जिज्ञासा से विरत करने का प्रयास करते है।[5] परन्तु नचिकेता सारी सासारिक विभूतियो को ठुकराकर मात्र आत्मतत्व जानने की ही इच्छा अभिव्यक्त करते है, तब यम आत्म स्वरूप को प्रकट करते है।[6]

छान्दोग्योपनिषद् मे आत्म विद्या को इतना महत्वपूर्ण माना है कि उसके समक्ष समस्त विद्याएँ निरर्थक और व्यर्थ है। नारदजी सनत्कुमार से कहते है, "मै चारो वेद, इतिहास, पुराण, गणित और सर्पादि विद्याओ का ज्ञाता हूँ, फिर भी आत्मविद्या के अभाव मे शोकाकुल हूँ।" उनकी शोकमुक्ति के

---

1 न्या या 2 8 19 पृ 122

2 न्याद 68 69 71 पृ 39

3 बृहदारण्यकोपनिषद् 2 4 1 3

4 वही 2 4 5

5 कठोपनिषद् 1 20

6 कठोपनिषद् 2 28

लिए सनत्कुमार उन्हे आत्मविद्या का ज्ञान प्रदान करते है।।[1]

## विभिन्न उपनिषदो मे आत्मा का स्वरूपः–

आत्मा क्या है इस सबध मे उपनिषद् मे विभिन्न मत दृष्टिगोचर होते है।

प्रजापति के शब्दो मे "पाप से निर्लिप्त, जन्म, जरा एव मृत्यु के शोक से रहित, भूख और व्याकुलता की पीडा से रहित आत्मा है।"[2]

बृहदारण्यकोपनिषद् मे "आत्मा को कर्त्ता, जागृत और मृत्यु की अवस्था मे एक समान रहने वाला तत्व कहा है।"[3]

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार "आत्मा और शरीर भिन्न है। आत्मा अशरीरी तथा अमर है। देखने और सूँघने का विचार करने वाला आत्मा है, आँख और नाक तो मात्र माध्यम है।"[4]

कठोपनिषद् के अनुसार "आत्मा न मरता है न उत्पन्न होता है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है।"[5] यह न तर्कगम्य है और न ही वेद के अध्ययन से प्राप्तियोग्य। यह मात्र प्रज्ञा द्वारा ही प्राप्त होता है।"[6]

याज्ञवल्क्य ने आत्मा के सबध मे अपने विचार इस प्रकार स्पष्ट किये है–"आत्मा विषय नही हो सकती।[7] आत्मा ही एकमात्र प्रीतियोग्य है। जो भी हम प्रीति करते है वह आत्मा के लिये है। जो कुछ भी प्रिय और मूल्यवान् है वह सब आत्मा के कारण है।"[8]

ऋषियो के "सोऽहं"[9] एव "अहम् ब्रह्मास्मि"[10] की अभिव्यक्ति मे अनुमान होता है कि आत्मा और ब्रह्म का उन्हे प्रत्यक्ष अनुभव हो गया था।

---

1 छान्दोग्योपनिषद् 8 1 2
2 छान्दोग्योपनिषद् 8 7 4
3 बृहदारण्यकोपनिषद् 4 4 3
4 छान्दोग्योपनिषद् 8 12 1, 2
5 कठोपनिषद् 1 2 18
6 कठोपनिषद् 1 2 23,
7 बृहदारण्यक उपनिषद् 4 5 15
8 वही 4 5 6
9 कौषीतकी उपनिषद् 1 6
10 बृहदारण्यउप 1 4 10

**उपनिषद् और आत्म स्वरूप की विभिन्नता** –आत्म म्वरूप के निर्धारण मे उपनिषद् निरतर प्रगति करता प्रतीत होता है, क्योकि विभिन्न उपनिषदो मे आत्मा के स्वरूप की भिन्नता म्पष्ट परिलक्षित होती है।

**देहात्मवाद.**–उपनिषद् के पुरम्कर्ता ऋषियो के मन मे जब यह चितन चला कि बाह्य विश्व को गौण कर जिम चैतन्य की अनुभूति होती है, वह क्या है? इम सवध मे उपनिषद् मे एक आख्यान आता है कि अमुरो मे वैरोचन और देवो मे इन्द्र आत्मविद्या की शिक्षा लेने प्रजापति के पाम गये। तब प्रजापति ने बर्तन मे पानी डालकर उममे उनका प्रतिबिम्ब दिखाकर कहा-यही आत्मा है। इन्द्र तो देहात्म स्वरूप मे सतुष्ट नही हुए पर वैरोचन सतुष्ट हो गये।[1]

जैनागमो मे द्वितीय अग श्री मुयगडाग मे इसी को "तज्जीव तच्छरीरवाद" कहा गया है।[2]

भगवान महावीर के तीमरे गणधर वायुभूति के मन मे भी यही शका थी कि "जीव और शरीर भिन्न है या एक ही।[3]

राजा प्रदेशी भी आत्मा को शरीर की तरह इन्द्रियग्राह्य मानता था और इसी कारण उसका आत्मशोधन का प्रयास निष्फल रहा।[4]

**प्राणात्मवाद.**–इन्द्र को इस देहात्मवाद के स्वरूप से सतुष्टि नही हुई। इन्द्र की तरह औरो के मस्तिष्क मे भी यह प्रश्न उभरा होगा कि अगर शरीर ही आत्मा है तो मृत्यु के समय भी शरीर तो मौजूद है फिर भी शरीर की क्रियाएँ अवरुद्ध क्यो हो जाती है। निद्रावस्था मे भी श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया प्रारभ रहती है, यह क्या है? तव उन्होने अनुभव के आधार पर प्राण सत्ता को ही समस्त प्रवृत्ति का कारण माना।[5]

छान्दोग्य उपनिषद् मे तो यहाँ तक कह दिया गया है कि "विश्व मे सव कुछ प्राण है।" इन्द्रियाँ और प्राण का तादात्म्य भी कर दिया गया।

---

1 छान्दोग्योपनिषद 8 84
2 सुयगडाग 6 45
3 गणधरवाद 1649
4 राज प्रश्नीय 244-266
5 तैत्तिरीय उपनि 2 2 3

इन्द्रियो को भी प्राण कहते है।[1]

दार्शनिक इस प्राणात्मवाद से भी सतुष्ट नही हुए।

**मनोमय आत्मा:**—आत्मा सबधी विचारणा और उसे प्राप्त करने मे ऋषि निरतर प्रयत्नशील थे। उन्हे ऐसा आभास हुआ कि मन के अभाव मे प्राण और इन्द्रियाँ सब व्यर्थ है। मन का सपर्क होने पर ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयो को ग्रहण कर सकती है। अगर मन अनुपस्थित हो तो इन्द्रियो की उपस्थिति सार्थक नही है। तब प्राणमय आत्मा के स्थान पर मनोमय आत्मा की सत्ता स्वीकार की गयी।[2]

मन की सत्ता की उत्कृष्टता को स्वीकारते हुए उसे परम ब्रह्मसम्राट् तक कह दिया।[3] छान्दोग्य उपनिषद् मे भी उसे ब्रह्म कहा है।[4]

**प्रज्ञा विज्ञानात्मा:**—कौषीतकी उपनिषद् में प्राण को प्रज्ञा और प्रज्ञा को प्राण कहा है।[5]

इसी मे आगे प्रज्ञा का महत्व स्वीकार करते हुए कहा गया है कि प्रज्ञा के अभाव मे इन्द्रियाँ और मन निरर्थक है। इन्द्रियो और मन की अपेक्षा प्रज्ञा का महत्व अधिक है।[6]

विज्ञानात्मा को मनोमय आत्मा की अतरात्मा के रूप मे बताया है।[7] ऐतरेय उपनिषद् मे प्रज्ञान ब्रह्म के पर्यायवाची शब्दो मे मन भी है।[8] प्रज्ञा और प्रज्ञान[9] एक ही है। यहाँ प्रज्ञान का पर्याय विज्ञान भी बताया है।[10]

**चैतन्यात्मा:**—आत्मा के सबध मे निरतर वैचारिक चिंतन का परिणाम आगे जाकर यह निकला कि केनोपनिषद् ने स्पष्ट कह दिया कि -अन्नमय

1 वृहदारण्यक उप 1 5 21
2 तैतिरीय उपनि 2 3
3 वृहदारण्यकोपनिषद् 4 1 6
4 छान्दोग्योप 7 3 1
5 कौषीतकी उप 3 2, 3 3 3 3 4
6 कौषितकी उप 3 6 7
7 तैतिरीय उपनिषद् 2 4
8 ऐतरेय उपनि 3 2
9 ऐतरेय उप 3 3
10 ऐतरेय उप 3 2

आत्मा रथ के समान है, उसे चलाने वाला रथी ही आत्मा है।[1] यही दृष्टा, श्रोता, मनन करने वाला और विज्ञाता है।[2] इस चिदात्मा को अजर, अमर, अक्षर, अव्यय, अज, नित्य, ध्रुव, शाश्वत, और अनत माना गया है।[3] इस प्रकार, मतत चिंतन से शरीर और आत्मा की भिन्नता सिद्ध की गयी।

**न्याय-वैशेषिक मे आत्मा** '—न्याय दर्शन ने आत्मा की व्याख्या भिन्न तरीके मे की है। "ज्ञान, इच्छा, आदि गुणो का आधार आत्मा है।"[4] द्वितीय परिभाषा है—"प्रतिसधान, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान करने वाला तत्व ही आत्मा है।"[5]

न्याय दर्शन आत्मा को शरीरादि से भिन्न एक स्वतत्र द्रव्य मानता है,[6] परतु उसे जडवत् मानता है। चैतन्य, जो कि आत्मा का स्वाभाविक गुण है, न्याय दर्शन के अनुसार वह आगतुक गुण है।[7] न्याय दर्शन मे आत्मा को इस चैतन्य गुण की उत्पत्ति का आधारमात्र बताया गया है।[8]

वुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न, ये आत्मा के छह विशेष गुण माने गये है।[9] मुक्ति मे शरीरादि का अभाव है, अत वहाँ मुक्तात्मा मे आगतुक चैतन्यगुण का भी अभाव है।[10]

वैशेषिक सूत्र मे आत्मा का अस्तित्व अनुमान प्रमाण से मिद्ध किया गया है। प्राणापान, निमेषोन्मेष, जीवन, इन्द्रियातर सचार, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, मकल्प आदि को आत्मा के लिंग बताते हुए इन्ही मे आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया गया है।[11] विशेष विवेचन के लिए एन के देवराज द्वारा लिखित भारतीय दर्शन पृ 301-8 1 देखना चाहिए।

इसी प्रकार न्याय सूत्रकार ने भी इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु ख और

1 केनोपनिषद 1 2
2 बृहदारण्य 3 7 22
3 कठो 3 2
4 त स पृ 12
5 न्यायवा 1 1 10 पृ 64
6 प्रशस्तपादभाष्य पृ 49 50
7 भारतीय दर्शन—डॉ राधाकृष्णन् भाग 2 पृ 148, 149
8 तर्कभाष्य-केशवमिश्र पृ 148
9 तर्क भाषा-शिव मिश्र पृ 190
0 न्यायसूत्र 1 7 22
11 वै सू 1 2 4-13

निर्णयात्मक ज्ञान के हेतुओ द्वारा आत्मा की मत्ता का अनुमान किया है।[1] गौतम ऋषि अनुमान के अतिरिक्त शास्त्रीय प्रमाण भी देते है।[2]

आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है या नही, न्याय दर्शन मे इसके विषय मे मतभेद है। न्यायसूत्र मे आत्मा के अनुमान की चर्चा है, प्रत्यक्ष की नही[3]। न्याय मूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने आत्मा को योगी प्रत्यक्ष का विषय कहा है, लौकिक प्रत्यक्ष का नही।[4]

वैशेषिक दर्शन के प्राचीन साहित्य के अनुसार भी इसी भाष्यकार वात्स्यायन द्वारा प्रतिपादित आत्मा के योगी प्रत्यक्ष का विषय होने के पक्ष का ममर्थन होता है,[5] परतु उद्योतकर[6], वाचस्पति मिश्र[7] आदि ने ज्ञान आदि विशेष गुणो के माथ आत्मा का मानस प्रत्यक्ष 'अर्हम्' पदार्थ के रूप मे माना है।

**बौद्ध दर्शन का अनात्मवाद**·—उपनिषदो ने आत्मा और आत्मा से सबधित विद्या को प्रमुख तत्व मानकर उसी की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य बना दिया था। बौद्ध दर्शन ने उस तेजी से पनपती आत्मवाद की प्रवृत्ति को रोकने के लिए अनात्मवाद का सिद्धात दिया। बुद्ध ने रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान और इन्द्रियो पर एव इन्द्रियो के विषय पर क्रमश विचार किया और उन सभी को अनित्य और अनात्म घोषित कर दिया।

वे अपने श्रोताओ को भी प्रश्नोत्तर की शैली मे युक्तिपूर्वक विश्वास करवा देते थे कि सब कुछ अनात्म है और आत्मा जैसी कोई वस्तु नही है।[8]

बुद्ध के अनुसार जन्म, मरण, कर्म, विपाक, बध और मोक्ष सब कुछ है, परतु इनका स्थायी आधार नही है। ये समस्त अवस्थाए अपने पूर्ववर्ती कारणो से उत्पन्न होती रहती है और एक नवीन कार्य को उत्पन्न करके नष्ट होती रहती है। इस प्रकार ससार चक्र चलता रहता है। उत्तर-वर्ती अवस्था पूर्व-वर्ती अवस्था से न सर्वथा भिन्न है और न अभिन्न, अत अव्याकृत है।[9]

1 न्यायसूत्र 3 1 10
2 भारतीय दर्शन—डॉ राधाकृष्णन् भाग 2 पृ 145
3 न्यायभाष्य 1 1 10
4 न्यायभाष्य 1 1 3
5 भारतीय दर्शन डॉ एन के देवराज पृ 300
6 न्यायवा पृ 341
7 ता टी 501
8 संयुत्तनिकाय 12 70 32-37
9 संयुत्तनिकाय 12 17 24, मिलिन्दप्रश्न 2 25 33

न कोई कर्म का कर्त्ता है और न कर्म फल का भोक्ता, मात्र शुद्ध धर्मो की प्रवृत्ति होती है, यही सम्यग्दर्शन है। ये कर्म और फल पौर्वापर्य मबध रहित बीज और वृक्ष की तरह अनादि काल से एक दूसरे पर आश्रित है और अपने-अपने हेतुओ पर अवलम्बित होकर प्रवृत्त होते है। यह परम्परा कब निरुद्ध होगी, यह भी नही बताया जा सकता।

जीव के विषय मे कुछ शाश्वतवाद का और कुछ उच्छेदवाद का अवलबन लेते है और परस्पर विरोधी दृष्टिकोण रखते है।[1]

बुद्ध आत्मा के शाश्वत और अशाश्वत के प्रश्न पर मौन रहते थे,[2] क्योकि शाश्वत कहते तो उसका समर्थन होता जो मत म्थिरता मे विश्वास रखता है और अशाश्वत कहते तो उनका समर्थन होता जो शून्यवाद मे विश्वास करते है।[3]

नागसेन और राजा मिलिन्द के प्रश्नोत्तर मे भी आत्मा के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। राजा मिलिन्द पूछता है- आत्मा क्या है? तव नागसेन ममाधान के स्थान पर प्रश्न करते है कि क्या डडे को, धुरा को, पहिये को और ढाचे को रथ कहते हैं? मिलिन्द ने कहा-भगवन्! ये सव रथ के भाग है, रथ नही।

तब नागसेन ने कहा-उमी प्रकार से एक साथ उपस्थित स्कधो का नाम ही सत् या आत्मा है।[4]

वौद्ध दर्शन मे क्षणिक मवेदनाओ को ही आत्मा कहते है। इनके अतिरिक्त आत्मा की पृथक् मत्ता उपलब्ध नही होती।[5]

हीनयानी वमुवध ने म्पष्ट कहा है कि पचम्कधी के अलावा आत्मा कोई तत्व नही है।[6]

बुद्ध ने विना किमी आधार के भी ममार की अविच्छिन्नता की व्याख्या

---

1 गणधरवाद - प्रम्तावना पृ 92
2 मज्झिम निकाय मूलपण्णामक 35 3 5-24
3 भा दर्शन डा राधाकृष्णन् भाग एक पृ 384
4 मिलिन्द 2 1 1
5 मज्झिम-निकाय उपरिपण्णासक 2 2 1-6
6 अभिधर्मकोष 3 18

कारणकार्यभाव से की है। इस कारणकार्यभाव को ही ससार की अविच्छिन्नता का कारण बताया। "परिवर्तन युक्त तत्व अस्तित्व रखता है।" यह सत्य है कि जो कुछ विद्यमान है वह सब कारणो एव अवस्थाओ से ही प्रादुर्भूत हुआ है और प्रत्येक स्थिति मे अस्थिर है।[1]

बुद्ध ने यह भी स्पष्ट किया कि चेतना मात्र क्षणिक है, वस्तुए नही। यह प्रत्यक्ष है कि यह शरीर एक वर्ष, सौ या इससे भी अधिक समय तक रह सकता है, परतु जिसे मन, बुद्धि, प्रज्ञा या चेतना कहते है, वह दिनरात एक प्रकार के चक्र के रूप मे परिवर्तित होती रहती है।[2]

बुद्ध न आत्मा की स्वीकृति देते है न आत्मा से सबध रखने वाली अन्य किसी वस्तु की। उनके अनुसार आत्मा की नित्यता, अपरिवर्तनशीलता आदि मूर्खो की बकवास है।[3]

बुद्ध ने इस पुद्गल को क्षणिक और नाना कहा है। यह चेतन तो है, पर मात्र चेतन है, ऐसा नही है। वह नाम और रूप इन दोनो का समुदाय रूप है। इसे भौतिक या अभौतिक का मिश्र रूप कहना चाहिये। इसमे भी भगवान् बुद्ध का मध्यम मार्ग झलकता है।[4]

**चार्वाक और आत्मा:–** चार्वाक के अनुसार पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के अतिरिक्त आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं है। इन पचमहाभूतो से आत्मा उत्पन्न होता है और इन्ही मे विलीन हो जाता है।[5]

प्राचीन चार्वाक चार महाभूत ही मानते थे, परतु अर्वाचीन चार्वाको ने प्रसिद्ध होने से पाँचवे आकाश को भी महाभूत मान लिया।

आगे वे कहते है कि इन पचमहाभूतो के अतिरिक्त कोई तत्व नही है। क्रिया, अक्रिया, सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पाप, अच्छा, बुरा, सिद्धि, असिद्धि, नरक या अन्य गति आदि इनसे ही है।[6]

---

1 भा दर्शन भाग 1 डा राधा पृ 341

2 सयुक्त 2-96

3 मज्झिम निकाय 1 138

4 सयुक्तनिकाय 1 135

5 सूत्रकृताग 1 1 7, 8

6 सूत्रकृताग 2 1 655

इन पचमहाभूतो को न किसी ने बनाया है और न बनवाया है, न तो ये कृत है, न कृत्रिम और न ही किसी मे अपनी उत्पत्ति की अपेक्षा रखते है। ये पचमहाभूत आदि-अत रहित है, स्वतत्र एव शाश्वत है।[1]

पाँच महाभूत ही जीव है। ये ही अस्तिकाय है। ये ही जीवलोक है। ससार का कारण ये ही है। तृण का कपन तक इनके कारण ही होता है।[2]

इन पृथ्वी आदि पाँच महाभूतो के शरीर रूप मे परिणत होने पर इन्ही भूतो मे अभिन्नज्ञानस्वरूप चैतन्य उत्पन्न होता है। जैसे गुड, महुआ आदि मद्य की सामग्री के सयोग से मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही पाँच भूतो के सयोग मे शरीर मे चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है। जैसे जल मे बुलबुले उत्पन्न होते है और विलीन हो जाते है, वैसे ही पचमहाभूतो से चैतन्य उत्पन्न होता है और उन्ही मे विलीन हो जाता है।[3]

शरीर से अतिरिक्त अन्य कोई जीव नही है, जो लोक परलोक जाकर शुभ अशुभ का फल भोगे। जो कुछ है शरीर है और वह भी बिजली की तरह चचल है, इसलिए खाओ, पीओ और मस्ती मे रहो।[4]

**साख्य दर्शन मे आत्मा** - साख्य दर्शन मे पुरुष और प्रकृति दो मुख्य तत्व है। वैसे तो साख्य दर्शन 25 तत्व मानता है। इनमे प्रकृति और उसके 23 विकारों एव पुरुष का समावेश है।

साख्य के अनुसार यह चैतन्य शरीर नही है और न तत्वो से उत्पन्न पदार्थ है। यह उनके अदर अलग-अलग विद्यमान भी नही है, अत उन सबमे एक साथ नही हो सकता।[5] यह इन्द्रियो से भिन्न है।[6] इद्रियाँ दर्शन के साधन अवश्य है, दृष्टा नही। पुरुष बुद्धि से भी भिन्न है, क्योकि बुद्धि अचेतन है।

हमारे अनुभवो की एकता आत्मा के कारण है। विशुद्ध आत्मा ही पुरुष है जो प्रकृति से भिन्न है।[7] पुरुष का प्रकाशमय स्वरूप कभी परिवर्तित नही

1 वही 665
2 वही 657
3 षड्दर्शन समुच्चय 84, प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ 115
4 षड्दर्शन समुच्चयटीका 82 564
5 साख्यप्रवचनसूत्र 5 129
6 वही 2 20
7 सा प्र सू 6 1 2

होता।[1] यह सुषुप्ति अवस्था मे भी विद्यमान रहता है।[2] यह पुरुष न किसी का कार्य है और न कारण।[3]

बुद्धि, मन आदि चैतन्य पुरुष की दासता मे है। साख्य का पुरुष चैतन्यमय है। यह आनदमय नही है क्योकि आनद तो सतोगुण के कारण होता है, जिसका सबध प्रकृति से है। यह न परिमित है न अणुरूप। यह किसी क्रिया मे भाग नही लेता। साख्य का पुरुष गुण रहित है तथा यह न सुखमय है और न दु खमय।[4]

साख्य के अनुसार भी आत्माएँ अनेक है। इनकी इन्द्रियाँ, कर्म, जन्म, मरण सभी भिन्न-भिन्न है।[5] कोई स्वर्ग मे जाती है तो कोई नरक मे।

साख्य के पुरुष का न आदि है और न अत है। यह निर्गुण, सूक्ष्म, सर्वव्यापी, नित्यदृष्टा, इन्द्रियातीत तथा मन की पहुँच से बाहर है। यह व्यावहारिक अर्थो मे सब वस्तुओ को नही जानता, क्योकि शारीरिक सीमा सीमित इन्द्रियो और मन के द्वारा ही ज्ञान सभव है। जब आत्मा इस सीमा से मुक्त होता है तब इसे परिवर्तन का बोध नही रहता, अपितु फिर यह अपने स्वरूप मे रहता है।[6] पुरुष प्रकृति से सबद्ध नही है, मात्र दर्शक है, उदासीन है, अकेला है और निष्क्रिय है।[7]

पुरुष और प्रकृति परस्पर प्रतिकूल लक्षण वाले है। प्रकृति परिवर्तनशील है। पुरुष अमूर्त, चेतन, नित्य, सर्वगत, निष्क्रिय, अकर्ता, भोक्ता, निर्गुण, सूक्ष्म आत्मा है। प्रकृति त्रिगुणात्मक (सत्वगुण, रजोगुण तमोगुण) प्रमेय है, अहकार सहित है और जीव है।[8] साख्य दर्शन मे पुरुष और आत्मा भिन्न भिन्न पदार्थ है। अहकार सहित पुरुष ही जीव है।[9]

विशुद्ध आत्मा बुद्धि से परे है, जबकि बुद्धि के अदर पुरुष का प्रतिबिम्ब

1 साख्य प्रवचनभाष्य 1 75
2 सा प्र सू 1 148
3 सां प्र सू 1 61
4 भा दर्शन डा गधा भाग 2 पृ 279
5 सा प्र मू 6 45
6 सा प्र मूत्र वृत्ति 6 59
7 सा का 19
8 सा प्र सू वृत्ति 6 63
9 सां प्र भाष्य 6 63

अहभाव के रूप मे प्रतीत होता है, जो हमारी मभी अवम्थाओ का जिममे सुख दु ख भी मम्मिलित है, बोध प्राप्त करने वाला है। जव तक हम आत्मा को वुद्धि से भिन्न नही समझते जो लक्षण और ज्ञान मे वुद्धि मे भिन्न है तब तक हम वुद्धि को ही आत्मा ममझते रहते है।[1]

प्रत्येक अहभाव एक ऐसा मूक्ष्म शरीर रखता है जो इन्द्रिय महित मानमिक उपकरण मे निर्मित है और यही मूक्ष्म शरीर पुनर्जन्म का आधार है।[2]

पुरुष विशुद्ध चेतन स्वरूप है, परतु जब तक यह रजोगुण और तमोगुण मे आच्छन्न रहता है तब तक यथार्थ को भूल जाता है। मोक्ष तथा वधन रूप परिवर्तन का सवध मूक्ष्म शरीर के माथ है जो पुरुप के माथ मलग्न है। लौकिक जीवात्मा, पुरुप और प्रकृति का मिश्रण है। जब रजोगुण प्रधान होता है तो पुरुष मानवीय जगत मे प्रवेश करता है। वहाँ वह वैचेन होकर दु ख से छुटकारा पाने मुक्ति के लिए प्रयत्नवान होता है। जब मत्वगुण की अधिकता हो जाने पर रक्षापरक ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, तब प्रकृति अह को और अधिक जीवन की आपदा से वाधकर नही रख पाती। उम अवस्था मे मृत्यु के वाद प्रकृति और पुरुष का बधन टूट जाता है। आत्मा मुक्त हो जाती है।

**जीवास्तिकाय के लक्षण.**–द्रव्य के जितने भी लक्षणो पर द्वितीय अध्याय मे निमर्श किया गया है वे जीव मे भी पाये जाते है, अत जीव भी द्रव्य है। जैन आगमो मे 'जीव' शव्द के अनेक पर्यायवाची शव्द उपलब्ध होते है, जीवास्तिकाय, प्राण, भूत, मत्व, विज्ञ, चेता, जेता, आत्मा, पुद्गल, मानव, कर्त्ता, विकर्ता, जगत, जन्तु, योनि, शरीर और अन्तरात्मा।[3]

जीव का लक्षण उपयोग है।[4] 'उपयोग' शव्द व्यापक अर्थवाला है। वह ज्ञान और दर्शन दोनो को ममाहित करता है। यह उपयोग दो प्रकार का है। कुंदकुदाचार्य ने समयमार मे[5] एव हरिभद्रमूरि ने पड्दर्शन ममुच्चय मे[6]

1 योगमूत्र 2 6

2 मा प्र मू 3 16

3 भगवती 20 2 7

4 उपयोगो लक्षणम् त मू 2 8, भगवती 13 4 27 "जीवो उवओगलक्खणो" मू द म 2

5 म सा 48

6 पड्दर्शनसमु 49

जीव का लक्षण चेतना किया है। उत्तराध्ययन मे जीव का लक्षण उपयोग ही उपलब्ध होता है।[1] पचास्तिकाय मे कुदकुद ने जीव का लक्षण उपयोग और चेतना उभय रूप किया है।[2] इससे यह प्रतीत होता है कि 'चेतना' और 'उपयोग' दोनो एकार्थक है। चेतना जीव की योग्यता एव उपयोग उसकी क्रियान्विति है।

**उपयोग के प्रकार.–** उपयोग दो प्रकार का है- ज्ञानोपयोग एव दर्शनोपयोग।[3] इसे गुणरत्नसूरि ने षड्दर्शन की टीका मे साकार चैतन्य (ज्ञान) और निराकार चैतन्य (दर्शन) भी कहा है।[4] बृहद् द्रव्य सग्रह टीका मे इसे सविकल्पक भी कहा गया है।[5]

पचास्तिकाय मे जीव को ज्ञानदर्शन से युक्त बताकर इन्हे जीव के साथ अनन्य व सर्वकाल भी कहा गया है, अर्थात् जीव मे ज्ञानदर्शन रूप उपयोग तीनो कालो मे रहता है।[6] जो विशेष को ग्रहण करता है वह ज्ञान और जो सामान्य को ग्रहण करता है वह दर्शन है।[7] जीव का लक्षण ज्ञानमय दर्शनमय है।

दर्शन की व्युत्पत्ति इस प्रकार है–"पश्यति दृष्यते दृष्टिमात्र वा दर्शनम्" अर्थात् जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाता है अथवा देखनामात्र ही दर्शन है।[8] जब विषय और विषयी का सन्निपात होता है तब दर्शन होता है।[9]

विशेषण से शून्य 'कुछ' है, यह ग्रहण होना दर्शन है।[10] अभिप्राय यह है कि जब कोई ज्ञायक किसी पदार्थ को मात्र देखता है, उस प्रक्रिया मे तब जब तक वह कोई विकल्प न करे, तब तक जो सत्तामात्र का ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते है, और जैसे ही दृष्ट पदार्थ के शुक्ल कृष्ण इत्यादि विशेषणो से युक्त

1 उत्तरा 28 70
2 प का 16
3 स सि 2 8 273
4 षड्द टी 49 97 वृ त कृ 2 8 15 86
5 बृ द्र स टी 4 15
6 प का 40
7 प का टी 40 75
8 स सि 1 1 6 4
9 वही 1 15 190 79
10 स भ त 47 9

विकल्प रूप प्रतीति होने लगती है, तव उसे ज्ञान कहते है।[1]

ज्ञान की परिभाषा देते हुए पूज्यपाद ने कहा है कि,जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाता है, वह ज्ञान है।[2]

**ज्ञान और दर्शन की सयुक्त व्याख्या**—सामान्य की मुख्यता पूर्वक विशेष को गौण करके पदार्थ के जानने को दर्शन कहते है और विशेष की मुख्यता पूर्वक सामान्य को गौण करके पदार्थ के जानने को ज्ञान कहते है।[3]

**ज्ञान और दर्शन मे अतर** —ज्ञान और दर्शन जीव के स्वभाव है, अत दोनो अभिन्न है, परतु कथचित् भिन्न भी है। जिसके द्वारा देखा जाये और जाना जाये उसे दर्शन कहते है—इस प्रकार के लक्षण से, ज्ञान और दर्शन मे कोई विशेषता नही रहेगी तथा चक्षु इन्द्रिय और आलोक भी दर्शन हो जायेगे।' यदि कोई ऐसी शका करे, तो उसका समाधान है कि नही। ऐसा नही है। अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञान कहते है। देखने मे सहकारी कारण होते हुए भी आलोक और चक्षु दर्शन नही हो सकते है क्योकि चक्षु और आलोक आत्मा के स्वभाव नही है।[4]

दर्शन मात्र सामान्य का ही और ज्ञान विशेष का ही ग्राहक नही है क्योकि प्रत्येक द्रव्य सामान्य विशेषात्मक है और सामान्य विशेषात्मक वस्तु का क्रम के विना ही ग्रहण होता है। दूसरी वात यह भी है कि सामान्य को छोडकर मात्र विशेष अर्थक्रिया करने मे असमर्थ है। अर्थक्रिया मे जो समर्थ नही होती वह अवस्तु होती है। उस अवस्तु का ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण नही होता तथा मात्र विशेष का ग्रहण भी तो नही होता क्योकि सामान्य रहित केवल विशेष मे कर्त्ता कर्म रूप व्यवहार नही वन सकता। जव विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण नही वनता तो मात्र सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन भी नही वनता।[5]

**दर्शन व ज्ञान मे स्व पर ग्राहकता का समन्वय.**—ज्ञान को वहिर्मुख प्रकाशक और दर्शन को अन्तर्मुख प्रकाशक कहा गया है, परतु इसका अर्थ यह नही

---

1 वृ द्र स 43 216

2 स सि 1 1 64

3 स्याद्वादम 1 8

4 धवला 1 1 4 145

5 वृ द्र स 44 215 215-216 स्य ध 1 1 1 4 146 3

कि ज्ञान मात्र पर-प्रकाशक ही है और दर्शन मात्र स्व-प्रकाशक है। और इस विधि मे आत्मा स्व पर प्रकाशक दोनो है।[1] अगर ज्ञान मात्र पर प्रकाशक हो तो बाह्यस्थिति के कारण आत्मा का ज्ञान मे सपर्क ही नही रहेगा, तब स्व को जानने का उसका स्वभाव होने पर सर्वगतभाव नही रहेगा। इसी प्रकार दर्शन भी मात्र अतर रूप को ही देखे, बाह्यस्थित पदार्थ को न देखे, यह सभव नही है, अत ज्ञान दर्शन लक्षण वाला आत्मा ही स्वपर प्रकाशक है।[2]

अगर ज्ञान को पर प्रकाशक माने तो सपूर्ण सृष्टि चेतनमय बन जाएगी क्योकि ज्ञान पर प्रकाशक होने के कारण द्रव्य मे भिन्न होकर या तो शून्यता की आपत्ति होगी या जहाँ-जहाँ वह पहुँचेगा वे सारे द्रव्य चेतन हो जायेगे।[3]

आत्मा ज्ञानमय भी नही है, वह उभय है। जिस प्रकार अग्नि मे दाहकता भी है और पाक गुण भी।[4]

**ज्ञान के प्रकार** –वह ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का और दर्शनोपयोग चार प्रकार का है।[5]

वृहद द्रव्य सग्रह मे भी व्यवहार नय से आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन कहा है, परतु इसे सामान्य रूप से जीव का लक्षण कहा है। शुद्ध नय की अपेक्षा से तो शुद्ध ज्ञान दर्शन ही जीव का लक्षण है।[6] पचास्तिकाय मे कुदकुदाचार्य ने भी ज्ञान दर्शन की इसी सख्या की पुष्टि की है तथा नामोल्लेख किए है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान केवलज्ञान, कुमति ज्ञान, कुश्रुत ज्ञान और विभगज्ञान ये ज्ञान के एव चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ये चार दर्शन के भेद बतलाए है।[7]

ज्ञान के अतिम तीन भेदो को विभाव ज्ञान भी कहते है।[8]

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यव को विभावज्ञानोपयोग और

1 नियमसार 161
2 नि सा ता वृ 161
3 नियमसार 162
4 नि सा ता वृ 162
5 त सू 2 9
6 वृ द्र स 6
7 प का 41-42, स सि 2 9 237
8 नि सा ता वृ 10

केवल-ज्ञान को स्वभाव ज्ञानोपयोग कहते है।[1] यह ज्ञान इन्द्रिय निरपेक्ष असहाय है।[2] चक्षु, अचक्षु, अवधि ये दर्शन विभाव दर्शन एव केवल दर्शन स्वभाव दर्शन है।[3]

यह ज्ञान और दर्शनमय उपयोग, छद्मस्थ कर्मयुक्त आत्मा को क्रम से और केवली को युगपत् होता है।[4]

नियमसार मे सूर्य का उदाहरण देते हुए इसे और स्पष्ट किया है, जैसे सूर्य का प्रकाश और ताप एक साथ रहते है, उसी प्रकार केवलज्ञानी को ज्ञान और दर्शन एक साथ वर्तता है।[5]

**सहवादी और क्रमवादी** –द्रव्य और गुण अनन्य है, वे एक दूसरे मे अभिन्न होते है।[6] ज्ञान जीव का स्वरूप या लक्षण है, अत आत्मा-आत्मा को जानता ही है।[7] परतु केवली को वह उपक्रम पूर्वक होता है या एक साथ, इसमे श्वेतावर और दिगबर परपरा मे मतभेद है।

श्वेतावर परम्परा के आगम पाठ यह स्पष्ट घोषणा करते है कि ज्ञान और दर्शन एकसाथ सभव नही है।

गौतम और महावीर का सवाद भगवती सूत्र मे पठनीय है। गौतम जिज्ञासु भाव से पृच्छा करते है, प्रभु! क्या परमअवधिज्ञानी मनुष्य जिस समय परमाणु पुद्गल स्कध को जानता है, उस समय देखता है? प्रभु ने समाधान मे कहा–नही।

गौतम स्वामी ने पुन पूछा–ऐसा क्यो? तब भगवान ने कहा-परमअवधिज्ञानी का ज्ञान साकार (विशेषग्राहक) है और दर्शन अनाकार है, अत जानना और देखना एक समय मे सभव नही है। यही प्रश्न पुन केवल ज्ञानी के बारे मे पूछा तो परमात्मा ने ज्ञान और दर्शन एक ही काल मे असभव बताए और वही कारण दोहराया।[8]

---

1 नि सा 10
2 नि सा 12
3 नि सा 13 14
4 स नि 2 9 273
5 नि सा 160
6 प का 45
7 नि सा 170
8 भगवती 18 8 21 22

गौतम महावीरकी इसी प्रकार की चर्चा 'प्रज्ञापना' मे उपलब्ध होती है। "जिस समय केवली रत्नप्रभा नरक को देखते है, उस समय जानते है या नही?'

प्रभु- यह सभव नही है।

गौतम- इसका क्या कारण है कि ज्ञान दर्शन युगपत् नही होता?

प्रभु- चूँकि ज्ञान साकार है और दर्शन अनाकार। अत साथ-2 दोनो उपयोग नही होते।[1]

परतु श्वेताबर परम्परा के ही प्रखर तार्किक आचार्य सिद्धसेन अपनी युक्तियो द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास करते है कि ज्ञान और दर्शन युगपत् होते है।

ज्ञानावरणीय कर्मक्षय से उत्पन्न होने वाला केवल ज्ञान जैसे उत्पन्न होता है, वैसे ही दर्शनावरणीय कर्म क्षय से केवल दर्शन भी उत्पन्न होता है।[2]

जब आवरण क्षय हो जाता है तो मतिज्ञान नही होता वैसे ही आवरणक्षय होने पर दर्शन मे कालभेद करना उचित नही होता।[3] व्यक्त और अव्यक्त का भेद सामान्य आत्मा मे होता है, परतु केवली आत्मा मे नही होता। अव्यक्त दर्शन और व्यक्त ज्ञान ये दोनो केवली के लिए एकसाथ सभव है।[4] यदि ऐसा नही माना जाय तो सर्वज्ञता भी क्रमवाद मे खडित हो जाएगी। सर्व जानना और देखना ही सर्वज्ञ की परिभाषा है।[5]

श्वेताम्बर परम्परा के ही आचार्य जिनभद्रसूरि के अनुसार केवलज्ञान केवलदर्शन एक साथ नही होते।[6]

दिगम्बर परम्परा मे यद्यपि यह प्रचलित है कि केवल ज्ञान और केवल दर्शन युगपत् होते है, परतु उन्ही के कुछ उद्धरण ऐसे है जिनसे यह तथ्य पुष्ट होता है कि वे भी क्रमवादी है।

---

1 प्रज्ञापना 30 319 पृ 531

2 स त 2 5

3 वही 2 6

4 वही 2 11

5 वही 2 13

6 विशेपावश्यक भाष्य 3096

गुणधराचार्य की कषायपाहुड की मूल 15-20 की गाथाओ मे जिन मार्गणाओ के अल्प बहुत्व के रूप मे जघन्य उत्कृष्ट काल कहा गया है, इसमे उत्कृष्ट काल के अल्पबहुत्व मे कहा है "चक्षुदर्शनोपयोग के उत्कृष्ट काल से चक्षुज्ञानोपयोग का काल दुगुना है।" उससे श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, इन्द्रियो का ज्ञानोपयोग, मनोयोग, वचनयोग, काययोग आदि स्पर्शनेन्द्रिय ज्ञानोपयोग का उत्कृष्ट काल क्रमश विशेष अधिक है। स्पर्शनेन्द्रिय के ज्ञानोपयोग मे अवायज्ञान का उत्कृष्ट काल दुगुना है। इससे ईहा ज्ञानोपयोग का उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इससे श्रुतज्ञान का, श्रुतज्ञान से श्वासोच्छ्वास का उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है।

केवल ज्ञान केवलदर्शन कषाय सहित जीव के शुक्ल लेश्या का उत्कृष्ट काल स्वस्थान मे समान होते हुए भी प्रत्येक का उत्कृष्ट काल श्वासोच्छ्वास मे विशेष अधिक है।

केवलज्ञान के उत्कृष्ट काल से एकत्व वितर्क अविचार ध्यान का उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इनसे पृथक्त्व वितर्क सविचार ध्यान का काल दुगुना है। इससे प्रतिपाती सूक्ष्म सपराय उपशम श्रेणी मे चढने वाले का, सूक्ष्म सपराय, क्षपक सपराय का उत्कृष्ट काल क्रमश विशेष अधिक है।

सूक्ष्म सापरायिक जीव के उत्कृष्ट काल मे मान कषाय का उत्कृष्ट काल दुगुना है। इससे क्रोध, मान, माया, लोभ, क्षुद्रभवग्रहण, कृष्टिकरण, सक्रामक का उत्कृष्ट काल क्रमश विशेष अधिक है। इससे उपशात कषाय का काल दुगुना है। इससे क्षीण कषाय का, इससे चारित्र मोहनीय के उपशामक का, इससे चारित्रमोहनीय के क्षपक का काल विशेष अधिक है।[1]

इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि दर्शनोपयोग सबधी सभी इन्द्रियो, मन, वचन काया, अवाय, ईहा, व श्रुतज्ञान इनका उत्कृष्ट काल श्वासोच्छ्वास के उत्कृष्ट काल मे कम होता है। केवलज्ञानोपयोग व केवल दर्शनोपयोग का उत्कृष्ट काल एक श्वासोच्छ्वास से अधिक और दो श्वासोच्छ्वास के उत्कृष्ट काल मे कम होता है। अर्थात् इस समय तक मे उपयोग बदल जाता है। अत जहाँ केवलज्ञान व केवलदर्शन के उपयोग का समय अन्तर्मुहूर्त दिया है, वहाँ यह अन्तर्मुहूर्त से श्वासोच्छ्वास के उत्कृष्ट काल से कम ही समझें।[2]

1 कषायपाहुड 15-20

2 पु जुग अभि ग्रन्थ- कन्हैयालाल लोढा स 4 पृ 286

केवल ज्ञान और केवलदर्शन का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कहा है, इससे लगता है, केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्रवृत्ति एक साथ नही होती।[1]

टीकाकार वीरसेनाचार्य ने इसे इन शब्दो मे पुष्ट किया है "कार्यरहित शुद्ध जीव प्रदेशो से घनीभूत दर्शन और ज्ञान मे अनाकार और साकार रूप से उपयोग रखने वाले होते है, यह सिद्धात्मा का लक्षण है।[2]

अगर उपयोग युगपत् होता तो इनका काल अनत उत्कृष्ट काल होना चाहिए था, परतु कषाय-पाहुड की मूल गाथा मे केवल ज्ञानोपयोग व केवलदर्शनोपयोग का उत्कृष्ट काल दो श्वास से कम बताया गया है, जो क्रमवाद मानने पर ही सभव है।

दर्शनावरण और ज्ञानावरण के क्षय होने पर केवलज्ञान और केवलदर्शन की उत्पत्ति एक साथ होती है, परतु दोनो उपयोग एक साथ नही हो सकते।[3]

इससे यही साराश निकलता है कि गुण तो एक साथ रहते है, पर उपयोग क्रमपूर्वक होता है। गुण उपलब्धि है। उपयोग का अर्थ है उस गुण मे प्रवृत होना। उपयोग औरउपलब्धि भिन्न है। एक व्यक्ति अनेक विषयो का ज्ञाता है, पर वह उस समय एक ही दर्शन मे उपयोग लगाए हुए है, पर इससे अन्य विषय के ज्ञान का अभाव नही है।

**अनेकात्मा है** –तत्वार्थ सूत्र मे "जीवाश्च"[4] सूत्र उपलब्ध होता है। इसमे जैन दर्शन का अनेकात्मवाद प्रकट होता है।

अकलक ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है–जीवो की अनतता और विविधता सूचित करने के लिये "जीवाश्च" बहुवचन का प्रयोग किया है। ससारी जीव गति आदि चौदह मार्गणास्थान, मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थान, सूक्ष्म बादर आदि चौदह जीव स्थानो के विकल्पो से अनेक प्रकार के है। मुक्त जीव भी एक, दो, तीन, सख्यात, असख्यात, समयसिद्ध शरीराकार, अवगाहना के भेद से अनेक प्रकार के है।[5]

1 कषायपाहुड पृ 319

2 धवला 2 9 56 पृ 98

3 कषायपाहुड 137 पृ 321

4 त सू 5

5 त वा 5 3 442

एक शरीर मे अनेक आत्मा रह मकती है, परतु एक आत्मा अनेक शरीरो मे नही रह मकती।

गणधरवाद मे इमका विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। जब गौतम स्वामी ब्राह्मण पडित के रूप मे भगवान मे चर्चा करने जाते है और पूछते है कि उपनिषद् की यह मान्यता म्वीकार कर ले कि मब ब्रह्म ही है तो क्या हानि है?

भगवान–गौतम! ऐसा सभव नही क्योकि आकाश की तरह मभी पिण्डो मे एक आत्मा मभव नही। मभी पिण्डो मे लक्षण भेद है। प्रत्येक पिण्ड मे भिन्न लक्षण प्रतीत होने से वस्तु भेद म्वीकार्य है।[1]

आत्मा एक हो तो मुख, दुख, बध, मोक्ष, की भी व्यवम्था मभव नही है। हम देखते है–एक सुखी है, एक दुखी है, एक बद्ध है, एक मुक्त है। एक ही जीव का एक ही समय मे बध और मोक्ष दोनो मभव नही है।[2]

जीव का लक्षण उपयोग है। वह उपयोग प्रत्येक आत्मा का ममान नही होता। उत्कर्ष, अपकर्ष अवश्य पाया जाता है, अत जीव अनत मानना चाहिये।[3]

एक ही जीवात्मा मानने से न कोई कर्त्ता होगा, न भोक्ता, न मननशील, न कोई सुखी होगा, न कोई दु खी, क्योकि शरीर का अगर अधिकाश भाग पीडित हो तो सुखी नही होता, वैसे ही समार का अधिकाश भाग वधा हुआ हो तो एक अश मुक्त और सुखी कैसे हो सकता है।[4] प्रत्येक पिंड की आत्मा के अपने सुख, दु ख, स्मृति, ज्ञान उपयोग होते है। अत आत्मा की अनेकता व्यवहार मे भी स्पष्ट है। सूत्रकृताग सूत्र में भी एकात्मवाद का विरोध किया गया है। जो यह मानता है कि एक आत्मा ही नाना रूपो मे दिखायी देती है। वह प्रारभ मे आसक्त रहकर पाप कर लेता है, फिर अकेले उमे ही दु ख और पीडा भोगनी पडती है। सपूर्ण जगत् को नही।[5]

**देहपरिमाण आत्मा.**–आत्मपरिमाण के सवध मे विविध वाद प्रचलित है। न्याय, वैशेषिक, साख्य योग आत्मा को व्यापक मानते है। उनके अनुसार आत्मा

1 गणधरवाद- 1581

2 वही 1582

3 वही 1583

4 वही 1584 85

5 मूत्रकृताग 1 1 9 10

अमूर्त है, अत आकाश की तरह व्यापक है[1]। गीता भी यही मानती है।[2]

रामानुज, वल्लभाचार्य, माधवाचार्य, व निम्बार्काचार्य आत्मा को अणु परिमाण मानते है। इनके अनुसार आत्मा बाल के हजारवे भाग बराबर है और हृदय मे निवास करती है।[3] उनका कथन है, अगर आत्मा को अणु परिमाण न माना जाय तो उसका परलोक गमन नही होगा।

जैन दर्शन आत्मा को न व्यापक मानता है, न अणुपरिमाण वह आत्मा को देहपरिणाम मानता है। आत्मा सर्वव्यापी नही, अपितु शरीरव्यापी है। जिस प्रकार घट गुण घट मे ही उपलब्ध है, वैसे ही आत्मा के गुण शरीर मे ही उपलब्ध है। शरीर से बाहर (ससारी) आत्मा की अनुपलब्धि है, अत शरीर मे ही उसका निवास है।[4]

कर्तव्य, भोक्तृत्व, बध मोक्ष आदि युक्तियुक्त तभी बनते है, जब आत्मा को अनेक और शरीर व्यापी माना जाय।[5]

आत्मा कथचित् व्यापक है, पर वह सामान्य अवस्था मे नही है। केवली समुद्घात अवस्था मे आठ समय मे चौदह राज परिमाण लोक मे व्याप्त होने की अपेक्षा वह व्यापक है, परतु यह स्थिति कभी-कभी होती है, नियत नही। मूल शरीर को न छोडकर आत्मा के प्रदेशो के बाहर निकलने को समुद्घात कहते है। यह समुद्घात सात प्रकार का है।[6]

(1) तीव्र वेदना होने के समय मूल शरीर को न छोडकर आत्मा के प्रदेशो के बाहर जाने की वेदना को वेदना समुद्घात कहते है।

(2) तीव्र कषाय के उदय से दूसरे का नाश करने के लिये मूल शरीर को बिना छोडे आत्मा के प्रदेशो के बाहर निकलने को कषायसमुद्घात कहते है।

(3) जिस स्थान मे आयु का बध किया हो, मरने के अतिम समय उस

1 तर्कभाषा पृ 149

2 गीता 2 20

3 भारतीय दर्शन भाग 2 डा राधाकृष्णन् पृ 692

4 गणधरवाद 1586

5 वही 1587

6 भगवती 2 2 1, पण्ण वणा भा 1 पृ 237 एव स्याद्वादमजरी 9 75

स्थान के प्रदेशो को स्पर्श करने के लिये मूल शरीर को न छोड आत्मा के प्रदेशो के बाहर निकलने को मारणातिक समुद्घात कहते है।

(4) तैजस् समुद्घात दो प्रकार का होता है--शुभ और अशुभ। जीवो को किसी व्याधि या दुर्भिक्ष से पीडित देखकर मूल शरीर को न छोड मुनियो के शरीर से बारह योजन लम्बे मूच्यगुल के असख्येय भाग, अग्रभाग मे नौ योजन, शुभ आकृति वाले पुतले के बाहर निकल जाने को शुभ तैजस् समुद्घात कहते है। यह पुतला व्याधि, दुर्भिक्ष आदि को नष्ट करके वापम लौट आता है। किसी प्रकार के अपने अनिष्ट को देखकर मुनियो के शरीर को बिना छोडे ही मुनियो से उक्त परिमाण वाले अशुभ पुतले के बाहर निकल कर जाने को अशुभ तैजस्समुद्घात कहते है। यह अशुभ पुतला अपने अनिष्ट को नष्ट करके मुनि के माथ स्वय भी भस्म हो जाता है।

(5) मूल शरीर को न छोडकर किसी प्रकार की विक्रिया करने के लिये आत्मा के प्रदेशो के बाहर जाने को वैक्रिय समुद्घात कहते है।

(6) ऋद्धिधारी मुनियो को किसी प्रकार की तत्वसवधी शका होने पर उनके मूल शरीर को बिना छोडे शुद्ध स्फटिक के एक हाथ के बराबर पुतला का आकार मस्तक के बीच से निकलकर शका की निवृत्ति के लिये केवली भगवान के पास भेजा जाना आहारक समुद्घात कहलाता है। यह पुतला केवली भगवान के पास अन्तर्मुहूर्त काल मे पहुँच जाता है और शका की निवृत्ति होने पर अपने स्थान पर आ जाता है।

(7) वेदनीय कर्म के अधिक रहने पर और आयु कर्म के कम रहने पर आयु कर्म को बिना भोगे ही आयु और वेदनीय कर्म बराबर करने के लिये आत्मप्रदेशो का समस्त लोक मे व्याप्त हो जाना केवलीसमुद्घात है। इस अपेक्षा मे आत्मा व्यापक है।

जिस प्रकार रूपादि घट मे ही उपलब्ध होते है, उसी प्रकार आत्मा शरीर मे ही उपलब्ध होती है।[1] तथा शरीर के सपूर्ण प्रदेशो मे व्याप्त रहती है।

आत्मा को सर्वगत मानने मे वह सर्वज्ञ हो जायेगी, फिर अपने सुख

---

1 [illegible]

दु ख का सवेदन कैसे करेगी, क्योकि आत्मा को सुख दु ख होते है।[1]

केवलीसमुद्घात के अतिरिक्त एक और कारण से भी आत्मा व्यापक है-वह है उसका ज्ञान गुण। ज्ञान समस्त पदार्थों को जानने से सर्वगत है।[2] ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। उसे और आत्मा को अलग नही किया जा सकता। इसी दृष्टि से ज्ञानियो ने द्रव्य (आत्मा) को विश्वरूप कहा है।[3]

ज्ञानी (आत्मा) को ज्ञान से भिन्न कर दिया जाता है तो दोनो के अचेतन होने की सभावना है।[4]

ज्ञान को और ज्ञानी को भिन्न मानने से हमे अपना ही ज्ञान नही होगा।[5]

ज्ञान सर्वगत है, व्यापक है, इस अपेक्षा से आत्मा व्यापक है।

आत्मा को कर्मानुसार जिस प्रकार का शरीर प्राप्त होता है, वह उसी अनुसार अपना सकोच विस्तार कर लेती है। शरीर का कोई अश ऐसा नही होता, जहाँ आत्म प्रदेशो का अभाव रहे। उसमे यह स्वाभाविक शक्ति है कि वह शरीर को व्याप्त कर ले।[6] केवलीसमुद्घात के समय वह लोक मे व्याप्त होता है, जीव के मध्य के आठ प्रदेश मेरु पर्वत के नीचे चित्रा पृथ्वी के वज्रमय पटल के मध्य मे स्थित हो जाते है और शेष प्रदेश ऊपर नीचे और तिरछे, समस्त लोक को व्याप लेते है।[7]

अमृतचद्राचार्य ने प्रवचनसार की टीका मे अमूर्त आत्मा का सकोच विस्तार कैसे सभव है यह प्रश्न उठाकर स्वय समाधान कर दिया कि "यह तो अनुभवगम्य है–जैसे जीव स्थूल तथा कृश शरीर मे, बालक तथा कुमार के शरीर मे व्याप्त होता है।"[8]

निश्चयदृष्टि से सहजशुद्ध लोकाकाश प्रमाण असख्यप्रदेशी जीव होने पर भी व्यवहार से अनादिबध के कारण पराधीन शरीर नामकर्म उदय के कारण

1 कार्तिकेयानुप्रेक्षा 177
2 प्रवचनसार 23-28
3 पं का 43
4 पचास्तिकाय 48
5 स्याद्वादम पृ 67
6 स सि 5 8 541
7 वही
8 प्र सा ता वृ 137

सकोच विस्तार युक्त होकर घटादि पात्र मे दीपक की तरह स्वदेह प्रमाण है।[1]

**नित्यता तथा परिमाणी अनित्यता.**—आचाराग सूत्र का प्रारभ ही इस सूत्र से हुआ है कि आत्मा परिणमनशील है। जैसे कुछ मनुष्यो को यह सज्ञा नही होती कि "मै पूर्व दिशा से आया हूँ 'पश्चिम दिशा से आया हूँ' उत्तर, ऊर्ध्व, अधो, या किसी अन्य दिशा से आया हूँ या अनुदिशा मे आया हूँ।"[2]

इस अनुसचरण का इतना महत्व बताया कि इसे "आत्मवादी" का लक्षण तक बता दिया।[3] पर्याय की दृष्टि से आत्मा अनित्य है, परतु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है। जैसे ससारी पर्याय की दृष्टि मे नष्ट, मुक्त के रूप मे उत्पन्न और द्रव्यत्व की दृष्टि मे अवस्थित है।[4]

साख्य आत्मा (पुरुष) को सर्वथा अपरिणामी मानता है।[5]

मनुष्यत्व मे नष्ट हुआ जीव देवत्व को उपलब्ध होता है, पर इसमे जीव न उत्पन्न होता है, न नष्ट।[6] पर्याय परिणमन रूप क्रिया मे आत्मा अनित्य और द्रव्यत्व या जीवत्व मे सदैव स्थायी होने से नित्य है। तत्वार्थ मे धर्म, अधर्म, आकाश और काल को निष्क्रिय बताया। इससे यह भली प्रकार से अनुमान लगाया जा सकता है कि पुद्गल और जीव सक्रिय है।

क्रिया की व्याख्या पूज्यपाद ने इस प्रकार की है। "अतरग और बहिरग निमित्त से उत्पन्न होने वाली जो पर्याय द्रव्य के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्राप्त कराने का कारण है, वह क्रिया कहलाती है।[7] यह गतिक्रिया ससारी जीवो मे होती है इसीलिये यह विभाव क्रिया कहलाती है और सिद्धो मे मात्र स्वभाव क्रिया है, जो ऊर्ध्व लोक की ओर ही ले जाती है और ससारी जीवो की क्रिया छह दिशाओ मे होती है।[8]

द्रव्य और उत्पाद व्यय ध्रौव्य परिणाम युक्त सत् (नित्य) है।[9] आत्मा

---

1 वृ द्र स टी 2010
2 आचाराग सूत्र 111
3 वही 11५
4 [illegible] 1843
5 साख्यकारिका 17
6 [illegible] 17
7 स सि 5 7 ५19 [illegible] 5 7 446
8 [illegible] 184 360
9 [illegible]

द्रव्य है, अत वह भी अन्य द्रव्यो की तरह नित्य है और परिणामी भी।

परिणामी क्या है? इसका तत्वार्थ मे समाधान है। द्रव्य का प्रति समय बदलते रहना परिणाम है।[1]

परिणाम स्वाभाविक और प्रायोगिक दो प्रकार से होता है।[2] जीव और पुद्गल इनमे स्वाभाविक और प्रायोगिक दोनो पर्यायें (परिणमन) पायी जाती है।[3] इस परिणमन की अपेक्षा जीव अनित्य है। द्रव्य की अपेक्षा नित्य व अपरिणामी एव पर्याय की अपेक्षा जीव अनित्य और परिणामी है।

**आत्मा कर्त्ता भोक्ता है:**—उत्तराध्ययन मे आत्मा को नानाविध कर्मो का कर्त्ता कहा है।[4] भोक्ता के रूप मे अनेक जाति, योनि मे जन्म लेता है।[5] पापकर्म का कर्त्ता उसके फल का भोक्ता बने बिना मुक्त नही हो सकता।[6]

भगवती सूत्र मे जीव स्वकृत कर्म फल का भोक्ता है या नही, इस विषय मे स्पष्ट विवेचन है।

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि "जीव स्वकृत कर्म का भोक्ता है या नही? परमात्मा समाधान करते है— किसी को भोगता है, किसी को नही। गौतम की जिज्ञासा शात नही हुई। उन्होने पुन पूछा—ऐसा क्यो? तब भगवान ने कहा—जो वर्तमान मे उदय अवस्था मे है, उन्हे भोगता है,जो सत्ता (बेलेस) मे है, उन्हे नही। इससे यह न समझे कि वे भविष्य मे भोगने नही पडेगे। भोगने तो उस को पडेगे ही जो कर्त्ता है।[7]

इस प्रश्न से लगता है, उस समय कुछ ऐसी मान्यता रही होगी कि कर्त्ता और भोक्ता भिन्न-भिन्न है या ईश्वर की कृपा हो जाय तो अशुभ का परिणाम भुगतना नही पडेगा।

भगवान के समाधान से यह व्यावहारिक असतुलन भी खत्म हुआ कि

---

1 त सू 5 42
2 न्यायवि टी 1 10
3 भगवती 1 3 7
4 उत्तर्राध्ययन 3 2
5 उत्तराध्ययन 3 3
6 उत्तराध्ययन 3 4
7 भगवती 1 2 2,3

कर्म कोई करे और भोक्ता कोई बने।

आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व से ही जीव मात्र के कर्मो की विषमता स्थापित होती है। विभिन्न प्राणी है, उन मभी के कर्म बध भी विभिन्न (असमान) है। अत उनके फल भी असमान ही है। भगवती मे ममानत्व और अममानत्व को लेकर लम्बी चर्चा है।[1]

कुदकुदाचार्य ने समयमार मे नयशैली से आत्मा को व्यवहार नय मे ज्ञानावरणीय कर्म, औदारिकादि शरीर, आहारादि पर्याप्ति के योग्य पुद्गल रूप नो कर्म और बाह्य पदार्थ घटपटादि का कर्त्ता कहा है, परन्तु अशुद्ध निश्चय नय मे राग द्वेष आदि भाव कर्मो का तथा शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध चेतन ज्ञान दर्शन स्वरूप शुद्ध भावो का कर्त्ता है।[2]

ससार एव मोक्ष इन दोनो का भी जीव स्वय ही कर्त्ता भोक्ता है।[3]

ममयमार मे सपूर्ण द्वितीय अक कर्त्ता और कर्म अधिकार वाला है। समयसार के अनुसार व्यवहार नय मे आत्मा अनेक पुद्गल कर्मो का कर्ता, अनेक कर्मपुद्गलो का भोक्ता है।[4]

इन कर्मो को आत्मा व्याप्यव्यापक भाव मे तो करता ही नही, निमित्त नैमित्तिकभाव मे भी आत्मा कर्त्ता नही है। जीव घट, पट अथवा अन्य किन्ही द्रव्यो का कर्त्ता नही है। परन्तु घटादि व क्रोधादि को उत्पन्न करने वाले योग व उपयोग का कर्त्ता है।[5]

आत्मा कर्त्ता और भोक्ता उपचार (व्यवहार) मे है, परमार्थ मे नही। जीव निमित्तभूत होने पर कर्मबध का परिणाम होता हुआ देख कर, जीव ने कर्म किया, यह उपचार मात्र से कहा जाता है।[6]

युद्ध मे मेना ही मघर्ष करती है, पर कथन यही होता है—राजा ने युद्ध किया। उमी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म जीव ने किये, यह भी उपचार

---

1 भगवती 1 2 5-10
2 समयसार ९८
3 कार्तिकेयानुप्रेक्षा 188
4 समयसार 84
5 समयसार 100
6 समयसार 105

से कथन है।[1]

निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा पर पदार्थो का कर्त्ता नही है। जो यह मानता है, कि मै दूसरो को मारता हूँ—दूसरे मुझे मारते है, वह अज्ञानी है। जो यह मानता है कि मै दूसरो को सुखी करता हूँ, दूसरे मुझे सुखी करते है वह मूर्ख है। इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है क्योकि कर्मोदय से ही जीव सुखी-दु खी होते है।[2]

**जीवो का वर्गीकरण और शुद्धात्मा का स्वरूप:**—जीवो का मुख्य विभाजन ससारी जीव और मुक्त जीव के रूप मे किया गया है।[3]

**मुक्तात्मा का स्वरूप.**—आत्मा ज्ञानमय, दर्शनमय, अतीन्द्रिय, महा पदार्थ, ध्रुव, अचल, निरालब और शुद्ध है।[4] आत्मा ध्रुव, निश्चित शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है। यह काल की अपेक्षा से आत्मा के लक्षण है, भाव की अपेक्षा अवर्ण, अगध, अरस और अस्पर्श है।[5]

आचाराग मे कर्ममुक्त आत्मा का म्वरूप इस प्रकार प्राप्त होता है। शुद्धात्मा अवर्णनीय, अगम्य, शरीर रहित, ज्ञाता, न दीर्घ, न ह्रस्व, न वृत्त, न त्रिकोण, न चतुष्कोण, न परिमडल, न कृष्ण, न नील, न लाल, न पीत, न शुक्ल, न सुगधित, न दुर्गधयुक्त, न तिक्त, न कटु, न कषाय, न अम्ल, न मधुर, न कर्कश, न मृदु, न गुरू, न लघु, न शीत, न उष्ण, न म्निग्ध, न रुक्ष है। वह शरीरमुक्त, कर्ममुक्त, अलेप, स्त्री-पुरुष-नपुसक आदि वेद रहित है। वह मात्र परिज्ञा है, सज्ञा है, चैतन्यमय है, अनुपमेय व अमूर्त है वह पदातीत, शब्दातीत, रूपातीत, रमातीत, स्पर्शातीत है।[6]

आचार्य कुदकुद ने आत्मा को निश्चय नय की दृष्टि मे ज्ञायक ही कहा है। वह न प्रमत्त है, न अप्रमत्त, न ज्ञान दर्शन चारित्र म्वरूप है।[7] वह तो मात्र अनन्य, शुद्ध, उपयोग स्वरूप है।

1 समयसार 106

2 समयसार 247-258

3 त सू 2 10, ठाणाग 2 409

4 प्र सा 192

5 ठाणाग 5 173

6 आचाराग 3 123-40 व समयसार 50-55

7 समयसार

नियमसार मे भी आत्मा को नि शल्य, निर्ग्रन्थ, वीतराग, मर्वदोप विमुक्त, निष्काम, नि क्रोध, निर्मान, निर्मद वताया है।[1]

कुदकुद ने आत्मा का भावात्मक स्वरूप बताते हुए कहा कि केवलज्ञान स्वभाव, केवलदर्शन स्वभाव, अनतमुखमय, अनतवीर्यमय आत्मा है।[2] यही लक्षण उत्तराध्ययन मे मिलता है।[3]

**कर्मयुक्त आत्मा.**—जव तक आत्मा ज्ञानावरणीय आदि कर्म मे वधा हुआ है, तव तक वह ससारी आत्मा कहलाती है। ज्योही ये कर्म ममाप्त होते है या जीव मे कर्मो का सबध विच्छिन्न होता है, उसका शुद्ध और उज्ज्वल रूप प्रकट हो जाता है।[4] इमे परमात्मा या मिद्धात्मा भी कहते है।

अव हम अशुद्धात्मा का विवेचन करेगे। जीव मे ज्ञान और दर्शन गुण की धारा निरतर बहती रहती है। जैमा-जैमा वाह्य या अतरग निमित्त मिलता है, उसके अनुमार वह कार्य करती रहती है। इतना अवश्य है कि वह धारा न्यूनाधिक होती रहती है। ममारी अवस्था मे वह मलीन, मलीनतर या मलीनतम होती है और केवली अवस्था मे परिपूर्ण विशुद्ध हो जाती है क्योकि केवली मे वाह्य व अन्तरग कारण अपेक्षित नही रहते।[5]

कुदकुदाचार्य ने आत्मा का स्वरूप पचास्तिकाय मे वताते हुए कहा है कि-आत्मा चैतन्य, उपयोग स्वरूप, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, देहप्रमाण, अमूर्त, व कर्मसयुक्त है।[6]

षड्दर्शन समुच्चय मे आचार्य हरिभद्रमूरि ने जीव का स्वरूप वनाते हुए कहा है कि - जीव चैतन्यस्वरूप, ज्ञान दर्शन आदि गुणो मे भिन्न-भिन्न, मनुष्यादि विभिन्न पर्यायो को धारण करने वाला, शुभ अशुभ कर्म का कर्ता और फल का भोक्ता है।[7]

जीव अनादिनिधन है और चेतना उमका महज स्वभाव है।[8]

---

1 नि सा 44

2 नि सा 96

3 उत्तराध्ययन 28 11

4 प का 20

5 स सि 2 8 273

6 प का 27

7 षड्दर्शन समुच्चय 48-49

8 अभिधान राजेन्द्र कोष भा 4 पृ 1519

भगवती मे जीव और प्राण को भिन्न बताया है। गोतम ने जीव और चैतन्य की जब भिन्नता पूछी, तब प्रभु ने जीव और चैतन्य को एकार्थक बताया।[1] परतु जब प्राण और जीव की भिन्नता पूछी तो कहा - जो प्राण धारण करता है, वह तो जीव है, परतु जो जीव है उसके लिये प्राण धारण करना अनिवार्य नही है। शुद्धात्मा के प्राण नही होते।[2]

साख्य दर्शन आत्मा को उपचार से कर्मो का सुखादि जो फल है, उसका वास्तविक भोक्ता मानता है।[3]

यद्यपि आत्मा शुद्धनय से निर्विकार है। परम आह्लाद जिसका लक्षण है ऐसे सुखामृत का भोक्ता है तो भी अशुद्धनय से सासारिक सुख दु ख का भी भोक्ता होता है।[4] जीव को वास्तविक भोक्ता न कहकर अगर उपचार से कहा जाय तो सुख दु ख का सवेदन निराधार हो जायेगा।[5]

**आत्मा और भाव:**—तत्त्वार्थ सूत्र मे उमास्वाति ने आत्मा के भावो को पाँच विशिष्ट नाम दिये है—औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक।[6] इन पाँचो की सक्षिप्त व्याख्या पूज्यपाद ने इस प्रकार बतायी है।

**औपशमिक** —जैसे कतक आदि द्रव्य के सबध से जल मे कीचड का उपशम हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा मे कर्म की निज शक्ति का कारण वश प्रकट न होना या कुछ समय के लिये रोक देना उपशम है। जिस भाव का प्रयोजन अर्थात् कारण 'उपशम' है, वह औपशमिक भाव है।[7] इसे स्पष्ट करते हुए क्षु जिनेन्द्र वर्णी ने लिखा है- कर्मो के दबने को उपशम और उससे उत्पन्न जीव के शुद्ध परिणामो को औपशमिक भाव कहते है।

उमास्वाति ने औपशमिक भाव के दो भेद किये है- सम्यक्त्व और चारित्र।[8]

कषायवेदनीय के अनतानुबधी क्रोध, मान, माया लोभ, और दर्शनमोहनीय के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग् मिथ्यात्व ये तीन भेद, इन सात के उपशम

1 भगवती 6 10 2
2 भगवती 6 10 6
3 षड्दर्शनसमुच्चय टीका 49 96
4 वृ द्र स 9
5 स्याद्वादमं 15 139
6 त सू 2 1
7 स सि 2 1 252
8 त सू 2 3

मे औपशमिक भाव होता है।[1] मम्यग्दर्शन का घात इन तीन दर्शनमोहनीय और चार अनतानुवधी कषाय के कारण ही होता है। इन मातो प्रकृतियो के उपशम से तत्वरुचि प्रकट होती है, उमे औपशमिक सम्यक्त्व कहते है। शुभ और अशुभ क्रियाओ मे क्रमश प्रवृत्ति और निवृत्ति को चारित्र कहते है। चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से औपशमिक चारित्र प्रकट होता है।[2]

**क्षायिक भावः**—कर्मो का मर्वथा आत्मा मे अलग हो जाना, क्षय है। कतक (फिटकरी) डालने से निर्मल हुए पानी को दूसरे वर्तन मे डालने से जैसे कीचड का अत्यन्त अभाव हो जाता है[3]।

यह क्षायिक भाव नवभेद युक्त है। ज्ञान दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, मम्यक्त्व और चारित्र।[4] ममग्र ज्ञानावरण, दर्शनावरण, दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय, दर्शनमोह व चारित्र मोह के आत्यन्तिक क्षय होने पर इन क्षायिक भावो का उदय होता है। दानादिलव्धियो के कार्य के लिए शरीर नाम व तीर्थकर नाम के उदय की अपेक्षा होती है। चूँकि मिद्धो मे इनका उदय नही है, अत उनमे ये लव्धियाँ अव्यावाध अनन्तसुख रूप मे रहती है। जैसे-केवल ज्ञान रूप मे अनन्तवीर्य।[5]

ये नौ क्षायिक भाव ममार (केवली) और मोक्ष दोनो मे उपलव्ध है।

औपशमिक और क्षायिक भाव भव्य जीव मे ही पाये जाते है।[6]

**मिश्र.**—इमे क्षायोपशमिक भाव भी कहते है। यह भाव कर्मो के आंशिक उपशम और आंशिक क्षय से पैदा होता है। जिम प्रकार फिटकरी आदि के प्रयोग से जल मे कुछ कीचड का अभाव हो जाता है और कुछ वना रहता है।[7]

क्षायोपशमिक के 18 भेद है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनपर्ययविज्ञान, मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभग ज्ञान, चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधि दर्शन,

1 स सि 2 3 253
2 सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम सूत्र 2 3 77
3 स सि 2 1 252
4 त सू 2 4
5 स सा भा 2 4 1-7 105-106
6 स सि 2 1 251
7 स सि 2 1 252

पाँच लब्धि-दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, मम्यक्त्व, चारित्र और मयमामयम।[1] उदय प्राप्त मर्वघाती म्पर्धको का क्षय होने मे और अनुदय प्राप्त मर्वघाती म्पर्धको का सदवस्था रूप उपशम होने पर तथा देशघाती म्पर्धको का उदय होने पर मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिक भाव होता है।[2]

**औदयिक भाव** –मन, वचन और काय की विभिन्न क्रियाओ को करने मे शुभ, अशुभ कर्मो का सचय आत्म प्रदेशो मे होता रहता है, ये कर्म काललब्धि मे पक कर जब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से फल प्रदान करते रहते है, तब यह उनकी उदय अवम्था है।[3]

औदयिक भावो के इक्कीस भेद बतलाये है। चार गति-देव, मनुष्य, तिर्यच और नरक, चार कषाय-क्रोध, मान, माया, लोभ, तीन लिग- म्त्री लिंग, पुरुष लिंग और नपुमक लिंग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असयत, असिद्धत्व एव छ लेश्या-कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल। ये औदयिक भाव के इक्कीस भेद है।[4] भगवती सूत्र मे छ भाव बताये है—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक, 'ममन्निपातिक।[5]

औदयिक भाव को दो प्रकार का बताया- उदय और उदयनिष्पन्न[1] उदय का अर्थ आठ कर्म प्रकृति का फल प्रदान करना है। उदयनिष्पन्न के दो भेद-जीवोदय निष्पन्न और अजीवोदय निष्पन्न।[6] कर्म के उदय से जीव मे होने वाले नारक, तिर्यच आदि पर्याय जीवोदयनिष्पन्न एव कर्म के उदय से अजीव मे होने वाले पर्याय अजीवोदयनिष्पन्न कहलाते है। जैसे औदारिकादि शरीर और औदारिकादि शरीर मे रहे हुए वर्णादि। ये औदारिक शरीरनामकर्म के उदय से पुद्गलद्रव्य रूप अजीव मे निष्पन्न होने से अजीवोदयनिष्पन्न कहलाते है।

**पारिणामिक भावः**–आत्मा का पारिणामिक भाव ही अजीव से उसे पृथक् सिद्ध करता है। पारिणामिक भाव आत्मा का स्वभाव है, अन्य मारे भाव कर्मजन्य और कर्मक्षय के उदय से होते है जबकि पारिणामिक भाव कर्म के उदय,

1 त सू 2 5
2 त रा वा 2 5 3 106 (विस्तृत विवेचन हेतु तत्त्वार्थ टीका देखे)
3 स सि 2 1 252
4 त सू 2 6
5 भगवती 17 1 28
6 भगवती 17 1 29

उपशम, क्षय और क्षयोपशम के विना होते है, इसलिये ये 'पारिणामिक' है।[1] पचास्तिकाय मे जीव को परिणामी भाव के कारण ही अनादि अनत कहा है।[2] यही अनादि अनत जीव औदयिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भाव मे सादि सत है, क्षायिक भाव मे सादि अनत है।[3]

भगवती मे आत्मा को आठ प्रकार की बतायी है। ये , आठ प्रकार अपेक्षा से है। जिस समय आत्मा जिस परिणाम (भाव) मय हो, उस समय वही भाव आत्मा का है- द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा और चारित्रात्मा और वीर्यात्मा।[4]

**द्रव्यात्मा** सभी ससारी आत्माओ मे पायी जाती है। **कषायात्मा** उपशात और क्षीणकषाय आत्मा के अतिरिक्त सभी ससारी आत्माओ मे पायी जाती है। **योगात्मा** अयोगी केवली और सिद्धो के अतिरिक्त सभी मे पायी जाती है। **उपयोगात्मा-** यह आत्मा सिद्ध और ससारी सभी मे पायी जाती है। **ज्ञानात्मा-** यह सम्यग्दृष्टि जीवो मे पायी जाती है। ज्ञान यहाँ सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से कहा है। **दर्शनात्मा-** यह आत्मा सभी जीवो मे न्यूनाधिकता से पायी जाती है। **चारित्रात्मा-** यह विरति धर मुनियो मे या व्रतधारी श्रावको मे पायी जाती है। **वीर्यात्मा-** सकरण वीर्य युक्त आत्मा सभी ससारी जीवो मे पायी जाती है। सिद्धो मे सकरण वीर्य नही होता।

कौनसी आत्मा के साथ कौन सी आत्मा पायी जाती है?इसका विवेचन भी भगवती सूत्र मे विस्तार से उपलब्ध होता है।[5]

तत्त्वार्थ सूत्र मे पारिणामिक भाव के तीन भेद किये है—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व।[6] ये तीनो भाव मात्र जीव द्रव्य मे ही पाये जाते है, अन्य द्रव्यो मे नही। जीवत्व का अर्थ चैतन्य है। जिसके सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट होने की योग्यता है, उसे भव्य एव इससे विपरीत को अभव्य कहते है।[7] इन तीनो भावो को शुद्ध पारिणामिक और अशुद्धपारिणामिक मे भी बाँटा जा सकता है।

---

1 [illegible]
2 [illegible]
3 [illegible]
4 [illegible]
5 [illegible]
6 [illegible]
7 [illegible]

**ससारी जीवो का वर्गीकरण (त्रस और स्थावर की अपेक्षा)** –काय दो प्रकार की है- त्रसकाय और स्थावर काय।[1] जिनके त्रम नाम कर्म का उदय है, वे त्रस एव जिनके स्थावर नाम कर्म का उदय है। वे स्थावर कहलाते है।[2] जो चल फिर सके वे त्रस एव स्थिर रहे वे स्थावर है।

भगवान् महावीर अपूर्व और अलौकिक पुरुष थे। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी थे। उन्होने जीवो का जिस प्रकार से सूक्ष्म विवेचन किया है, आज तक ऐसा विश्लेषण और वर्गीकरण किसी भी सप्रदाय के लिये सभव नही बना। जहाँ कल्पना भी नही की जा सकती, वहाँ उन्होने जीवो का स्थान बताकर उनकी सपूर्ण आहार आदि क्रियाओ को विश्लेषित किया।

आचाराग के प्रथम अध्ययन मे स्थावर जीवो का सूक्ष्म चिंतन उपलब्ध होता है। स्थावर पाँच है- पृथ्वी, अप्, तेउ, वायु और वनस्पति।[3]

अनेको प्रकार से आतुर मानव पृथ्वीकाय के जीवो को सतप्त करता है उन जीवो की हिंसा करना, कराना व उसका अनुमोदन करना जीव के लिये घातक होता है।[4]

जिस प्रकार का वेदना बोध जन्म से अध, बधिर, मूक, पगु और मनुष्य को होता है, उसी प्रकार का अव्यक्त वेदना बोध पृथ्वीकाय के जीवो को भी होता है।[5]

इसी प्रकार से अप्काय[6] का, तेउकाय का[7], वाउकाय[8] और वनस्पति[9] का विवेचन है।

**स्थावर के आहार स्थिति आदि की चर्चा:**–पृथ्वीकाय, अप्काय तेउकाय, वायुकाय और वनस्पति काय आदि की जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त की एव उत्कृष्ट

1 ठाणाग 2 164 एव उत्तराध्ययन 36 68 त मू 2 12

2 स सि 2 12 284

3 जीव विचार

4 आचाराग 1 2 15 17

5 वही 1 2 28

6 वही 1 3 39-53

7 वही 1 4 73 84

8 वहीं 1 7 152-168

9 वही 1 5 101-112

स्थिति 22 हजार वर्ष की है।

इन सभी स्थावर जीवो का श्वास काम विषम अर्थात् अनिश्चित है।

ये आहार के अभिलाषी प्रतिक्षण रहते है।[1] द्रव्य मे अनतप्रदेशी, क्षेत्र मे छ दिशाओ मे, काला, नीला, पीला, लाल, सफेद वर्ण का, सुरभि गध-दुरभिगध का, तिक्त्यादि पाँचो रसो का, कर्कशादि आठो स्पर्शो का आहार लेते है। असख्यातवे भाग का आहार और अनतवे भाग का स्पर्श करते है। आहार किये हुए पुद्गल साता असाता विविध प्रकार मे बार-बार परिणत होते रहते है।[2]

इन सभी की वेदना समान होती है। असज्ञी होते है अर्थात मन रहित होते है। मायी और मिथ्यादृष्टि होने के कारण उन्हे नियम मे आरभिकी आदि पाँचो क्रियाएँ लगती रहती है। ससारी आत्मा सज्ञी और असज्ञी अर्थात् मन रहित और मन सहित ऐसे दो प्रकार की है।[3]

वनस्पति सजीव है, हजारो वर्ष पूर्व की भगवान महावीर की इस घोषणा को प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु ने सन् 1920 मे प्रमाणित किया था।

वनस्पति–'आचाराग' मे मनुष्य और वनस्पति की स्पष्ट तुलना की गयी है। "मै कहता हूँ मनुष्य भी जन्मता है वनस्पति भी। मनुष्य भी बढ़ता है, वनस्पति भी बढ़ती है। मनुष्य भी चेतनयुक्त है, वनस्पति भी चेतनयुक्त है। छिन्न होने पर मनुष्य और वनस्पति दोनो म्लान होते है। मनुष्य और वनस्पति दोनो आहार करते है। मनुष्य भी अनित्य है वनस्पति भी अनित्य है, दोनो अशाश्वत है।"[4]

स्पदन Movement–

साधारणत वनस्पतियाँ अपने स्थान पर ही रहती है। उनकी गति तने, पुष्प, पत्रादि की वृद्धि के रूप मे या सवेदन मे होने वाले हलन चलन के रूप मे होती है। छुईमुई के पौधे को छूते ही उनमे हलन चलन प्रारभ हो जाती है। सूर्यमुखी सदैव सूर्य की ओर ही मुँह रखता है। सनड्यू और वीनस

1 [illegible]
2 [illegible]
3 [illegible]
4 [illegible]

फ्लाइ-ट्रेप के पौधे अपने फूलो पर कीट-पतगो के बैठते ही अपने नागपाश मे ले लेते है। यह क्रिया एक सेकिण्ड के शताश मे ही हो जाती है।[1]

शारीरिक गठन या organisation- सजीव जो एक ही जाति के है, उनका निश्चित आकार प्रकार रूप रग होता है। एक ही जाति के वनस्पति का रूप, पत्ते, फल, फूल आदि का गठन एक जैसा होता है।[2]

**भोजन और उसका स्वीकरणः–(Food and its assimilation)** भोजन की क्रिया जीवधारी मे ही पायी जाती है। वनस्पति मे यह क्रिया प्रत्यक्ष देखी जाती है। वह मिट्टी, पानी, पवन आदि मे भोजन प्राप्त करके अपने अगो को पुष्ट करती है। ये भी दुग्धाहारी, मासाहारी, निरामिषाहारी विभिन्न प्रकार की होती है।

**प्रवर्धन (Growth)** बढ़ना[1] वह भी अनुपात मे सजीव मे ही होता है। नन्हा-सा बीज वटवृक्ष के आकार का हो जाता है। उसके फल, फूल, पत्ते एक निश्चित सीमा मे बढ़ते है।

**श्वसन Respiration**-जीवो मे श्वास क्रिया अनिवार्य है। यह श्वास की प्रक्रिया वनस्पति मे पत्तो द्वारा सपन्न होती है। हमारी सबसे अधिक वनस्पति की निकटता का मुख्य कारण श्वसन है। हम श्वास द्वारा जिस हवा को (कार्बन डाइ आक्साइड) छोडते है, पेड पौधे उसे ग्रहण करते है और पेड पौधे ऑक्सीजन को छोडते है, उसे हम ग्रहण करते है।

इसे अपने लेख "जैन आगमो मे वनस्पति विज्ञान" मे कन्हैयालाल लोढा ने प्रयोगो द्वारा भी स्पष्ट किया है।[3] दोनो उपचित और अपचित होते है। मनुष्य और वनस्पति दोनो ही विविध अवस्था को प्राप्त होते है।[4]

इस सपूर्ण विवेचन को बसु ने अपने शोध यत्र के द्वारा प्रत्यक्ष किया। उन्होने एक ऐसे यत्र का निर्माण किया जो वनस्पति की सजीवता को अभिव्यक्त करता है। वह यत्र पौधो की गतिविधियो को एक करोड गुणा बडा करके दिखाता था। समय का बोध भी एक सेकण्ड के सहस्रवे भाग तक होता था।

1 विज्ञान लोक अप्रेल 1962 पृ 14

2 मरुधर केसरी अभिनदन ग्रन्थ खण्ड 2 पृ 147

3 मरुधर केसरी अभिनदन ग्रथ खड 2 पृ 147

4 आचाराग 1 5 113

पौधो की सपूर्ण क्रिया, प्रतिक्रिया स्वत अकित हो जाती थी। इन यत्रो से उन्हे स्पष्ट विश्वास हो गया कि वनस्पति और मनुष्यो पर नीद, ताप, वायु और आहार का लगभग समान ही प्रभाव पडता है।[1]

वसु ने सिद्ध कर दिया कि सचेतनता, स्पदनशीलता, शारीरिक गठन, भोजन, वर्धन, श्वसन, प्रजनन, अनुकूलन, विसर्जन, मरण (Irritability, Movement, Organisation, Food, Growth, Respiration, Reproduction, Adoptation, Ex-creation and Death ) आदि समस्त गुण वनस्पति मे भी विद्यमान है।

वनस्पति मे आहार सज्ञा प्रयोगसिद्ध है। तत्क्षण तोडे गये डठल सहित सफेद या अन्य गुलाव को लाल पानी मे डठल सहित डुबाकर रखिये। कुछ समय वाद पत्तियो पर लाल रग स्पष्ट दिखेगा।[2]

प्यासे केले के पौधे को जल मिलते ही पीने लगता है, जिसकी आवाज भी पास बैठा व्यक्ति सुन सकता है। मुरझाये पौधो को मुस्कुराते प्रतिदिन हम देखते है।

वनस्पति प्रकाश से भी प्रभावित होती है। पौधो के तने सदा प्रकाश की ओर तथा उसकी जड विरुद्ध दिशा मे जमीन की ओर मुडती जाती है।

**प्रजनन Reproduction.**_जीवधारी मे ही प्रजनन शक्ति पायी जाती है। वनस्पति भी प्रजनन करती है। सेचन क्रिया द्वारा परागकण योनिनली के मार्ग से गर्भाशय(Overy)मे पहुँचते है। वहाँ प्रत्येक परागकण एक रजकण से जुडता है। जितने रजकण होगे उतने ही वीज वन गर्भाशय मे पैदा होते है। सेचन स्व भी होता है और पर भी।

जव किसी फूल का परागकण उसी फूल मे योनिछ्त्र तक पहुँचता है तो वह स्वसेचन कहलाता है। जैसे कृष्णकोली, सूर्यमुखी आदि फूलो का स्वसेचन होता है। जव किसी फूल का पराग कण अन्य कीट, पतग, जानवर, जल आदि द्वारा पहुँचता है तो परसेचन कहलाता है। भ्रूण विज्ञान (वनस्पति विज्ञान की उप-शाखा) इसी विषय पर आधारित है। भारतीय वैज्ञानिक प्रो पचानन माहेश्वरी भ्रूण वैज्ञानिको मे अग्रणी है जिन्होने अनेको प्रयोग इस विषय पर किये है।[3]

1 [illegible] 1957 पृ [illegible]
2 प्रारभिक जीव विज्ञान पृ 19[illegible]
3 जैन आगम व वनस्पति विज्ञान पृ 15,6

फ्लाइ-ट्रैप के पौधे अपने फूलो पर कीट-पतगो के बैठते ही अपने नागपाश मे ले लेते है। यह क्रिया एक सेकिण्ड के शताश मे ही हो जाती है।[1]

शारीरिक गठन या organisation- सजीव जो एक ही जाति के है, उनका निश्चित आकार प्रकार रूप रग होता है। एक ही जाति के वनस्पति का रूप, पत्ते, फल, फूल आदि का गठन एक जैसा होता है।[2]

**भोजन और उसका स्वीकरण**'–**(Food and its assimilation)** भोजन की क्रिया जीवधारी मे ही पायी जाती है। वनस्पति मे यह क्रिया प्रत्यक्ष देखी जाती है। वह मिट्टी, पानी, पवन आदि मे भोजन प्राप्त करके अपने अगो को पुष्ट करती है। ये भी दुग्धाहारी, मामाहारी, निरामिषाहारी विभिन्न प्रकार की होती है।

**प्रवर्धन (Growth)** बढना' वह भी अनुपात मे सजीव मे ही होता है। नन्हा-सा बीज वटवृक्ष के आकार का हो जाता है। उमके फल, फूल, पत्ते एक निश्चित सीमा मे बढ़ते है।

**श्वसन Respiration**-जीवो मे श्वास क्रिया अनिवार्य है। यह श्वास की प्रक्रिया वनम्पति मे पत्तो द्वारा सपन्न होती है। हमारी मबमे अधिक वनम्पति की निकटता का मुख्य कारण श्वसन है। हम श्वाम द्वारा जिम हवा को (कार्बन डाइ आक्माइड) छोडते है, पेड पौधे उमे ग्रहण करते है और पेड पौधे ऑक्मीजन को छोडते है, उसे हम ग्रहण करते है।

इमे अपने लेख "जैन आगमो मे वनम्पति विज्ञान" मे कन्हैयालाल लोढा ने प्रयोगो द्वारा भी स्पष्ट किया है।[3] दोनो उपचित और अपचित होते हैं। मनुष्य और वनस्पति दोनो ही विविध अवम्था को प्राप्त होते है।[4]

इम मपूर्ण विवेचन को बसु ने अपने शोध यत्र के द्वारा प्रत्यक्ष किया। उन्होने एक ऐसे यत्र का निर्माण किया जो वनम्पति की मजीवता को अभिव्यक्त करता है। वह यत्र पौधो की गतिविधियो को एक करोड गुणा बडा करके दिखाता था। ममय का बोध भी एक मेकण्ड के सहस्रवे भाग तक होता था।

1 विज्ञान लोक अप्रेल 1962 पृ 14

2 मरुधर केमरी अभिनदन ग्रन्थ खण्ड 2 पृ 147

3 मरुधर केमरी अभिनदन ग्रथ खड 2 पृ 147

4 आचाराग 1 5 113

पौधो की सपूर्ण क्रिया, प्रतिक्रिया स्वत अकित हो जाती थी। इन यत्रो मे उन्हे स्पष्ट विश्वास हो गया कि वनस्पति और मनुष्यो पर नीद, ताप, वायु और आहार का लगभग समान ही प्रभाव पडता है।[1]

बसु ने सिद्ध कर दिया कि सचेतनता, स्पदनशीलता, शारीरिक गठन, भोजन, वर्धन, श्वसन, प्रजनन, अनुकूलन, विसर्जन, मरण (Irritability, Movement, Organisation, Food, Growth, Respiration, Reproduction, Adoptation, Excreation and Death ) आदि समस्त गुण वनस्पति मे भी विद्यमान है।

वनस्पति मे आहार सज्ञा प्रयोगसिद्ध है। तत्क्षण तोडे गये डठल सहित सफेद या अन्य गुलाब को लाल पानी मे डठल सहित डुबाकर रखिये। कुछ समय बाद पत्तियो पर लाल रग स्पष्ट दिखेगा।[2]

प्यासे केले के पौधे को जल मिलते ही पीने लगता है, जिसकी आवाज भी पास बैठा व्यक्ति सुन सकता है। मुरझाये पौधो को मुस्कुराते प्रतिदिन हम देखते है।

वनस्पति प्रकाश से भी प्रभावित होती है। पौधो के तने सदा प्रकाश की ओर तथा उसकी जड विरुद्ध दिशा मे जमीन की ओर मुडती जाती है।

**प्रजनन Reproduction** _जीवधारी मे ही प्रजनन शक्ति पायी जाती है। वनस्पति भी प्रजनन करती है। सेचन क्रिया द्वारा परागकण योनिनली के मार्ग से गर्भाशय(Overy)मे पहुँचते है। वहाँ प्रत्येक परागकण एक रजकण से जुडता है। जितने रजकण होगे उतने ही बीज बन गर्भाशय मे पैदा होते है। सेचन स्व भी होता है और पर भी।

जब किसी फूल का परागकण उसी फूल से योनिछत्र तक पहुँचता है तो वह स्वसेचन कहलाता है। जैसे कृष्णकोली, सूर्यमुखी आदि फूलो का स्वसेचन होता है। जब किसी फूल का पराग कण अन्य कीट, पतग, जानवर, जल आदि द्वारा पहुँचता है तो परसेचन कहलाता है। भ्रूण विज्ञान (वनस्पति विज्ञान की उपशाखा) इसी विषय पर आधारित है। भारतीय वैज्ञानिक प्रो पचानन माहेश्वरी भ्रूण वैज्ञानिको मे अग्रणी है जिन्होने अनेको प्रयोग इस विषय पर किये है।[3]

1 नवनीत फरवरी 1957 पृ 37

2 प्रारम्भिक जीव विज्ञान पृ 197

3 जैन आगमो मे वनस्पति विज्ञान पृ 15-16

**अनुकूलन Adoptation** अपने को परिस्थिति के अनुसार वनस्पति भी अन्य प्राणियो की तरह ढाल लेती है। रेगिस्तानी पौधो की पत्तियाँ सजल स्थानो के पौधो की अपेक्षा छोटी होती है ताकि उनसे भाप बनकर पानी कम उडे।

**विसर्जन excreation** श्वसन की तरह इनमे विसर्जन क्रिया भी पत्तो द्वारा सम्पन्न होती है।

**मृत्यु Death** जीवित पौधे प्रारभ मे तेजी से वृद्धि करते है, परतु बाद मे यह गति धीमी हो जाती है और अन्त मे वे पौधे मुरझा जाते है, जो उनका मरण कहलाता है।

**वनस्पति के भेदः**—जैन दर्शन के अनुसार वनस्पति के दो भेद है। सूक्ष्म वनस्पतिकाय और बादर वनस्पतिकाय।[1]

प्रत्येक वनस्पति अर्थात् एक शरीराश्रित एक ही आत्मा, जैसे सरसो के अनेको दानो को गुड मिश्रित कर लड्डु बनाते है। लड्डु एक पिण्ड होने पर भी दानो का अस्तित्व अलग-अलग होता है, वैसे ही बाहर से एक दिखने पर भी जो जीव अपने शरीर का भिन्न अस्तित्व रखे, उसे प्रत्येक वनस्पतिकाय कहते है।[2]

साधारण वनस्पति अर्थात निगोद के जीव। वे इतने सूक्ष्म है कि चक्षु से अग्राह्य है। इनके एक दो तीन सख्यात व असख्यात जीवो का पिण्ड नही दिखता अपितु अनतजीवो का पिण्ड ही देखा जा सकता है।[3]

जैनागमो मे निरुपित सूक्ष्म स्थावर जीवो की तुलना बैक्टेरिया से की जा सकती है। बैक्टेरिया के बारे मे वैज्ञानिको का कथन है कि ये इतने छोटे है कि सूक्ष्म यत्रो से भी इनका पता लगाना कठिन है। ससार मे ऐसी कोई जगह नही, जहाँ ये न हो। बहुत से कीटाणु तो प्रत्येक तापक्रम पर रह सकते है।[4] ये बैक्टीरिया अनेक प्रकार की आकृति वाले है। इनमे से सूक्ष्म गोलाकार आकृति के कीटाणु जिन्हे कोकाई कहते है तथा चक्करदार आकृति के कीटाणु

1 पन्नवणा सूत्र 1 36

2 पन्नवणा 1 56

3 "सुहुमा आणागिज्झा   णिगोअजीवाणताण" पन्नवणा 1 गा 103 पृ 63

4 कृपिशास्त्र पृ 125

जिन्हे स्पाइरल कहते है,[1] सूक्ष्म या निगोद वनस्पतिकाय मे गर्भित किये जा मकते है।

प्राणी मात्र मे। आहारसज्ञा, निद्रासज्ञा, भयसज्ञा और मैथुनसज्ञा होती है।[2] सब प्राणियो मे वनस्पति भी आ जाती है। वनस्पति कब ज्यादा कम आहार करती है, इसका भगवती मे इस प्रकार उल्लेख आता है– वर्षा ऋतु मे वनस्पति अधिक आहार करती है। तदनतर अनुक्रम मे शरद, हेमत, वसत व ग्रीष्म ऋतु मे अल्प से अल्प आहार करती है।[3]

पृथ्वी, जल और वनस्पति मे कृष्ण, नील, कापोत और तेजस् ये चार लेश्याएँ पायी जाती है[4]।

इस प्रकार हम देखते है कि वनस्पति की प्रत्येक क्रिया जो शताब्दियो पूर्व घोषित की गई थी, वह प्रयोगशाला मे प्रमाणित हो चुकी है। इन स्थावर जीवो के स्पर्शन, इन्द्रिय, काय, श्वासोच्छ्‌वास और आयु ये चार प्राण पाये जाते है।[5]

**त्रस-जीवो के भेदः**—बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय ये त्रस है।[6] जिनके स्पर्शन और रसनेन्द्रिय हो वे बेइन्द्रिय होते है। स्पर्शन, काय, आयु, श्वासोच्छ्‌वास, रसना और वचन इस प्रकार इनके छ प्राण होते है। तेइन्द्रिय के घ्राण इन्द्रिय बढ़ने से सात प्राण होते है। चक्षु इन्द्रिय मिलने से चतुरिन्द्रिय के आठ प्राण, श्रोत्रेन्द्रिय मिलने से असज्ञी पचेन्द्रिय के नौ एव मनोबल के मिलाने से सज्ञी पचेन्द्रिय के दस प्राण होते है।[7]

**कौन जीव कितनी इन्द्रिय वाला हैः**—कृमि, सीप, शख, गडोला, अरिष्ट, चन्दनक, शबुक आदि बेइन्द्रिय जीव है।[8]

जूँ, लीख, खटमल, चीटी, इद्रगोप, दीमक, झीगर, इल्ली आदि तेइन्द्रिय

1 भृषिशास्त्र पृ 1264

2 ठाणाग 4 23

3 भगवती 7 3 1

4 "एगिंदियाण वणस्सइकाइयावि" पन्नवणा 17 2- 1159-61

5 म सि 2 13 286

6 त मू 2 14

7 म मि 2 14 288

8 जीवविचार 15

जीव है।[1]

मकडी, पतगा, डाम, भौरा, मधुमक्खी, गोमक्खी, मच्छर, टिड्डी, ततैया, आदि चतुरिन्द्रिय जीव कहलाते है।[2]

**पचेन्द्रिय के प्रकार**—समम्त पचेन्द्रिय को चार भागो मे वर्गीकृत किया है। ये ममारी पचेन्द्रिय की अपेक्षा से है। तिर्यच, मनुष्य, देव-नारक और पचेन्द्रिय ससार समापन्नक।[3]

**प्रथम तिर्यच पचेन्द्रिय के उपभेद करते है**.—समस्त तिर्यच पचेन्द्रिय तीन प्रकार के है—**जलचर, थलचर और खेचर।**[4]

जो जल मे रहते है, वे **जलचर** है। जलचर पॉच प्रकार के है—मत्स्य, कछुए, ग्राह, मगर, और मुसुमार। मत्स्य पॉच, कच्छप दो, ग्राह पॉच, मगर दो, एव सुसुमार एक ही प्रकार के बताये है।[5]

ये सभी तिर्यचयोनिक एक अपेक्षा से दो प्रकार के भी है। मुर्च्छिम और गर्भज। इनमे जो मूर्च्छिम है, वे नपुसक एव गर्भज म्त्री, पुरुष, नपुसक तीनो होते है।[6]

जो माता पिता के बिना सयोग के अपने आप उत्पन्न हो, वे समूर्च्छिम और जो माता-पिता के वीर्य या सयोग से उत्पन्न हो, वे गर्भज होते है।

**थलचर के प्रकार:**—जो पानी रहित स्थान अर्थात् जमीन पर रहते है, उन्हे थलचर या स्थलचर कहते है। ये म्थलचर तिर्यंच पचेन्द्रिय चार प्रकार के है—एक खुर वाले, दो खुर वाले, गण्डीपद (सुनार की एरण जैसे पैर वाले) और नखपाद (पैर) वाले।[7]

जीवविचार मे थलचर को अन्य अपेक्षा से तीन प्रकार का कहा है। ये भी तिर्यच पचेन्द्रिय ही है। वे ये है- चतुष्पद-गाय आदि, उरपरिसर्प-पेट

1 वही 16, 17

2 जीवविचार 18

3 प्रज्ञापना 1 59 एव ठाणाग 4 608

4 प्रज्ञापना 1 61 तथा जीवविचार- 20

5 प्रज्ञापना 1 62-67

6 प्रज्ञापना 1 68

7 प्रज्ञापना 1 69

के बल चलने वाले मर्प आदि और भुजपरिमर्प-भुजा के बल चलने वाले नोलिये आदि।[1]

प्रज्ञापना मे आगे एकखुरा, द्विखुर, गण्डीपद, एव नखपाद के भेद और नाम बताये है।[2]

इनमे जो समूर्च्छिम है वे नपुसक है और जो गर्भज है स्त्री, पुरूष और नपुसक तीनो है।[3]

प्रज्ञापना मे स्थलचर को उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प तिर्यच पचेन्द्रिय की अपेक्षा मे दो भेद वाला भी कहा है और उनके नाम बताये है।[4]

ये भी समूर्च्छिम और गर्भज दोनो प्रकार के है तथा समूर्च्छिम नपुसक एव गर्भज स्त्री, पुरूष और नपुसक तीनो होते है।[5]

**खेचर तिर्यच पचेन्द्रिय :**—खेचर तिर्यंच पचेन्द्रिय चार प्रकार के है- चर्मपक्षी, लोमपक्षी,समुद्गक पक्षी, विततपक्षी।[6]

चर्मपक्षी-जिनकी पाँख चमडे की हो जैसे चमगादड आदि। जिनकी पाँखे रोएदार हो वे रोम या लोमपक्षी, जिनकी पाखें उडते समय पेटी जैसी रहे जैसे हम कलहस आदि, वे ममुद्गक पक्षी और जिनके पख फैले ही रहे, वे विततपक्षी। (ये मनुष्य क्षेत्र मे नही है) ये भी समूर्च्छिम तथा गर्भज दो प्रकार से निरूपित किये गए है तथा जो समूर्च्छिम है उन्हे नपुसक और जो गर्भज है उन्हे म्त्री, पुरूष और नपुसक के भेद से विभक्त किया है।[7]

**मनुष्य जीवो के प्रकार:**—मनुष्य दो प्रकार के होते है। समूर्च्छिम और गर्भज।[8] तीनो लोको मे ऊपर, नीचे और तिरछे देहका चारो ओर मे मूर्च्छन अर्थात् ग्रहण होना समूर्च्छन है। इसका अभिप्राय है, चारो ओर से पुद्गलों का ग्रहण

1 जीवविचार 21
2 प्रज्ञापना 1 71 74
3 प्रज्ञापना 1 75
4 प्रज्ञापना 1 76 83 85
5 प्रज्ञापना 1 84 85
6 प्रज्ञापना 1 86 एव जीवविचार 22
7 प्रज्ञापना 1 87 90
8 प्रज्ञापना 1 92

कर अवयवो की रचना होना। नारी के उदर मे शुक्र और शोणित के परस्पर ग्रहण को गर्भ कहते है।[1]

सम्मूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति के चौदह स्थान होते है। पन्द्रह कर्मभूमि, पन्द्रह अकर्मभूमि और छप्पन अन्तर्द्वीप मे गर्भज मनुष्यो के विष्ठा मे, मूत्र मे, नाक के मेल मे, वमन मे, पित्त मे, मवाद मे, रक्त मे, वीर्य मे, पूर्व मे सूखे शुक्र के बाद में भीगे पुद्गलो मे, मरे हुए जीवो के कलेवर मे, स्त्री पुरूष के सयोग मे, ग्राम के गटर मे, शहर के गटर अथवा सपूर्ण अपवित्र स्थानो मे ये पैदा होते है।[2]

गर्भज मनुष्य कर्मभूमि, अकर्मभूमि एव अन्तर्द्वीप मे पैदा होते है।[3]

अन्तर्द्वीपक 58 प्रकार के, कर्मभूमिक 15 प्रकार के, एव अकर्मभूमिक 30 प्रकार के होते है।[4]

गर्भज तीन प्रकार के होते है। जरायुज, अण्डज, और पोतज।[5] जो जाल के समान प्राणियो का आवरण है और जो मास व शोणित से बना है उसे जरायु कहते है। जो नख की त्वचा के समान कठिन है, गोल है और जिसका आवरण शुक्र और शोणित से बना है, उसे अण्ड कहते है। जिसके सब अवयव बिना आवरण के पूरे हुए है और जो योनि से निकलते ही हलन चलन आदि सामर्थ्य से युक्त है उसे पोत कहते है। जरायु से पैदा होने वाले जरायुज, अण्डो से पैदा होने वाले अण्डज, पोत से पैदा होने वाले पोतज कहलाते है।[6]

मनुष्य, गाय, बैल, बकरी आदि जरायुज, सर्प, गोह गिरगिट कबूतर आदि अण्डज, हाथी, खरगोश, भारण्डपक्षी, आदि पोतज कहलाते है।[7]

**नैरयिको के प्रकारः**—नरक सात प्रकार के है- रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुका प्रभा, पकप्रभा, धूमप्रभा, तम प्रभा, महातम प्रभा।[8] सातो नरको के जीव नपुसक

1 स सि 2 31 322

2 प्रज्ञापना 1 39

3 प्रज्ञापना 1 94

4 प्रज्ञापना 1 95-97

5 त सू 2 34

6 स सि 2 34 326

7 सभाष्यतत्वार्थाधिगम 2 34 108

8 प्रज्ञापना 1 60 त सू 3 1

होते है।[1] ये गति की अपेक्षा नारकी, इन्द्रिय की अपेक्षा पचेन्द्रिय, कषाय की अपेक्षा चारों कषाय युक्त, लेश्या की अपेक्षा इनमे कृष्ण, नील और कपोत लेश्या है। योग की अपेक्षा मनोयोगी, वचनयोगी, काययोगी है। उपयोग की अपेक्षा ज्ञान और दर्शन दोनो से युक्त है। ज्ञान की अपेक्षा मति, श्रुत, अवधि और मति अज्ञान, श्रुतअज्ञान विभगज्ञान है। दर्शन की अपेक्षा सम्यक् दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यक्मिथ्यादृष्टि है। चरित्र की अपेक्षा न तो चारित्री है, न चारित्राचारित्री है, बल्कि अचारित्री है। वेद की अपेक्षा नपुसक वेदी है।[2]

इन सातो नरको की भूमि क्रमश नीचे-नीचे और घनाम्बु तथा वायु और आकाश के सहारे स्थित है।[3] इन नारक भूमियो मे क्रमश तीस लाख, पचीस लाख, पन्द्रह् लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच नरक है।[4] इन नैरयिको मे लेश्या, परिणाम, शरीर प्रमाण, वेदना और विक्रिया क्रमश अशुभ, अशुभतर और अशुभतम होते जाते है तथा वेदना, शरीर प्रमाण आदि वृद्धिगत होते है।[5]

ये नारक परस्पर उत्पन्न किये गये दु ख वाले होते है। और तीन नरकभूमियो तक सक्लिष्ट आसुरो के द्वारा उत्पन्न किये गये दु ख वाले भी होते हैं।[6]

भयकर पीडा भोगने पर भी इनका अकाल मरण नही होता।[7]

इनकी उत्कृष्ट आयु क्रमश एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बावीस, और तेतीस सागरोपम है।[8]

**देवो के प्रकार.**—देवो के चार निकाय होते है। भवन पति, व्यतर, ज्योतिष्क और वैमानिक[9]।

इनमे कृष्ण, नील, कापोत और पीत लेश्या पायी जाती है।[10]

1 त सू 2 50
2 प्रज्ञापना 13 938
3 त सू 3 1
4 त सू 3 2 (दिगम्बर परम्परानुसार)
5 त सू 3 3
6 त सू 3 4-5
7 स मि 3 5 375
8 त सू 3 6
9 ठाणांग 4 124 एवं त सू 4 1
10 त सू 4 2

भवनवासी देव दस प्रकार के है,[1] व्यतर आठ प्रकार के, ज्योतिषी पाँच प्रकार के है। वैमानिक देव दो प्रकार के हैं- कल्पोपन्न और कल्पातीत।[2] कल्पोपन्न देव बारह प्रकार के एव कल्पातीत देव ग्रैवेयकवासी और अनुत्तरवासी भेद से दो प्रकार के है। ग्रेवेयक नौ प्रकार के एव अनुत्तरवासी पाँच प्रकार के है।[3]

भुवनपति देव मनुष्य लोक से नीचे रहते है। इनके निवास का विस्तृत विवेचन प्रज्ञापना सूत्र 177-186 मे पढे। व्यतर और ज्योतिष्क क्रमश विषम और तिरछे रूप से रहते है।[4]

वैमानिक क्रमश ऊपर-ऊपर रहते है।[5] वैमानिक ऐशान अर्थात् द्वितीय विमानवासी देवो तक के देव शरीर सपर्क द्वारा विषय भोग भोगते है।[6] उसके बाद क्रमश अवशिष्ट देव स्पर्श द्वारा, रूप द्वारा, शब्द द्वारा और मन से विषय भोग लेते है। यह स्थिति भी कल्पोपपन्न देवो तक रहती है। कल्पातीत देव तो विषयभोगो से पूर्णत विरत रहते है।[7]

क्रमश स्थिति, प्रभाव, सुख, चमक, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविशुद्धि, अवधिविषय आदि की अपेक्षा ऊपर ऊपर के देव अधिक है।[8]

देव एव नैरयिक जीव नियम से औपपातिक जन्म वाले होते है।[9]

**जीव और शरीर:**—जब तक राग-द्वेष की स्थिति रहती है, तभी तक आत्मा शरीर के बधन मे निवास करती है।[10]

शरीर पाँच प्रकार के होते है- औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण।[11]

---

1 त सू 4 10

2 त सू 4 11,12 11 त सू 4 16,17 एव प्रज्ञापना 1 143

3 प्रज्ञापना 1 144-147

4 स सि 418-477

5 त सू 4 18

6 त सू 4 7

7 त सू 4 8 9

8 त सू 4 20 एव स सि 4 20 481

9 ठाणाग 2 34

10 ठाणांग 2 163

11 प्रज्ञापना 12 901 एव त सू 2 36

**औदारिक शरीरः**—विशेष शरीर नाम कर्म के उदय से प्राप्त होकर गलते है उन्हे शरीर कहते है। ये औदारिक आदि प्रकृति विशेष के उदय से प्राप्त होता हैं। इसका गलना, सडना और विध्वस होना स्वभाव है।[1]

**वैक्रिय शरीर.**—अणिमा आदि आठ, ऐश्वर्य-सबध से एक, अनेक, छोटा, वडा आदि नाना प्रकार के शरीर की सरचना करना विक्रिया है। यह विक्रिया जिस शरीर का प्रयोजन है, वह वैक्रिय है।[2]

**आहारक शरीर** '—सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान करने के लिए या असयम को दूर करने की इच्छा से प्रमत्त सयत जिस शरीर की रचना करता है, वह आहारक शरीर है।[3]

**तैजस शरीर :**—जो दीप्ति का कारण है या तेज मे उत्पन्न होता है उसे तैजस कहते है।[4] ग्रहण किए हुए आहार को यही शरीर पचाता है।[5]

**कार्मण शरीर :**—कर्मों का कार्य कार्मण शरीर है। यद्यपि सारे शरीर कर्म के निमित्त से उत्पन्न होते है, तो भी रूढि से विशिष्ट शरीर को कार्मण शरीर कहते है।[6]

**किसे कितने शरीर होते हैः**—नैरयिको को एंव देवगति मे देवो को वैक्रिय, तेजस और कार्मण शरीर होते है। पृथ्वी, अप्, तेउ, वनस्पति, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय को औदारिक, वैक्रिय, तेजस और कार्मण शरीर प्राप्त होते है। वायु काय एव तिर्यंच पचेद्रिय को औदारिक, वैक्रिय, तेजस और कार्मण शरीर प्राप्त होते है। मनुष्य को पाँचो शरीर प्राप्त हो सकते है।[7]

**आत्मा और चारित्रः**—चारित्र परिणाम पाँच प्रकार का होता है- (1) सामायिक चारित्र (2) छेदोपस्थापनीय चारित्र (3) परिहारविशुद्धि चारित्र (4) सूक्ष्म सपराय चारित्र (5) यथाख्यात चारित्र।[8]

---

1 पैंतीस बोल विवरण पृ 10

2 स सि 2 36 331

3 स सि 2 36 331

4 स सि 2 36 331

5 पैतीस बोल विवरण पृ 11

6 स सि 2 36 331

7 प्रज्ञापना 12 902-7

8 प्रज्ञापना 13 936 त सू 9 8 तथा ठाणाग 5 139

**सामायिक**·—राग-द्वेष की विषमता को मिटाकर शत्रु मित्र के प्रति ममभाव को धारण करना सामायिक है। इससे ज्ञान, ध्यान और मयम का लाभ होता है। इसकी जघन्य अवधि 48 मिनट एव उत्कृष्ट अवधि छ माह की होती है।[1] सामायिक दो प्रकार की है- नियतकाल सामायिक म्वाध्याय आदि और ईर्यापथ का विवेक अनियतकाल सामायिक है।[2]

**छेदोपस्थापनीयः**—यह सयमधारी साधु माध्वी मे पाया जाता है। छोटी दीक्षा के पर्याय का छेद करके बडी दीक्षा के अनुष्ठान को छेदोपस्थापनीय कहते है।[3] अथवा विकल्पो की निवृत्ति का नाम छेदोपम्थापनीय चारित्र है।[4]

**परिहारविशुद्धिः**—प्राणीवध से निवृत्ति को परिहार कहते है। इमसे युक्त शुद्धि जिस चारित्र मे होती है, वह परिहार विशुद्धि चारित्र है[5] अथवा विशिष्ट श्रुतपूर्वधारी साधुसघ से अपने को अलग करके आत्मा की विशुद्धि के लिए जिस अनुष्ठान को करता है, वह परिहार विशुद्धि चारित्र है।[6]

**सूक्ष्म सपराय**·—जिस चारित्र मे कषाय अति अल्प या सूक्ष्म हो जाय वह सूक्ष्म सपराय चारित्र है।[7]

**यथाख्यात चारित्र**.—मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा का स्वभाव है, उस अवस्थास्वरूप अपेक्षा लक्षण जो चारित्र होता है उसे यथाख्यात चारित्र कहते है।[8]

**लेश्या और जीव**.—लेश्या छह प्रकार की होती है—कृष्ण,नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल।[9] लेश्या की परिभाषा है- कृष्ण लेश्या आदि के योग से होने वाला आत्मा का परिणाम लेश्या कहलाता है। जैसे स्फटिक मणि के पास किसी वर्ण का पदार्थ रख दिया तो मणि उसी वर्ण वाली लगेगी। उसी प्रकार आत्मा जिस लेश्या के परिणाम वाली होती है, उसी लेश्यायुक्त कहलाएगी।[10]

1 पैतीस बोल विवरण पृ 51,52
2 स सि 9 8 854
3 पैतीस बोल विवरण पृ 52
4 स सि 9 8 854
5 स सि 9 8 854
6 पैतीस बोल विवरण पृ 52
7 स सि 9 8 854
8 वही
9 ठाणाग 6 47
10 प्रज्ञापना सूत्र मलयगिरि वृत्ति पत्राक 329

लेश्या भावना विशेष को कहते है। नैरयिको मे कृष्ण लेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या होती है।[9] तिर्यच योनि मे छहो लेश्याएँ होती है। पृथ्वीकाय, अप्काय एव वनस्पति काय मे कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या होती है।[1]

बेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तेउकाय और वायुकाय मे कृष्ण, नील और कापोत लेश्या पायी जा सकती है।[2] तिर्यच पचेन्द्रिय जीवो मे छहो लेश्या पायी जाती है।[3] सम्मूर्च्छिम तिर्यंच पचेन्द्रिय मे कृष्ण, नील और कापोत लेश्या पायी जाती है।[4] गर्भज तिर्यच पचेन्द्रिय मे कृष्ण से शुक्ललेश्या पर्यत छहो लेश्याएँ पायी जाती है।[5]

सम्मूर्च्छिम मनुष्य मे कृष्ण, नील, कापोत, ये तीन[6] और गर्भज मनुष्य मे छहो लेश्या पायी जाती है।[7]

भुवनवासी निकाय के देवो मे कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या, व्यतर देवो मे भी ये चार, ज्योतिषी देवो मे मात्र तेजोलेश्या और वैमानिक देवो मे तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ल लेश्या पायी जाती है। अन्य सभी स्थानो पर पुल्लिग और स्त्रीलिंग मे समान लेश्या है पर वैमानिक देविया इमका अपवाद है। उनमे मात्र तेजोलेश्या ही पायी जाती है।[8]

ये लेश्याएँ सभी मे सख्यानुसार होना अनिवार्य नही है। जीवो के अपने-अपने पुरूषार्थ की अपेक्षा उस-उस लेश्या तक पहुँचने की क्षमता हो सकती है।

कृष्णलेश्या की अधिकता वाला अत्यत रौद्र, मत्सर, नित्यक्रोधी, धर्म रहित, दयाहीन और गहरी दुश्मनी वाला होता है।

नीललेश्या वाला चिंता, आकुलता से पीडित, परनिंदा, स्वप्रशसा और रूष्ट स्वभाव वाला होता है।

---

1 प्रज्ञापना 17 1159-61
2 प्रज्ञापना 17 1162
3 प्रज्ञापना 17 1163
4 प्रज्ञापना 17 1163 (2)
5 प्रज्ञापना 17 1163 (3) 1164 (1)
6 प्रज्ञापना 17 1164 (2)
7 प्रज्ञापना 17 1164 (2) 3 प्रज्ञापना 17 1164 (3)
8 प्रज्ञापना 17 1166-69

तेजोलेश्या वाला विद्वान्, दयालु, कार्य का अनुचित/उचित विचारक, विवेकी आदि होता है।

पद्मलेश्या वाला क्षमाशील, त्यागी, देव गुरु भक्त, निर्मल चित्त एव सदानदी स्वभाव वाला होता है।

शुक्ललेश्या वाला राग द्वेष रहित, शोक और निद्रामुक्त, परमात्म-वैभव से युक्त होता है।[1]

**कर्म और जीवनः**—कर्म सिद्धात और उस पर सूक्ष्म चिंतन जैन दर्शन की अभूतपूर्व देन है। कर्म सिद्धात से सबधित विपुल साहित्य जैन दर्शन की अनमोल सपत्ति है। भारतीय वाङ्मय मे अनेको वादो का दिग्दर्शन हुआ है, जो कालवाद स्वभाववाद, नियति यदृच्छा, योनि, पुरूष आदि को ससार की उत्पत्ति का कारण एव सुख-दुख का कारण मानते है।[2] जैन दर्शन ने सुख दु ख का कारण जीव के कर्म को माना है।

आत्मा के आन्तरिक विकास या न्यूनता का कारण कर्म है। कर्म सयोग से आत्मा की शक्ति आवृत होती है और कर्म वियोग से, प्रकट होती है शक्ति शुद्ध आत्मा पर कर्मप्रभाव नही होता।

जैन दर्शन स्याद्वाद को स्वीकार करता है। जैन दर्शन किसी भी कार्य के लिये पाँच तत्वो को अनिवार्य मानता है- काल, स्वभाव, नियति, पुरूषार्थ और कर्म ये पाँचो मिलकर कार्य का रूप धारण करते है। इन पाँचो मे कर्म मुख्य है, पर इन चारो का भी अस्तित्व है।

जैन दर्शन कर्म को पुद्गल मानता है।[3] इन कर्म पुद्गलो के कारण ही परतत्रता और दु ख है। आत्मा अरूपी होते हुए भी कर्म के कारण रूपी और मूर्त है।[4]

जीव मिथ्यादर्शनादि परिणामो के द्वारा जिन्हे उपार्जित करता है, कर्म कहलाते है।[5]

---

1 पैतीस बोल विवरण 40 41

2 "काल स्वभावो नियति- सुखदु ख हेतो" श्वेताश्वर उप ।2

3 त सू 8 2

4 भगवती अभय वृत्ति पत्र 623

5 परीक्षामुख 114 296

कर्म दो प्रकार के है- द्रव्यकर्म और भावकर्म। द्रव्यकर्म आठ प्रकार का है। यह मूल-प्रकृति के भेद से है, उत्तर प्रकृति के भेद से एक सौ अट्ठावन प्रकार का है। तथा उत्तरोत्तर भेद से तो अनेक प्रकार का है।

भावकर्म चैतन्य परिणामरूप है क्योकि क्रोधादिकर्मो के उदय से होने वाले क्रोधादि आत्मपरिणाम यद्यपि औदयिक है तथापि वे कथचित् अभिन्न है, लेकिन ज्ञानरूपता नही है क्योकि ज्ञान औदयिक नही है। अत क्रोधादि आत्मपरिणाम आत्मा से अभिन्न होने के कारण कथचित् चैतन्य परिणामात्मक है।[1]

मोहनीय कर्म के दो भेद होते है- चारित्र मोहनीय और दर्शन मोहनीय। कषाय और नो कषाय के भेद से चारित्र मोहनीय दो प्रकार का एव दर्शनमोहनीय तीन प्रकार का है।[2]

चारित्रमोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है- (1) अकषायवेदनीय और (2) कषायवेदनीय। (1) किंचित अर्थात अत्यल्प मात्रा मे कषाय के उदय को अकषाय चारित्र मोहनीय कहते है एव इसके हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरूष वेद और नपुसक वेद, इस प्रकार नौ भेद है तथा (2) अनतानुबधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी, और सज्वलन- इनके चारो के क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से सोलह भेद कषायमोहनीय चारित्र के होते है।[3] चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा का चारित्र गुण प्रकट नही होता।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद- (1) सम्यक्त्व (2) मिथ्यात्व और (3) सम्यक्मिथ्यात्व।

सम्यक्त्व'-जब मिथ्यात्व, शुभ परिणामो के कारण अपने विपाक को रोक देता है और उदासीन रूप से अवस्थित रहकर आत्मा के श्रद्धान को नही रोकता है, उसे सम्यक्त्व कहते है।

मिथ्यात्व.-जिसके उदय से यह जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थ के श्रद्धान करने मे निरुत्सुक एव हिताहित का विचार करने मे असमर्थ हो, उसे मिथ्यात्व कहते है।

1 परीक्षामुख का 115 एवं टीका 296 297।

2 उत्तराध्ययन 33 8 10

3 त मू 8 9 व उत्तराध्ययन 33 11

**सम्यक्त्व मिथ्यात्वः**– जिसका उदय मिले हुए परिणामो के होने मे निमित्त है, जो न केवल सम्यक्त्व रूप कहे जा सकते है और न केवल मिथ्यात्व रूप, किन्तु उभयरूप होते है, वह मिश्रमोहनीय कर्म है। इसके लिए उदाहरण जल से धोने आदि के कारण अर्धशुद्ध मद शक्ति वाले कोदो का दिया जाता है।[1]

मूल प्रकृति के आठ भेद है- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अतराय।[2]

**ज्ञानावरणीय-** आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करने वाला आवरण ज्ञानावरणीय कहलाता है।[3] आँख पर पट्टी बाँधने के कारण नेत्रो की पदार्थों को जानने की जो शक्ति रूक जाती है, उसे ज्ञानावरणीय कहते है।[4]

यह कर्म ज्ञान को आच्छादित करता है, समाप्त नही। ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच उत्तरप्रकृतियाँ हैं।[5]

**दर्शनावरणीयः-** पदार्थ के सामान्य धर्म का बोध जिसके कारण रूक जाय, उसे दर्शनावरणीय कर्म कहते है।[6] जिस प्रकार पहरेदार शासक को देखने के लिए उत्सुक व्यक्ति को रोक देता है, उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म की दर्शनशक्ति पर आवरण डालकर उसे रोक देता है।[7] इसकी नौ उत्तरकर्मप्रकृतियाँ है।[8]

**वेदनीयः**–जिस कर्म के कारण सुख-दुख का सवेदन आत्मा को होता है, उसे वेदनीय कहते है। वेदनीय कर्म की साता और असाता दो प्रकृतियाँ होती है।[9]

सातावेदनीय कर्म के कारण जीव को देवादि गतियो में शरीर और मन सबधी सुख मिलता है। असाता वेदनीय के उदय से नरकादि गतियो मे मन वचन और काया सबधी पीडा भोगनी पडती है।[10]

---

1 स सि 8 9 749
2 त सू 8 4 व ठाणाग 8 5 तथा उत्तराध्ययन 33 2 3
3 स सि 8 3 736
4 गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा 21
5 त सू 8 6 एव उत्तराध्ययन 33 4
6 "अनानालोकनम्" स सि 8 3 736
7 गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा 21
8 उत्तराध्ययन 33 5 6।
9 "वेदस्य सदसल्लक्षणस्य सुखदु ख सवेदनम्" स सि 8 3 736, उत्तराध्ययन 33 7
10 स सि 8 8 746

इसे शहद लिपटी तलवार की उपमा दी गयी है। जिस प्रकार चाटने मे तो शहद की मिठास का अनुभव होता है, परतु तुरत जिह्वा पर घाव होने के कारण जिस प्रकार दर्द होता है, उसी प्रकार साता वेदनीय के उदय के समय तो सुख प्राप्त होता हैं परतु असाता वेदनीय के उदय के समय तीव्र दुख का अनुभव होता है।

**मोहनीय**-मोहनीय कर्म को ससार का मूल कारण माना जाता है। यह आत्मा का शत्रु है क्योकि इसीके कारण समस्त दुख है। इसे शराब की उपमा दी गई है।

**आयु कर्म-** किसी विवक्षित शरीर मे जीव के रहने की अवधि को आयु कहते है। इसकी तुलना कारागार से की गयी है। जिस प्रकार न्यायाधीश अपराधी को कारागार मे डाल देता है तब न चाहते हुए भी उसे वहाँ रहना पडता है।[1]

आयु कर्म चार प्रकार का है- नरकायु, मनुष्यायु, तिर्यचायु और देवायु।[2]

अधिक परिग्रही, आसक्त, हिंसक, कृतघ्न, उत्सूत्र प्ररुपक आदि क्रियायुक्त नरकायु का, कपटी, मायावी, प्रपची आदि से युक्त आत्मा तिर्यचायु का, अल्प कषायी, दानरुचि, सौम्य, मनुष्यायु का एव पचमहाव्रत धारी साधु, श्रावक, व्रतधारी आदि देवायु का बधन करते है।[3]

**नाम कर्म**- जिसका निमित्त पाकर आत्मा गति, जाति, संस्थान, शरीर आदि प्राप्त करता है, वह नाम कर्म है।[4]

इसके मुख्य दो भेद है- शुभ और अशुभ। शुभ और अशुभ के अनेको उत्तरभेद भी होते है।[5]

**गोत्र कर्म** - गोत्र कर्म के मुख्य दो भेद है- उच्चगोत्र और नीचगोत्र।[6] जिसके उदय से पूज्यनीय कुल मे जन्म होता है, वह उच्चगोत्र और जिसके

1 गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा 11

2 त सू 8 10 एव ठाणांग 4 286

3 पैतीस बोल विवरण पृ 2,3

4 स सि 8 11 755

5 उत्तराध्ययन 33 13

6 त सू 12

उदय से निंदनीय कुल मे जन्म होता है, उसे नीचगोत्र कहते है।[1]

गोत्र कर्म से तात्पर्य जीव के आचार विचार से है, शरीर या रक्त से नही। इसीलिये गोत्र को जीवविपाकी कहा है।[2]

**अतराय कर्म-** जो कर्म विघ्न या बाधा उत्पन्न करता है, प्राप्ति की इच्छा होते हुए भी प्राप्त नही करने देता, देने की इच्छा होते हुए भी नही देने देता, भोग और उपभोग की इच्छा होते हुए भी भोगने नही देता, उत्साहित नही होने देता, इनके कारण को अतराय कर्म कहते है।[3]

इसके पाँच भेद है- दानातराय, लाभातराय, भोगा·भोगातराय, उपभोगातराय और वीर्यातराय।[4]

**जीव और पर्याप्ति**·-पर्याप्ति छ प्रकार की होती है- आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन।[5] प्रज्ञापना मे भाषा और मन दोनो को सयुक्त मानकर पाँच पर्याप्ति का निरूपण किया गया है।[6]

मृत्यु के पश्चात् ससारी जीव दूसरा जन्म लेने के लिये योनि स्थान मे प्रवेश करते ही अपने शरीर के योग्य कुछ पुद्गल वर्गणा को ग्रहण करता है, इसी को आहार कहते है। इस आहार वर्गणा को शरीर, इन्द्रिय आदि मे परिणत करने की जीव की शक्ति का पूर्ण हो जाना पर्याप्त है।

जीवो के चौदह भेद होते है।[7] इनमे पर्याप्त और अपर्याप्त प्रत्येक जीवो मे ये दो भेद होते है। वे पर्याप्त और अपर्याप्त इन पर्याप्तियो की पूर्णता और अपूर्णता से होते है। शरीर आदि पूर्ण रहने पर जीव पर्याप्त और अपूर्ण रहने पर अपर्याप्त कहलाते है, इन्द्रिय आदि अपूर्ण हो तो भी शरीर की पूर्णता मे पर्याप्तक कहलायेगे। अपर्याप्तक जीव शरीर पर्याप्त पूर्ण किये बिना ही मर जाते है। एक श्वास मे 18 जन्म मरण करने वाले जीव अपर्याप्तक कहलाते है।[8]

---

1 स सि 8 12 757

2 स सि 8 12 का "विशेपार्थ" पृ 308

3 स सि 8 13 759

4 त सू 8 13 एव उत्तराध्ययन 33 15

5 नवतत्व प्रकरण 6

6 प्रज्ञापणा 28 1904

7 समवायाग 14 1

8 "उदये दु अपुण्णस्स अपज्जत्तगो सो दु" गोम्मटसार (जीवकाण्ड) 122

**आहार पर्याप्ति.**—मृत्यु के बाद शरीर के योग्य कर्मवर्गणा ग्रहण करना आहार कहलाता है। उस आहार को रसरूप परिणमन करने की शक्ति की पूर्णता को आहार पर्याप्ति कहते है।[1]

**शरीर पर्याप्तिः**—जिसके पूर्ण होने पर आहार पर्याप्ति के द्वारा परिणत खलभाग हड्डी आदि कठोर अवयवो मे और रस खून बसा, और वीर्य आदि तरल अवयवो मे परिणत हो जाता है, उसे शरीर पर्याप्ति कहते है।[2]

**इन्द्रिय पर्याप्ति.**—दर्शनावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम योग्य देश मे स्थित रूपादि से युक्त पदार्थो को ग्रहण करने वाली शक्ति की उत्पत्ति के कारणभूत पुद्गल प्रचय की प्राप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति कहलाती है।[3] अथवा "खून, मास, मेद, मज्जा, अस्थि और वीर्य इस प्रकार सात धातुओ से स्पर्श और रसन आदि द्रव्येन्द्रियो को बनाने की जो शक्ति है, उसे इन्द्रिय पर्याप्ति कहते है।[4]

**श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिः**—आहार वर्गणा से ग्रहण किये पुद्गल स्कधो को उच्छ्वास नि श्वास रूप मे परिणत करने वाली शक्ति को श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते है।[5]

**भाषा पर्याप्तिः**—जिस शक्ति की पूर्णता से वचन रूप पुद्गल स्कध वचनो मे परिणमित होते है, वह भाषा पर्याप्ति कहलाती है।[6]

**मन पर्याप्ति.**—जिस शक्ति के पूर्ण होने से द्रव्यमन योग्य पुद्गल स्कध द्रव्यमन के रूप मे परिणत हो जाते है, उसे मनपर्याप्ति कहते है।[7]

**आत्मा और गुणस्थानः**—जीव के विकास सोपान चौदह माने गये है।[8] मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसपराय, उपशात, क्षीणमोह, सयोगी

---

1 गोम्मटसार (जीवकाण्ड) जीवतत्वदीपिका 118

2 गोम्मटसार (जीवकाण्ड) जीवतत्वप्रदीपिका 119

3 वही

4 पैतीस बोल विवरण पृ 8

5 वही पृ 8 9 एवं धवला 1 1 34

6 वही

7 वही

8 समवायाग 14 5

केवली और अयोगीकेवली।[1]

(1) **मिथ्यात्वः**–मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तत्त्वार्थ के विपरीत श्रद्धान को मिथ्यात्व कहते है। इसके एकात, विपरीत, विनय, सशयित और अज्ञान पाँच भेद है।[2]

(2) **सासादन.**–उपशम सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्तमात्र काल मे जब जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट छ आवली प्रमाण काल शेष रहे, उतने काल मे अनतानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ मे से किसी के उदय से सम्यक्त्व की विराधना होने पर सम्यग् दर्शन गुण की जो अव्यक्त अतत्वश्रद्धारूप परिणति होती है, उनको सासादन गुणस्थान कहते है।

(3) **मिश्र गुणस्थानः**–जिस प्रकार दही और गुड को अच्छी तरह मिलाने पर न उसका स्वाद खट्टा होता है न मीठा, अपितु मिश्रित होता है, उसी प्रकार मिश्र मे सम्यक्त्व मिथ्यात्व का मिश्रित परिणाम होता है और एक ही जीव मे एक साथ दोनो सभव भी है, जैसे एक ही व्यक्ति एक का मित्र है, एक का अमित्र; वैसे ही एक ही व्यक्ति सर्वज्ञप्ररूपित वचनो मे एव असर्वज्ञकथित सिद्धातो मे एक साथ श्रद्धान रखता है।[3]

इस गुणस्थान मे न चारित्र ग्रहण करता है, न श्रावकत्व। इसमे आयु बध भी नही पडता और न इसमे व्यक्ति की मृत्यु हो सकती है।[4]

(4) **अविरत सम्यग्दृष्टिः**–इस गुणस्थान मे जीव की सम्यक्दृष्टि होते हुए भी जीव व्रतधारी नही बन सकता। यह श्रद्धान (सर्वज्ञ प्ररूपित वाणी मे) अवश्य रखता है, परतु प्रवृत्ति नही कर सकता।[5]

(5) **देशविरत गुणस्थानः**–इस गुणस्थान मे प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने के कारण पूर्ण सयम नही, परतु अप्रत्याख्यानावरण कषाय न होने से देशविरत (आशिक व्रत) ले सकता है।[6]

---

1 गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा 9 10 तथा द्वितीय कर्मग्रन्थ गा 2
2 गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा 15 16 17
3 गोम्मटसार (जीवकाण्ड) 21,22
4 वही गा 23 24
5 गोम्मटसार (जीवकाण्ड) 29
6 वही 30

इसे विरताविरत या सयमासयम भी कहते है।[1] इस गुणस्थान मे त्रसहिंसा से विरत, परतु उसी समय स्थावर हिंसा से अविरत होता है, इसीलिये उसे विरताविरत कहते है।[2] इसमे क्षायोपशमिक भाव होता है।

(6) **प्रमत्तसयत गुणस्थान**·–प्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम होने से पूर्ण सयम तो हो चुका, परतु उस सयम के साथ सज्वलन और नोकषाय के उदय से सयम मे बाधा उत्पन्न करनेवाला प्रमाद भी होता है, इसे प्रमत्तसयत गुणस्थान कहते है। यद्यपि इस गुणस्थान मे जीव मूलगुण और शील से युक्त होता है परतु व्यक्त और अव्यक्त दोनो प्रकार के प्रमादो को करने से वह सयम मे भी सपूर्ण सयममय नही बनता।[3]

(7) **अप्रमत्तसयत गुणस्थान** –जब सज्वलन और कषाय मद हो जाते है, तब सकल सयम से युक्त मुनि के प्रमाद का अभाव हो जाता है। इसलिये इस गुणस्थान को अप्रमतसयत कहते है।[4] इसके भेद एव उपभेद की गोम्मटसार मे विस्तृत चर्चा है।[5]

(8) **अपूर्वकरण गुणस्थानः**–प्रथम कभी न उत्पन्न परिणाम की उत्पत्ति इस गुणस्थान मे होती है। इस गुणस्थान मे भिन्न समयवर्ती जीवो के विशुद्ध परिणाम विसदृश ही होते है, परन्तु एक समयवर्ती जीवो के परिणामो मे सादृश्य और वैसादृश्य दोनो होते है।[6] इसका काल मात्र अन्तर्मुहूर्त होता है।[7]

(9) **अनिवृत्तिकरण गुणस्थान.**–इस गुणस्थान मे विशुद्ध परिणामो का भेद समाप्त हो जाता है। अन्तर्मुहुर्त मात्र अनिवृत्ति के काल मे मे किसी एक समय मे रहने वाले अनेक जीवो मे शरीर के आकार, वर्ण आदि की अपेक्षा भेद होता है। जिन विशुद्ध परिणामो द्वारा उनमे भेद नही होता, वे अनिवृत्तिकरण परिणाम कहलाते है। इसमे विशुद्ध परिणाम एक जैसे ही पाये जाते है तथा ये परिणाम ध्यान रूपी अग्नि मे कर्मकाष्ठ

1 तवा 258
2 गोम्मटसार (जीवकाण्ड) 31
3 गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा 32 33
4 गोम्मटसार (जीवकाण्ड) 45
5 वही गा 49
6 वही 51 52
7 वही 52

जलाने मे समर्थ होते है।[1]

(10) **सूक्ष्मसपराय:**–इस गुणस्थान मे अत्यत सूक्ष्म लोभ कषाय का उदय रहता है। रग से रगे वस्त्र की लालिमा धोने पर जैसे फीकी हो जाती है, वैसे ही इस गुणस्थान मे राग अत्यत अल्प होता है। मात्र सूक्ष्म लोभ होने के कारण यथाख्यात चारित्र उदय मे नही आता।[2]

(11) **उपशातकषाय गुणस्थान .**–निर्मल फल से युक्त जल की तरह अथवा शरदऋतु मे होने वाले सरोवर के जल की तरह सपूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणामो को उपशात कषाय गुणस्थान कहते है।[3]

(12) **क्षीणमोह:**–जिस निर्ग्रन्थ का हृदय मोहनीय कर्म के क्षीण होने से स्फटिक के निर्मल पात्र मे रखे गये जल के समान निर्मल हो जाता है, उसे क्षीणमोह कषाय गुणस्थान कहते है।[4]

(13) **सयोगीकेवली:**–केवलज्ञान रुपी प्रकाश से जिसके अज्ञान का अधेरा समाप्त हो गया है, जिसे परमात्मा की सज्ञा प्राप्त हो चुकी है, इन्द्रियो के सहयोग की अपेक्षा न रखने वाले काययुक्त को सयोगीकेवली कहते है।[5]

(14) **अयोगीकेवली**·–जिसके कर्मो का आश्रव (आगमन) सर्वथा रुक गया है, कर्मरुपी रज की पूर्णतया निर्जरा कर चुके योगरहित को अयोगीकेवली गुणस्थान कहते है।[6] यह सिद्धात्मा भी कहलाती है। जीव की परिपूर्णता और उत्कृष्टता इसी गुणस्थान मे प्राप्त होती है।

इन गुणस्थानो के विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मा उत्तरोत्तर विकास करती हुई अत मे सपूर्ण कर्म क्षय करके अपने शुद्धरुप को उपलब्ध करती है।

मोह और योग के कारण जीव के अतरग परिणामो मे प्रतिक्षण होने

---

1 वही 56 57

2 वही 58 60

3 वही गा 61

4 वही गा 62 एव त वा 9 1 22 590

5 गोम्मटसार जीवकाण्ड 64

6 वही 65

वाले उतार चढ़ाव को गुणस्थान कहते है। इसे ओघ और सक्षेप भी कहते है।[1]

**पुण्य, पाप बध और जीवः**—मुख्य तत्व तो इस ससार मे दो ही है-जीव और अजीव।[2] इनका विस्तार करने पर जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष ये नौ तत्व होते है।[3] जीव का विवेचन हम आगे के पृष्ठो मे कर आये है।

अजीव दो प्रकार का है- मूर्त और अमूर्त। जिसमे वर्ण, गध, रस, स्पर्श हो उसे रुपी या मूर्त्त कहते है और जिसमे ये चारो न हो वे अमूर्त्त है।[4] इसका विस्तृत विवेचन अगले अध्याय मे करेगे।

**पुण्य पाप** —ठाणाग मे नौ प्रकार से पुण्य बताया गया है। अन्न देने से, पानी देने से, वस्त्रदान से, लयनदान से, शयनसाधन देने से, मन, वचन, काया की शुभ प्रवृति से एव नमस्कार से पुण्य होता है[5]

षड्दर्शन समुच्चय मे हरिभद्रसूरि ने पुण्य की परिभाषा दी, " सत्कर्मो द्वारा लाये गये कर्म पुद्गलो को पुण्य कहते है।"[6] ठाणाग मे पाप के स्थान भी नौ बताये है- प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ।[7]

प्रभु महावीर के गणधर अचलभ्राता का तो सदेह ही पुण्य, पाप के अस्तित्व और उसके स्वरूप से सबधित था। उनके मन मे पुण्य पाप से सबधित पाँच प्रश्न थे:

"मात्र पुण्य ही है। पाप के अस्तित्व की कोई आवश्यकता नही है। पुण्य बढ़ता है, सुख बढ़ता है, पुण्य घटता है, सुख घटता है। फिर पाप के स्वतत्र अस्तित्व की क्या आवश्यकता है।[8]" या यह भी हो सकता है कि " पाप का ही अस्तित्व माने। पाप घटा, सुख मिला। पाप बढ़ा, दु ख बढ़ा।[9]" या इन

1 "संखेओ ओघो त्ति य गुणसण्णा सकम्मभवा" जीवकाण्ड (गोम्मटसार)3
2 उत्तराध्ययन 36
3 नवतत्त्व 1
4 उत्तराध्ययन 36 4
5 ठाणांग 9 25
6 षड्दर्शनसमुच्चय 49
7 ठाणांग 9 26
8 गणधरवाद 1908 9
9 गणधरवाद 1910

दोनो का सयुक्त अस्तित्व है।[1] चौथा मत यह है कि "पुण्य पाप दोनो स्वतत्र है।" पाँचवा मत यह है कि पुण्य पाप कुछ भी नही है।"

इन सभी प्रश्नो को प्रभु ने समाधान से समाहित किया-देहादि का जो कारण हैं वह कर्म है।[2] कर्म दो प्रकार के है- पुण्य और पाप। शुभ कार्यादि से पुण्य का और अशुभ कार्यादि से पाप का अस्तित्व सिद्ध होता है।[3]

पुण्य और पाप स्वतत्र है। सुख का अनुरूप कारण पुण्य एव दु ख का अनुरुप कारण पाप है।[4]

सुख के अत्यत उत्कर्ष का कारण पुण्य को और दु ख के अत्यत उत्कर्ष का कारण पाप को मानना होगा। पाप को पुण्य से सर्वथा पृथक् नही किया जा सकता। अत पुण्य और पाप दोनो मानने चाहिये।[5]

दु ख के लिये जिस प्रकार पाप की कल्पना अनिवार्य है, सुख के लिये उसी प्रकार पुण्य की कल्पना अनिवार्य है। चाहे जहर कम हो या ज्यादा वह हानि पहुँचा ही सकता है, उससे अमृत की कल्पना सभव नही। पाप तो दु ख का ही कारण बनता है।[6]

ध्यान जैसे एक ही होता है उसी प्रकार कर्मोदय एक ही प्रकार का होता है। इन्हे स्वतत्र ही मानेगे।[7] पुण्य और पाप दोनो पुद्‌गल है, पर न अत्यत स्थूल है न अत्यत सूक्ष्म।[8] आचार्य कुदकुद ने पुण्य और पाप दोनो को जीव का बधन माना है और एक को सोने की तथा एक को लोहे की बेडी कहा है। इतना ही नही परतु उन्होने तो यह भी कहा कि जीव को इन दोनो का त्याग करना चाहिये। इन दोनो के योग से जीव कर्म बध करता है और इनसे विरक्त आत्मा कर्ममुक्त बनती है।

भगवती मे पाप और पुण्य के सबध मे जिज्ञासा और महावीर द्वारा

1 गणधरवाद 1911

2 गणधरवाद 1919

3 गणधरवाद 1920

4 गणधरवाद 1921

5 गणधरवाद 1930

6 गणधरवाद 1933

7 गणधरवाद 1937

8 गणधरवाद 1940

उसके विवेचन का वृतात मिलता है। "जिस प्रकार से सर्वथा सुदर, सुसज्जित थाली मे अठ्ठारह प्रकार का भोजन हो, परतु वह विष मिश्रित रूप हो तो भोजन करने में आनद तो आयेगा पर उसका परिणाम अशुभ होगा। उसी प्रकार पापो का सेवन तो अच्छा लगता है पर उसका परिणाम खतरनाक होता है।[1]

पुण्य बध का उदाहरण इस प्रकार दिया कि एक व्यक्ति सुदर औषधमिश्रित भोजन करता है, यद्यपि स्वाद उसे रुचिकर नही लगेगा, परतु परिणाम अच्छा होगा।[2] पुण्य बध मे सुख या रुचि नही होती पर उसका परिणाम रुचिकर अवश्य होता है।[3]

तत्वार्थ सूत्र मे पुण्य को शुभ योग वाला और पाप को अशुभ योग वाला कहा है।[4]

हिसा, चोरी, मैथुन आदि अशुभ काययोग असत्य, कठोर, असत्य वचन, अशुभ वचनयोग, मारने का विचार, अहितकारी विचार आदि अशुभ मनोयोग है। इनमे विपरीत शुभ काययोग, शुभ वचनयोग, शुभमनोयोग है।[5]

जो आत्मा को पवित्र करे वह पुण्य और जो आत्मा को शुभ से बचावे वह पाप है। पुण्य का उदाहरण साता वेदनीय एव पाप का उदाहरण असातावेदनीय है।[6]

भगवती मे बध का कारण काक्षामोहनीय कर्म को माना है। प्रमाद और योग के निमित्त से जीव काक्षामोहनीय कर्म बाधता है। प्रमाद योग मे उत्पन्न होता है, योग वीर्य से एव वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है। (जीव नामकर्मयुक्त हो तभी शरीर उत्पन्न करता है।) जब बध का कारण शरीर है तो उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषाकार पराक्रम भी जीव से ही होता है।[7]

**आश्रव, सवर, निर्जरा और जीव**·—आश्रव का अर्थ है द्वार[1] कमो के आगमन

1 समयसार 146
2 स मा 147 50
3 भगवती 7 10 15-18
4 त सू 6 3
5 स सि 6 3 614
6 वही
7 भगवती 1 3 8 9

या प्रवेश द्वार को आश्रव कहते है। तत्त्वार्थसूत्र मे[1] उमास्वाति ने पाँच एव कुदकुदाचार्य ने समयसार मे[2] आश्रव के चार भेद बताये है- मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। कुदकुद ने प्रमाद के अतिरिक्त चारो माने है।

आश्रव द्रव्याश्रव एव भावाश्रव रूप से दो प्रकार का है। आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आश्रव होता है, उसे भावाश्रव एव ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के आश्रव को द्रव्याश्रव कहते है।[3]

श्रीमद् नेमीचद ने आश्रव पाँच माने है और उनके क्रमश पाँच, पन्द्रह, तीन और चार भेद भी किये है।[4]

ठाणाग सूत्र मे इन आश्रवो का अर्थ करते हुए लिखा है- मिथ्यात्व- विपरीत श्रद्धा, अविरति - व्रतरहित जीवन, प्रमाद-आत्मिक अनुत्साह, कषाय-आत्मा का रागद्वेषात्मक उत्ताप, योग-मन वचन और काया का व्यापार।[5]

हरिभद्र सूरि ने भी कर्म बध का कारण मिथ्यात्व आदि को आश्रव कहा है।[6]

कर्मो के आगमन के जैसे पाँच द्वार है, वैसे ही आते हुए उन कर्मो को रोकने के भी पाँच द्वार है- सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय, अयोग।[7]

तत्त्वार्थ सूत्र मे सवर की परिभाषा दी "जो आश्रव का निरोध करे/रोके वह सवर है।"[8]

यह सवर दो प्रकार का है। द्रव्यसवर एव भावसवर। ससार की निमित्तभूत क्रिया की निवृत्ति होना भावसवर एव इसका निरोध होने पर तत्पूर्वक होने वाले कर्म पुद्गलो के ग्रहण का विच्छेद होना द्रव्यसवर है।[9] यही परिभाषा नेमिचन्द्र ने दी है।[10]

1 तसू 8 1
2 ससा 164
3 वृद्रस 29
4 वृद्रस 30
5 ठाणाग 5 109
6 षड्दर्शनसमुच्चय का 50
7 ठाणाग 5 110
8 तसू 9 1
9 समि 9 1 785
10 वृद्रस 34

हरिभद्र सूरि ने भी कहा है कि "सवरस्तन्निरोध" आश्रव निरोध करने वाला सवर है।[1]

गुणरत्नसूरि ने इसे सर्वसवर और देशसवर के नाम से विभक्त किया है। जिस समय मन, वचन और काया का सूक्ष्म और स्थूल दोनो व्यापारो का सर्वथा निषेध हो जाय, उसे सवर कहते है। यह अयोगी केवली गुणस्थान मे अर्थात् सिद्धात्मा मे होता है। मन, वचन, काया की सयत प्रवृत्ति रूप चारित्र से देशसवर होता है।[2]

आश्रव और सवर जैन दर्शन के महत्वपूर्ण बिंदु है। प्रथम अग आचाराग के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक मे भी आश्रव सवर की व्याख्या उपलब्ध होती है।

आचाराग मे क्रिया करना, करवाना और उसका अनुमोदन करना आश्रव है।[3] और यही आश्रव ससार परिभ्रमण का कारण है[4] और इन सभी कर्म समारभो को जानकर त्यागना, यही सवर है। इसे साधने वाला ही मुनि होता है।[5]

**कर्म और आश्रवः**–ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म है। इन आठ कर्मो के आश्रवो को अलग-अलग इस प्रकार से समझा जा सकता है। प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अतराय, आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आश्रव है।[6]

श्री पूज्यपाद ने निह्नव आदि का अर्थ किया है- तत्त्वज्ञान मोक्षका साधन है, उसका गुणगान करने पर उस समय नही बोलने वाले के भीतर जो पैशुन्यरूप परिणाम है वह प्रदोष है। किसी कारण से "ऐसा नही है, मै नही जानता" इत्यादि कहकर ज्ञान का अपलाप करना निह्नव है। ज्ञान का अभ्याम किया है, वह देने योग्य भी है, फिर भी जिस कारण (ईर्ष्या) से नही दिया जाता वह मात्सर्य है। ज्ञान का विच्छेद करना अतराय है। दूसरा कोई ज्ञान का

1 षड्दर्शनसमुच्चय 51
2 षड्दर्शनसमुच्चय टीका 51 229
3 आचाराग 1 1 6
4 आचाराग 1 1 8
5 वही 1 1 7 12
6 त सू 6 10

प्रकाश फैला रहा हो उस समय शरीर या वचन से उसका निषेध करना आसादन है। प्रशसनीय ज्ञान मे दूषण लगाना उपघात है।[1]

अपने मे, दूसरे मे या दोनो मे विद्यमान दु ख, शोक, ताप, आक्रंदन, वध, परिवेदन ये असाता वेदनीय कर्म के आश्रव है।[2]

प्राणी अनुकपा, व्रती, अनुकपा, दान और सरागसयम आदि का योग, शाति और शौच ये सातावेदनीय कर्म के आश्रव है।[3]

केवली, श्रुत, सघ, धर्म, और देव इनका अवर्णवाद बोलना (गुणीपुरुषो मे दोषो की अविद्यमानता होने पर भी उन मे उन दोषो का उद्‌भावन करना) दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव है।[4]

कषाय के उदय से होने वाले तीव्र आत्मपरिणाम को चारित्रमोहनीय कर्म का आश्रव कहते है।[5]

धवला मे इसे और भी स्पष्ट किया है। मिथ्यात्व, असयम, और कषाय पाप की क्रियाए है। इन पापरुप क्रिया की निवृत्ति को चारित्र कहते है। जो कर्म इस चारित्र को आच्छादित करता है, उसे चारित्र मोहनीय आश्रव कहते है।[6]

अत्यत आरभ और परिग्रह का भाव नरकायु का आश्रव, कपट (माया) तिर्यचायु का, अल्पारभ और अल्प परिग्रह का भाव एव स्वभाव की मृदुता मनुष्यायु का और सराग सयम, सयमासयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देवायु के आश्रव है।[7]

योगवक्रता और विसवाद ये अशुभ नाम कर्म के आश्रव है तथा योग की सरलता और अविसवाद ये शुभ नाम कर्म के आश्रव है।[8] शुभ नाम कर्म अत्यत महत्वपूर्ण है। दर्शनविशुद्धि, विनयसपन्नता, शील, सदाचार, व्रतो का

1 स सि 6 10 628
2 त स 6 11
3 त सू 6 12
4 त सू 6 13
5 त सू 6 14
6 धवला 22 6 1 9-11 पृ 40
7 त सू 6 15-17 19
8 त सू 6 22 23

अतिचार रहित पालन, ज्ञान मे सतत उपयोग, सतत मवेग, शक्ति के अनुसार त्याग, तप, साधु-समाधि, वैयावृत्त्य, अरिहतभक्ति, आचार्य भक्ति बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यक क्रियाओ को न छोडना, मोक्षमार्ग की प्रभावना और प्रवचन वात्सल्य तीर्थकर नाम कर्म के आश्रव है।[1]

परनिंदा, आत्मप्रशसा, सद्‌गुणो का उच्छादन, और असद्‌गुणो का उद्‌भावन ये नीच गोत्र के आश्रव है।[2] अकलक ने उच्छादन और उद्‌भावन का अर्थ किया है - प्रतिबन्धक कारणो से वस्तु का प्रकट नही होना उच्छादन है और प्रतिबन्धक के हट जाने पर प्रकाश मे आ जाना उद्‌भावन है।[3]

इनसे विपरीत अर्थात् परप्रशसा, आत्मनिंदा, सद्‌गुणो का उद्‌भावन, असद्‌गुणो का उच्छादन, नम्रवृत्ति और अनुत्सेक ये उच्च गोत्र के आश्रव है।[4]

अनुत्सेक अर्थाद् अहकार रहित होना है जो गूयते अर्थात् शब्द व्यवहार मे आवे, यह गोत्र है।[5]

ज्ञान सत्कार दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, स्नान, अनुलेपन, गध, माल्य, आच्छादन आदि मे विघ्न करना आदि-2 अतराय आश्रव के कारण है।[6]

**सवरनिर्जरा**—इन आठो कर्मो के कर्म प्रवेश द्वार रूप आश्रव को रोकना सवर है।

सवर का तात्पर्य हुआ-कर्मद्वार को बध करना। जो पूर्व मे या अतीत मे जीव कर्मबधन कर चुका है उनमे मुक्त होने को निर्जरा कहते है। हरिभद्र मूरि ने इसकी परिभाषा दी है-"बधे हुए कर्मो के झडने को निर्जरा कहते है।"[7]

निर्जरा दो प्रकार मे होती है - मकाम निर्जरा और अकाम निर्जरा। कर्मो को झडा देने की इच्छा से जो साधु दुष्कर तप तपते है, श्मशान मे रात्रि के वक्त खडे होकर ध्यान करते है, भूख प्याम, मरदी, गरमी आदि

1 त सू 6.24
2 त सू 6 25
3 त रा वा 6 25 530
4 त सू 6 27
5 त रा वा 6 25 531
6 त रा वा 6 27 531
7 षड्दर्शन समुच्चय का 51

विविध परिषहो को सहन करते है, बाधाएँ सहते है, लोच करते है, अठारह प्रकार के शील को धारण करते है, बाह्य तथा आभ्यतर राग द्वेष का त्याग करते है, उन उग्र तपश्चरण करने वाले शरीरासक्ति रहित मुनियो के कर्मो की निर्जरा सकाम निर्जरा है। वे कर्मो को निमत्रित कर उन्हे झाडते है। यह निर्जरा पुरुषार्थ से होती है।

जो शात परिणामी व्यक्ति कर्मो के उदय से होने वाले लाखो प्रकार के तीव्र शारीरिक तथा मानसिक दु खो को साता मे भोग लेते है, वह अकाम निर्जरा है अर्थात् आये हुए कर्मो को शाति से भोगना परतु उनके साथ झडाने की इच्छा से छेडछाड न करना।[1]

तत्त्वार्थ सूत्र मे तप को निर्जरा का कारण बताया है। पूज्यपाद ने निर्जरा दो प्रकार की बतायी है-अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियो मे कर्मफल के विपाक से होने वाली निर्जरा को अबुद्धिपूर्वा निर्जरा कहते है तथा परिषह के जीतने पर जो निर्जरा होती है, वह कुशलमूला निर्जरा होती है।[2]

तत्त्वार्थसूत्र मे परिषह 22 माने गये है। इन परिषहो को सहन करना कर्मों की निर्जरा है। क्षुधा, प्यास, शीत, गर्मी, दशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन।[3]

तप बारह प्रकार का होता है। अनशन, ऊणोदरी, वृत्तिसक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश, सन्लीनता यह छ प्रकार का बाह्य एव प्रायश्चित, विनय, वैयावच्च, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग छ प्रकार का आभ्यतर तप कहलाता है।[4]

इन बारह प्रकार के तप से पूर्वसचित कर्मो की निर्जरा होती है।[5]

अबुद्धिपूर्वा निर्जरा मे वेदना तो अत्यधिक होती है, परतु निर्जरा अल्प होती है। भगवती मे इस प्रश्न पर चर्चा उपलब्ध होती है। "भगवन्! नैरयिको को जो वेदना है, क्या वह निर्जरा कही जा सकती है? नही गौतम! यह

---

1 षड्दर्शन समुच्चय टीका 52 336

2 स सि 9 7 807

3 त सू 9 9 एवं नवतत्व प्र 27 28

4 नवतत्व प्रकरण 35 36

5 "बारसविह तवो णिज्जराय" नवतत्वप्र 34

सभव नही है क्योकि वेदना कर्म है और निर्जरा नो कर्म है।"[1]

**बध और मोक्ष:**—जीव और पुद्गल का परस्पर एकमेक होकर मिल जाना बध है और सर्वथा वियोग हो जाना मोक्ष है।[2]

भगवती के अनुसार "जीव और पुद्गल परस्पर एक दूसरे से स्पृष्ट है, मिले हुए है, परस्पर चिकनाई से जुड़े हुए है और परस्पर गाढ हो कर रह रहे है। लबालब भरे तालाब मे कोई व्यक्ति दो सौ छिद्रो वाली जहाज (नौका) डाल दे, उसमे जैसे पानी भर जाता है, वैसे ही जीव और पुद्गल परस्पर एकमेक हो कर रहते है।[3]

भगवती मे बध के दो प्रकार बताये है -प्रयोगबध और विस्रसाबध।[4] जो जीव के प्रयोग से बधता है, वह प्रयोगबध और जो स्वाभाविक रूप मे बधता है, वह विस्रसाबध है। यह भगवती सूत्र के 8 वे शतक का नौवाँ उद्देशक बध की चर्चा से सबधित है।

जीव और कर्म के बनने योग्य पुद्गल स्कध का परस्पर अनुप्रवेश—एक का दूसरे मे घुस जाना ही बध है। यह पानी और दूध की उपमा से उपमित किया गया है।[5]

बध के कारण पाँच है - मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।[6]

बध के प्रकार चार है - प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश।[7] योग से प्रकृति और प्रदेश का तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग का बध होता है।[8]

इसे श्री पूज्यपाद से यो समझाया है—जिस प्रकार नीम की प्रकृति कडुवापन है, गुड की प्रकृति मीठापन है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृति है—ज्ञान नही होने देना, दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृति है-अर्थ का अवलोकन नही होने देना, वेदनीय कर्म की प्रकृति है-साता और असाता का सवेदन कराना, तत्त्व

1 भगवती 7 3 11
2 षड्दर्शन समु 51
3 भगवती 1 6 26
4 भगवती 8 9 1
5 षड्दर्शन समुच्चय टीका 51 230
6 त सू 8 1
7 त सू 8 3
8 द्र स 33

की श्रद्धा नही होने देना, दर्शन मोहनीय की एव असयमभाव मे रहना चारित्रमोहनीय की, भवधारण करना आयु कर्म की, नारक आदि नामकरण नाम कर्म की, उच्च और नीच स्थान की प्राप्ति गोत्र कर्म की, दान आदि मे विघ्न करना अतराय कर्म की प्रकृति है।[1]

स्थिति दो प्रकार की है—जघन्य और उत्कृष्ट।[2]

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अतराय इन चारो की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम है। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 70 कोटाकोटि सागरोपम है।[3] यह उत्कृष्ट स्थिति मात्र मिथ्यादृष्टि, सज्ञी पचेन्द्रिय और पर्याप्तक को ही प्राप्त होती है।[4] नाम और गोत्र की बीस, आयु कर्म की तैतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है।[5]

इन सभी कर्मबधो की जघन्य स्थिति इस प्रकार है-वेदनीय की बारह मुहूर्त, नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त और अवशिष्ट कर्मो की एक अन्तर्मुहूर्त है।[6]

बकरी, गाय, भैस, आदि के दूध मे जिस प्रकार दो प्रहर तक मधुर रस रहने की कालमर्यादा है, उसी प्रकार कर्मो की स्थिति भी समझना चाहिये। जीव के प्रदेशो मे जितने काल तक कर्म सबध रूप से स्थिति है, उसे स्थिति बध कहते है।[7]

जैसे दूध मे तारतम्यता से रस सबधी शक्ति विशेष होती है, उसी प्रकार जीव के प्रदेशो पर लगे कर्म के स्कधो मे भी सुख अथवा दु ख देने की शक्ति विशेष को अनुभाग बध कहते है।[8]

आत्मा के एक एक प्रदेश पर सिद्धो के अनतवे भाग प्रमाण और अभव्य जीवो की सख्या से अनतगुणे अनतानत परमाणु प्रतिक्षण बधते है, उसे प्रदेशबध कहते है।[9]

---

1 स सि 8 3 736 एव वृहद् द्र स 33, पृ 106
2 स सि 8 13 760
3 त सू 8 14 15
4 स सि 8 14 760
5 त सू 8 16 17
6 त सू 8 18 20
7 वृ द्र स टी 33 पृ 107
8 वृ द्र स टी 33 107 एव त सू 8 21
9 त सू 8 24 एव वृ द्र स टी 107

कुदकुदाचार्य ने वध का कारण जीव के मिथ्यादृष्टि (रागादिरूप होने से) युक्त अध्यवमाय को कहा है। 'मै जीवो को सुखी दु खी करता हूँ'–यह दृष्टि की मूढता ही शुभाशुभ कर्म को वाधती है।[1]

वाह्य वस्तु बध का कारण नही अपितु अध्यवमाय ही वध का कारण है।[2]

**वध और आश्रव का भेद.**–प्रथम क्षण मे कर्म स्कधो का आगमन आश्रव और आगमन के पश्चात् द्वितीय क्षण मे जीव के प्रदेशो मे उन कर्मो का रहना बध है।[3]

**मोक्ष का स्वरूप.**–मोक्ष का अर्थ है मुक्त होना।

पूज्यपाद के अनुसार - "जब आत्मा कर्म मैल रूपी शरीर को अपने मे सर्वथा अलग कर देती है, तब उसके जो अचिंत्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्यावाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, उमे मोक्ष कहते है।[4]

कुदकुद के अनुसार "आठो कर्मो को क्षय करने वाले, अनतज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, क्षायिक सम्यक्त्व, अवगाहनत्व, अगुरूलघुत्व और अव्यावाधत्व इन आठ गुणो मे युक्त परम लोक के अग्रभाग मे मिद्ध (मुक्तात्मा) म्थिर है।[5]

व्यवहार नय से ज्ञानपुज ऐसे वे मिद्धभगवान चैतन्यघन से ठोम चूडामणि रत्न की तरह है, निश्चय नय से सहजपरमचैतन्य चिंतामणिस्वरूप नित्यशुद्ध निज रूप मे रहते है।[6]

मोक्ष मे जीव का शुद्ध स्वरूप ही रहता है। दीपक बुझने पर जैमे प्रकाश के परमाणु अधकार मे वदल जाते है, उमी प्रकार समस्त कर्मक्षय होने पर आत्मा शुद्ध चैतन्य अवम्था मे वदल जाती है।[7] कुदकुद ने भी पचास्तिकाय मे मोक्ष मे आत्मा का सद्भाव मिद्ध किया है। "अगर जीव का मोक्ष मे अमद्भाव

---

1 स सा 259

2 स सा 265

3 दृ द्र स टी 108

4 स सि 1 4 18

5 नि सा 72

6 स सा ता वृ 101

7 स्या मा 104 पृ 641

हो तो शाश्वत-उच्छेद, भव्य-अभव्य, शून्य अशून्य और विज्ञान अविज्ञान भावो का अभाव हो जायेगा, जो अनुचित है।"[1] उत्तराध्ययन के अनुसार सिद्धात्मा के शरीर की अवगाहना अतिम भव मे जो शरीर की ऊँचाई थी, उससे तृतीय भाग हीन होती है।[2] सिद्धो के अतिम शरीर से कुछ कम होने का कारण यह है कि चरम शरीर के नाक, कान, नाखुन आदि खोखले होते है। शरीर के कुछ खोखले भागो मे आत्मप्रदेश नही होते। मुक्तात्मा छिद्ररहित होने के कारण पहले शरीर से कुछ कम, मोमरहित सासे के बीच आकार की तरह अथवा छाया के प्रतिबिम्ब के आकार वाली होती है।[3]

सिद्ध बनने के पश्चात् उनमे पुन ससार या कर्मबध की सभावना नही होती, क्योकि बधन रूप कार्य का सर्वथा उच्छेद हो जाता है। कारण समाप्त होने के कारण कार्य हो तो जीव का मोक्ष नही हो सकता।[4] भगवती मे भी इसी प्रकार की चर्चा है जिसने ससार का निरोध किया है, वह पुन मनुष्यभव की धारण नही करता।[5]

सिद्धो के अवगाहन शक्ति होती है। अल्प अवगाह मे भी अनेक सिद्धो का अवगाह हो जाता है। जब मूर्त्तिमान दीपको का भी अल्पाकाश मे अविरोधी अवगाह देखा गया है, तब सिद्धो के अमूर्त्त होने के कारण विरोध का प्रश्न ही नही है। ससारी सुख सात तथा उतार-चढ़ाव वाला है, परन्तु सिद्धात्मा का सुख परम अनत है।[6]

सपूर्ण कर्म क्षय होने पर ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।[7]

उमास्वाति ने ऊर्ध्वगमन के कारण बताये है—पूर्व के सस्कार से, कर्म के सगरहित हो जाने से, बधन के टूटने से, और ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने के कारण मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन ही करते है।[8]

---

1 प का गा 46

2 उत्तराध्ययन 36 64

3 वृ द्र स टीका 51 पृ 106

4 तत्वार्थ रा वा 10 4 4 642

5 भगवती 2 1 9 (2)

6 त रा वा 10 4 9 11 पृ 643

7 त सू 10 5

8 त सू 10 6

**पूर्व के सस्कार.**—जिस प्रकार कुम्हार अपना हाथ हटा ले तो भी पूर्व प्रयोग के कारण मस्कार क्षय तक चक्र घूमता रहता है, वैमे ही ससारी आत्मा ने अपवर्ग (मोक्ष) प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया है, परन्तु कर्मसहित होने के कारण बिना नियम गमन करता है और कर्ममुक्ति होने के कारण नियमपूर्वक गमन करता है।[1]

**कर्म से असग:**—मिट्टी के लेप से वजनदार तूबडी पानी मे डूब जाती है परतु ज्योही मिट्टी का लेप हटता है, तुबडी ऊपर आ जाती है, उसी तरह कर्म से भारी आत्मा भटकता रहता है, पर कर्ममुक्त बनते ही ऊर्ध्वगमन कर जाता है।[2]

**बध छेद.**—जिस प्रकार बीज कोश से बधन टूटने से एरड ऊपर की ओर जाता है, वैसे ही गति नाम आदि कर्मो के बधन से हटते ही मुक्तात्मा की स्वाभाविक ऊर्ध्वगति होती है।[3]

**अग्निशिखावत्.**—जैसे तिरछी बहने वाली वायु के अभाव मे दीपशिखा स्वभाव से ऊपर की ओर जाती है, वैसे ही मुक्तात्मा भी नाना विकारो के कारण कर्म के हटते ही ऊर्ध्वगतिस्वभाव से ऊपर को ही जाती है।[4]

तत्त्वार्थ सूत्र मे उमास्वाति नें चारो उदाहरणो को सूत्र द्वारा स्पष्ट भी किया है।[5]

लोकाग्र तक ही सिद्धात्मा जाता है, उससे आगे नही जा पाता क्योकि गमन का कारण धर्म द्रव्य है जिसका अलोक मे अभाव है।[6]

मोक्षावस्था मे भी केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवल दर्शन और सिद्धत्व इन चार भावो का क्षय नही होता।[7]

उनमे पुन ससार मे आकर जन्म मरण करने की बाधा भी नही है। मूर्त्त अवस्था मे ही प्रीति, परिताप आदि बाधाओ की सभावना थी।[8]

**मुक्ति की प्राप्ति के भेद:**—क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बोधितबुद्ध, ज्ञान, अवगाहना, अतर सख्या और अल्पबहुत्व इन बारह अनुयोगो से सिद्धो मे भेद पाया जाता है।[9]

---

1 त सू वा 10 7 2 645

2 त रा वा 10 7 3 645

3 त रा वा 10 7 5 645

4 त रा वा 10 7 6 645

5 त सू 10 7

6 त सू 10 8

7 त सू 10 4

8 यस्मिन्नेव देश कर्मविप्रमोक्षस्तस्मिन्नेवावस्थान प्राप्नोति पुनर्गतिकारणाभावादिति, तन्न किं कारणम् साध्यत्वात्" त वा 10 4 19 644

9 त सू 10 9

**मुक्ति का साधन.**—तत्त्वार्थ सूत्र मे उमास्वाति ने मुक्ति का मार्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र को माना है।[1]

समयसार मे कुदकुदाचार्य के अनुसार जो आत्मा को और बध को जानकर बध से विरक्त होता है, वही मोक्ष की प्राप्ति करता है।[2]

आत्मा और बध प्रज्ञारूपी छेदी द्वारा भिन्न किये जाते है।[3]

प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया हुआ (बध और चैतन्य) शुद्ध आत्म-स्वरूप ही मेरा है, अन्य सब पर द्रव्य है, ऐसा मानना चाहिये।[4]

कुदकुदाचार्य ने समयसार मे आगे यह भी स्पष्ट किया है कि मात्र जानना ही पर्याप्त नही है। बध, स्थिति, स्वभाव, आदि को जानने मात्र से मुक्ति नही मिलती, परतु उन बधनो को काटने की अनुकूल प्रक्रिया अपनाने पर ही अर्थात् रागादि भाव से जीव जब शुद्ध होता है, तभी उसे मुक्ति प्राप्त होती है।[5]

अनत जीव आज तक मुक्ति प्राप्त कर चुके है, परतु ससार मे आत्माएँ फिर भी बनी रहती है, उसमे कोई कमी नही आयी क्योकि जीव अनादि अनत है।

गणित का भी यह नियम है कि अनत मे से अनत निकाले, फिर भी बाकी अनत ही रहेगे।

जितने जीव मोक्ष जाते है, उतने ही जीव निगोद से निकलते है। अत ससार मे जीव जितने है, उतने ही रहते है। निगोद का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है - गोल असख्यात है, एक गोल मे असख्यात निगोद रहते है। जितने जीव व्यवहार राशि से निकल कर मोक्ष जाते है, उतने ही जीव अव्यवहार राशि से निकल कर व्यवहार राशि मे आ जाते है।[6]

**जीव के अनेक नामो के कारण.**—जीव बाह्य तथा आभ्यतर श्वास और नि श्वास लेता है इसीलिये प्राण कहलाता है। वह भूतकाल मे था, वर्तमान मे है और भविष्य मे रहेगा, अत उसे भूत कहना चाहिये। वह जीवन जीता है, जीवत्व एव आयुष्यकर्म का अनुभव करता है, अत उसे सत्व कहना चाहिये। वह रसो का ज्ञाता है, अत उसे विज्ञ कहना चाहिये। वह सुख-दु ख का वेदन करता है, अत उसे वेद कहना चाहिये।[7]

1 त सू 1 1
2 स सा 294
3 स सा 294 5
4 स सा 296
5 स सा 288 9
6 स्याद्वादमजरी 29 पृ 259 पर उद्धृत।
7 भगवती 2 1 8 (2)

# 4

# अजीव का स्वरूप

इस चौथे अध्याय मे जीव के विरूद्ध स्वभाव वाले अजीव का विवेचन करेगे। भगवती मे अस्तिकाय के सबध मे प्रश्न पूछा गया-अस्तिकाय कितने है?

भगवान् ने कहा-अस्तिकाय पाँच है- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय।[1] अस्तिकाय का अर्थ है वहुप्रदेशी। जिनके टुकडे न हो सके ऐसे अविभागी प्रदेशो के समूह को अस्तिकाय कहते है।[2]

**धर्मास्तिकाय का लक्षण.**–धर्मास्तिकाय द्रव्य की अपेक्षा एक द्रव्य है, क्षेत्र की अपेक्षा लोकप्रमाण है, काल की अपेक्षा वह अतीत मे था, वर्तमान मे है और भविष्य मे रहेगा, अत वह ध्रुव निश्चित, शाश्वत, अक्षय, अवस्थित और नित्य है। गुण की अपेक्षा गमन गुण है, गति मे उदासीन सहायक है।[3]

उत्तराध्ययन मे भी धर्मास्तिकाय के गमन गुण की पुष्टि की गई है।[4]

तत्त्वार्थसूत्र मे उमास्वाति ने भी धर्मास्तिकाय को गमन मे उपकारी बताया है।[5]

श्री पूज्यपाद स्वामी ने गति की व्याख्या की है। एक स्थान से दूसरे स्थान मे जाने को गति कहते है।[6]

टीकाकार गुणरत्नसूरि के अनुसार धर्मद्रव्य लोकाकाश के असख्यात प्रदेश वाले सभी प्रदेशो मे पूरी तरह से व्याप्त है। इसके भी लोकाकाश की तरह

---

1 भगवती 2 10 । एवं ठाणाग 5 170

2 षड्दर्शन समुच्चय टीका 4 9 165

3 ठाणाग

4 गइ लक्खणो धम्मो। उत्तराध्ययन 28 9

5 त सू 5 17

6 स सि 5 17 ५५०

असख्यात प्रदेश है। यह स्वय गमन करनेवाले जीव और पुद्गल की गति मे अपेक्षा कारण है, प्रेरणा करके इनको चलाता नही है। अगर चलते है तो चलने मे सहकारी कारण अवश्य बनता है।[1]

पचास्तिकाय के अनुसार धर्मास्तिकाय अस्पर्श, अरस, अगध, अवर्ण, अशब्द, लोकव्यापक, अखण्ड, विशाल और असख्यात प्रदेशी है।[2]

स्पर्शादि से रहित होने के कारण ही धर्मास्तिकाय अमूर्त स्वभाववाला है और इसीलिए अशब्द भी है। सपूर्ण लोकाकाश मे व्याप्त रहने के कारण लोकव्यापक है। अयुत सिद्ध प्रदेशी होने के कारण अखड है। स्वभाव से ही सर्वत विस्तृत होने से विशाल है। निश्चयनय से एक प्रदेशी होने पर भी व्यवहार नय से असख्यात प्रदेशी है।[3]

द्रव्य का लक्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्य है। यह लक्षण धर्मास्तिकाय मे भी प्राप्त होता है। धर्मास्तिकाय अगुरु लघु रूप से सदैव परिणमित होता है, फिर भी नित्य है, गतिक्रिया मे कारण भूत होने पर भी स्वय अकार्य है।[4]

जैसे मछलियो को पानी चलने मे सहयोग देता है वैसे ही धर्मास्तिकाय भी जीव और पुद्गल को उदासीन सहयोग करता है।[5]

**कारणो के प्रकार:**—षड्दर्शन समुच्चय के टीकाकार गुणरत्नसूरि ने कारण तीन प्रकार के बताये है- परिणामी कारण, निमित्तकारण और निर्वर्तक कारण।

**परिणामीकारण:**—जो स्वय कार्यरूप से परिणमन करे, कार्य के आकार मे बदल जाय वह परिणामी कारण है जैसे घडे मे मिट्टी (इसे उपादान कारण भी कहते है)।

**निमित्त कारण** वे है जो स्वय कार्यरूप से परिणत तो न हो, पर कर्ता को कार्य मे सहायक हो, जैसे घडे की उत्पत्ति मे दण्ड, चक्र आदि।

**निर्वर्तक कारण**— कार्य का कर्ता निर्वर्तक कारण होता है जैसे कि घडे

1 षड्दर्शन समुच्चय टीका 49 166

2 पचास्तिकाय 83

3 त का टी 83

4 वही 84

5 वही 85

की उत्पत्ति मे कुम्हार।[1]

तत्वार्थमूत्रभाष्य मे उद्धृत इस पद्य से भी इसकी पुष्टि होती है।[2]

निमित्तकारण दो प्रकार के है- एक तो शुद्ध निमित्तकारण तथा दूसरा अपेक्षा निमित्त कारण। स्वाभाविक तथा कर्त्ता के प्रयोग से जहाँ क्रिया होती है, वह शुद्ध निमित्तकारण एव जहाँ स्वाभाविक परिणमन मात्र होता हो, वह अपेक्षा निमित्त कारण कहलाता है।[3]

माधारण बोलचाल की भाषा हो या धर्म साहित्य हो, धर्म शब्द की परिभाषा या उसका प्रयोग शुभ, प्रशसनीय, उचित व्यवहार आदि मे किया जाता है। यहाँ धर्मास्तिकाय इन सभी व्यावहारिक अर्थो मे प्रयुक्त न होकर एक पारिभाषिक शब्द के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। जैन दर्शन ने जीव द्रव्य की तरह धर्मास्तिकाय को भी द्रव्य माना है तथा उसे भी गुण और पर्याय युक्त कहा है।

अन्य द्रव्यो की तरह धर्म मे भी सामान्य और विशेष दोनो गुण उपलब्ध होते है। अमूर्त, निष्क्रिय, द्रव्यत्व, ज्ञेयत्व आदि सामान्य एव इमका विशेष गुण गति प्रदान करना है।[4]

धर्मास्तिकाय को तत्वार्थ मूत्र मे निष्क्रिय द्रव्य[5] कहा है क्योकि क्रिया की परिभाषा है- अतरग और वहिरग निमित्त मे उत्पन्न होनेवाली जो पर्याय द्रव्य के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे प्राप्त कराने का कारण है, वह क्रिया कहलाती है।[6]

यहाँ प्रश्न होता है, जव धर्मास्तिकाय निष्क्रिय है तो इसमे उत्पाद आदि मभव नही है और उत्पाद आदि लक्षणो के अभाव मे इसे द्रव्य नही कहा जा सकता।

श्री पूज्यपाद ने ममाधान दिया- यद्यपि धर्म निष्क्रिय है तथापि इममे

1 षड्दर्शनसमुच्चय टीका 49 167
2 'निर्वतर- निमित्त परिणामीय त्रिधेष्यते हेतु। कुम्भकारी धर्वा मुक्नोति ममसम्यन्' उद्धृतेय त भा टी पृ517
3 षड्दर्शन समुच्चय टीका 49 168
4 'गमणणिमित्त धम्म' नियमसार 30
5 "निष्क्रियाणिच' त सू 5 7
6 स सि 5 7 539

उत्पादादि द्रव्य के लक्षण घटित होते है। इनमे क्रियानिमित्तक उत्पाद नही है तथापि अन्य प्रकार से उत्पाद है, क्योकि उत्पाद दो प्रकार का है- स्वनिमित्तक उत्पाद और परप्रत्यय उत्पाद। प्रत्येक द्रव्य मे आगम के अनुसार अनत अगुरूलघुगुण स्वीकार किये है जिनका षट्स्थानपति हानि और वृद्धि के द्वारा वर्तन होता रहता है, अत इनका उत्पाद और व्यय स्वभाव से होता है। इसी प्रकार परप्रत्यय का भी उत्पाद आदि होता रहता है। जैसे ये धर्मादि द्रव्य गति आदि के कारण होते है, इनके गति स्थिति आदि मे क्षण-क्षण मे परिवर्तन होता रहता है अत इनका कारण भिन्न-भिन्न होना चाहिये। इस प्रकार धर्मादि द्रव्य मे परप्रत्यय की अपेक्षा उत्पाद व्यय है[1] और जो उत्पाद व्यय युक्त है वह द्रव्य है।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनमे निष्क्रिय होने के कारण स्वभाव पर्याय ही पायी जाती है, विभाव पर्याय नही। स्वभाव पर्याय मे परिणमन पर द्रव्यो की अपेक्षा से रहित होता है और जो परिणमन स्कध रूप से होता है वह विभाव परिणमन कहलाता है।[2] विभाव परिणमन जीव और पुद्गल मे पाया जाता है।

**धर्मास्तिकाय की उपयोगिता:**—जीव तथा पुद्गल दोनो ही इस लोकाकाश मे इधर से उधर भ्रमण करते है। स्थूल गति क्रिया तो इन्द्रियग्राह्य है, परन्तु सूक्ष्म गति क्रिया दृष्टिगोचर नही होती। सूक्ष्म और स्थूल इन दोनो ही गतिक्रिया मे धर्म सहायक बनता है। धर्मास्तिकाय को मानने के दो कारण है—

1. गति का सहयोगी कारण एव
2. लोक अलोक की विभाजक शक्ति

अगर धर्मास्तिकाय द्रव्य का अभाव होता तो जीव और पुद्गल की गति अव्यवस्थित होती। जीवादि सभी पदार्थों के अस्तित्व युक्त को लोक कहते है। जहाँ जीवादि का सपूर्ण अभाव हो वह अलोक है। अगर जीव पुद्गल को बहिरग निमित्त धर्मादि न मिले तो अलोक मे उनके गमन को रोका नही जा सकता। धर्मास्तिकाय के कारण ही गतिव्यवस्था नियत्रित होती है और

---

1 स सि 5 7 539

लोक अलोक के मध्य विभाजक रेखा भी बनती है।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व पृथक् है, अत भिन्न है, पर दोनो एक ही क्षेत्रावगाही होने के कारण अविभक्त भी है। साथ ही सपूर्ण लोक मे गति आदि मे अनुग्रह करते है अत लोकप्रमाण भी है। भगवती के अनुसार लोक के तीनो भागो का धर्मास्तिकाय स्पर्श करता है। अधोलोक धर्मास्तिकाय के आधे से अधिक भाग को तिर्यग्लोक असख्येय भाग को, ऊर्ध्वलोक कुछ कम धर्मास्तिकाय के आधे भाग का स्पर्श करता है।[2] भगवती मे गौतम म्वामी पूछते है कि धर्मास्तिकाय द्वारा जीवो के क्या गतिविधि होती है? भगवान कहते है– धर्मास्तिकाय द्वारा ही जीवो के आगमन, गमन, उन्मेष, (नेत्र खोलना) मनोयोग, वचनयोग, और काययोग की प्रवृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त भी जितने चलभाव है वे सब धर्मास्तिकाय द्वारा प्रवृत्त होते है। धर्मास्तिकाय का लक्षण गतिरूप है।[3]

गति मे उदासीन सहायता धर्म द्रव्य का लक्षण है, परतु यह स्वय प्रेरित नही करता। जैसे बिजली के तार बिजली को, रेल की पटरी रेल को चलने के लिए प्रेरित नही करती अपितु उदासीन भाव से सहायक मात्र होती है, उमी प्रकार धर्मास्तिकाय भी उदासीन सहायक मात्र बनता है।

धर्मास्तिकाय जैन दर्शन की अपनी मौलिक देन है। किमी भी दर्शन मे धर्मास्तिकाय सबधी चिंतन चर्चा आशिक भी उपलब्ध नही होती।

प्रमेय कमलमार्तण्ड के अनुसार अनेक द्रव्य की एक माथ प्रवृत्ति या गति होना ही धर्म द्रव्य की यथार्थता और द्रव्यता को प्रमाणित करता है। उनके अनुमार सभी जीवो और पुद्गल द्रव्यो की पृथक्-पृथक् गतियो के लिये एक सामान्य और आन्तरिक परिस्थिति पर निर्भर होना अनिवार्य है। जैमे एक तालाब के पानी मे असख्य मछलियो की गति निर्भर करती है।[4]

जिस प्रकार म्वय चलने मे समर्थ लगडे को लाठी सहारा देती है या दर्शन समर्थ नेत्र को दीपक का महारा होता है उसी प्रकार म्वय गति परिणत जीवो को व पुद्गलो को धर्म गति मे महायता प्रदान करता है। लगडे व्यक्ति

1-2 पं का गाथा 87

3 भगवती 13 4 24

4 प्रमेयकमल मार्तण्ड परि 4 10 पृ 623

को लाठी न तो गति मे प्रेरणा देती है, न कर्ता बनती है और न दर्शन शक्ति के अभाव मे दीपक दर्शन की शक्ति उत्पन्न कर सकता है, लाठी और दीपक तो मात्र सहयोगी बनते है।[1]

जिस गति सहायक पदार्थ को जैन दर्शन ने धर्मास्तिकाय कहा, आधुनिक वैज्ञानिक खोजो के परिणामस्वरूप उसी से मिलते हुए द्रव्य को विज्ञान ने "ईथर" कहा है।

18वी/19वी शताब्दि मे भौतिक विज्ञानवेत्ताओ के सामने एक बात स्पष्ट हो गयी कि यदि प्रकाश की तरगो का अस्तित्व है तो उसका कोई आधार अवश्य होना चाहिये जैसे पानी सागर की तरगो को पैदा करता है और हवा उन कपनो को जन्म देती है जिन्हे हम ध्वनि कहते है। जब यह लगा कि प्रकाश शून्य से भी होकर विचरण करता है, तब वैज्ञानिको ने "ईथर" तत्व की कल्पना की, जो उनके अनुसार समस्त आकाश और ब्रह्माण्ड मे व्याप्त है।

बाद मे फैरेडे ने एक अन्य प्रकार के "ईथर" की कल्पना की जो विद्युत् एव चुबकीय शक्तियो का वाहक माना गया। अन्तत यह "ईथर" की निश्चित और स्पष्ट मान्यता मेक्स्वेन वैज्ञानिक के बाद सिद्धात रूप मे स्वीकार कर ली गयी। उन्होने प्रकाश को "विद्युत चुबकीय विक्षोभ" (Electromagnatic disturbance) के रूप मे मान्यता दी। अब ईथर का स्वरूप और अस्तित्व निश्चित सा हो गया।[2]

अमेरिकन भौतिक विज्ञानवेत्ता ए ए माइकेलसन और ई डब्ल्यू मोरले ने क्लीवलेण्ड मे सन् 1881 मे ईथर के सबध मे एक भव्य परीक्षण किया।

उस परीक्षण के पीछे उनका तर्क था कि यदि सपूर्ण आकाश केवल ईथर का गतिहीन सागर है तो ईथर के बीच पृथ्वी का ठीक उसी तरह पता लगना चाहिये और पैमाइश होना चाहिये जैसे नाविक सागर मे जहाज के वेग नापते है। नाविक जहाज की गति का माप सागर मे लट्ठा फैककर और उससे बधी रस्सी की गाठो के खुलने पर नजर रखकर लगाते है। अत मोरले और माइकेलसन ने लट्ठा फेकने की क्रिया की। यह लट्ठा प्रकाश

1 त वा 5 17 24 463

2 डॉ आइन्स्टीन और ब्रह्माण्ड-लिंकन बारनेट पृ 42

की किरण के रूप मे था। यदि प्रकाश सचमुच ईथर मे फैलता है तो इसकी गति पर पृथ्वी की गति के कारण उत्पन्न ईथर की धारा का प्रभाव पडना चाहिये। विशेष तौर पर पृथ्वी की गति की दिशा मे फैकी गयी प्रकाश किरण मे ईथर की धारा से उसी तरह हल्की बाधा पहुँचनी चाहिये, जैसी बाधा का सामना एक तैराक को धारा के विपरीत तैरते समय करना पडता है। इसमे अतर बहुत थोडा होगा क्योकि प्रकाश का वेग एक सेकण्ड मे 1,86,284 मील है जबकि सूर्य के चारो ओर अपनी धुरी पर पृथ्वी का वेग केवल बीस मील प्रतिसेकण्ड होता है। अतएव ईथर धारा को विपरीत दिशा मे फेके जाने पर प्रकाश किरण की गति 1,86,264 मील होनी चाहिए और सीधी दिशा मे फेकी जाय तो 1,86,304 मील। इन विचारो को मस्तिष्क मे रखकर माइकेलसन और मोरले ने एक यत्र का निर्माण किया।

इस यत्र की सूक्ष्मदर्शिता इस हद तक पहुँची हुई थी कि वह प्रकाश के तीव्र वेग मे प्रति सैकण्ड एक-एक मील के अतर को भी अकित कर लेता था। इस यत्र को उन्होने व्यतिकरण मांपक (*Interferometer*) नाम दिया। कुछ दर्पण इस तरह लगाये हुए थे कि एक प्रकाश किरण को दो भागो मे बाटा जा सकता था और एक ही साथ दो दिशा मे उन्हे फेका जा सकता था। यह सारा परीक्षण इतनी सावधानी से आयोजित किया कि सदेह की कोई गुजाइश ही नही थी। इसका निष्कर्ष सरल भाषा मे यह रहा कि प्रकाश किरणो के वेग मे चाहे वे फेकी गयी हो, कोई अतर नही पडता।[1]

**आइस्टीन के अनुसार.**—इस निष्कर्ष से वैज्ञानिक जगत मे हलचल प्रारभ हो गयी क्योकि इस निष्कर्ष मे भी अधिक मान्य कोपरनिकस सिद्धात को, जिसमे यह सिद्ध किया था कि "पृथ्वी स्थिर नही, गतिशील है" को छोडे या ईथर सिद्धात को।

बहुत से भौतिक विज्ञान वेत्ताओ को यह लगा कि यह विश्वास करना अधिक आसान है कि पृथ्वी स्थिर है बनिस्पत इसके कि तरगे, प्रकाश तरगे, विद्युत चुबकीय तरगे बिना किसी सहारे के अस्तित्व मे रह सकती है। इन्ही विभिन्न मतधाराओं के कारण पच्चीस वर्ष पर्यत एक मत नही बन पाया। नयी कल्पनाएँ हुई, परीक्षण हुए, परतु निष्कर्ष यही रहा कि "ईथर" मे पृथ्वी

1 जैन दर्शन और अनेकान्त - युवाचार्य महाप्रज्ञ पृ 25-26

का प्रत्यक्ष वेग शून्य है।[1]

ईथर प्रकाश की गति को प्रभावित नही करता इसलिये आइस्टीन ने उसके अस्तित्व का निरसन किया। परतु यह तो स्वीकार करना ही होगा कि गति नियामक तत्व के अभाव मे पदार्थ अनत मे भटक जाते और एक दिन वर्तमान विश्व प्रकाश शून्य हो जाता।

'ईथर' के विषय मे भौतिक विज्ञानवेत्ता डॉ ए एस एडिंगटन लिखते है Now a days it is agreed that **ETHER** is not a kind of matter, being non material, its properties are quite unique characters such as mass and rigidity which we meet with in matter will naturally be absent in **ETHER** but the **ETHER** will have new definite characters of its own non material ocean of **ETHER**

आजकल यह स्वीकार कर लिया गया है कि "ईथर भौतिक द्रव्य नही है। भौतिक की अपेक्षा उसकी प्रकृति भिन्न है। भूत मे प्राप्त पिण्डत्व और घनत्व गुणो का ईथर मे अभाव होगा, परतु उसके अपने नये और निश्चयात्मक गुण होगे।"[2]

प्रोफेसर जी आर जैन M S C धर्म और ईथर की तुलना करते हुए लिखते है "Thus it is proved that science and Jain Physics agree obsolutely so far as they call Dharm **(ETHER)** non-material, non-atomi non-discreate, continuous,co-extensiv with space in divisible and as a necessary medium for motion and one which does not itself move "

अर्थात् यह सिद्ध हो गया है कि "विज्ञान और जैन दर्शन दोनो यहाँ तक एकमत है कि धर्मद्रव्य या ईथर अभौतिक, अपारमाणविक, अविभाज्य, अखण्ड आकाश के समान व्यापक गति मे अनिवार्य माध्यम और अपने आप मे स्थिर है।"

वैज्ञानिको द्वारा सम्मत यह 'ईथर' गति तत्व का ही दूसरा नाम है। ईथर सबधी ये सारी मान्यताएँ मध्ययुगीन वैज्ञानिक युग से सबधित है।

1 डॉ आइस्टीन और ब्रह्माण्ड पृ 43-46

2 The nature of the Physical world p 31

अगर धर्मास्तिकाय की कल्पना नही होती तो पुद्गल और जीव की गति मे निमित्त कौन होता? क्योकि-जीव और पुद्गल तो स्वय उपादान कारण है। हवा स्वय गतिशील है तो पृथ्वी, पानी लोक मे सर्वत्र व्याप्त नही है। अत हमे ऐसी शक्ति की अपेक्षा है जो स्वय गतिशून्य और सपूर्ण लोक मे व्याप्त हो, साथ ही अलोक मे नही।[1]

**अधर्मास्तिकाय का स्वरूप एव लक्षणः**—अधर्मास्तिकाय वर्ण, गध, रस, और स्पर्श रहित है अर्थात अरूपी, अजीव, शाश्वत, लोक प्रमाण है एव जीव और पुद्गल की स्थिति मे सहायक तत्व है।[2] उत्तराध्ययन सूत्र मे भी अधर्म को स्थिति लक्षण वाला सूचित किया है।[3]

तत्वार्थ सूत्र के अनुमार भी जीव और पुद्गल की स्थिति मे उदासीन सहायक को अधर्मास्तिकाय कहा है।[4]

श्री पूज्यपाद ने अधर्मास्तिकाय का उदाहरण देते हुए वताया कि जिम प्रकार घोडे को ठहरने मे पृथ्वी साधारण निमित्त है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल को ठहरने मे अधर्मास्तिकाय साधारण निमित्त है।[5]

लघु द्रव्य सग्रह के अनुसार स्थित होते जीवो और पुद्गलो को जो म्थिर होने मे सहकारी कारण है उसे अधर्मास्तिकाय कहते है, जैसे छाया यात्रियो को स्थिर होने मे सहकारी है, परतु वह गमन करते जीव और पुद्गल को म्थिर नही करती।[6]

षड्दर्शन समुच्चय की टीका मे भी अधर्मास्तिकाय के इसी लक्षण को पुष्ट किया है।[7] अधर्मास्तिकाय का अपना कोई स्वतत्र कार्य नही है। स्थूल रुकना तो स्पष्ट दृष्टि गत होता है, परतु सूक्ष्म स्थिति तो दृष्टिगत होती नही है। परतु सूक्ष्म ठहरना पदार्थ के मुडने के ममय होता है। चलता-चलता ही पदार्थ यदि मुडना चाहे तो उसे मोड पर जाकर क्षणभर ठहरना पडेगा।

1 प्रज्ञापना वृ प 1
2 भगवती 2 10 2 एव ठाणाग 5 171
3 अधम्मो ठाण लक्खणो उत्तरा 28 9
4 त सू 5 17
5 स सि 5 17 559
6 लघु द्रव्य सग्रह 9
7 षड्दर्शन समुच्चयटीका 49 169

यद्यपि रुकना दृष्टिगत नही हुआ पर होता अवश्य हैं। इस सूक्ष्म तथा स्थूल रूकने मे जो सहायक तत्व है, उसे अधर्मास्तिकाय कहते है।[1]

इस पर से यह न समझें कि जो सदा सर्वदा से रूका हुआ है उसमे भी अधर्मास्तिकाय का सहयोग है। अधर्मास्तिकाय उसे सहयोग करती है, जो चलते-चलते ठहरे। जो चलता ही नही, उसे ठहराने का प्रश्न ही नही है। जैसे आकाश चलता ही नही तो उसे ठहराने का प्रश्न ही नही है।

पचास्तिकाय मे कुदकुदाचार्य के अनुसार न धर्मास्तिकाय गमन करता है और न अधर्मास्तिकाय स्थिर करता है। जीव और पुद्गल स्वय अपने परिणामो से गति और स्थिति करते है।[2]

फिर प्रश्न होता है कि तब धर्म और अधर्म को मानने का क्या कारण है? इसका समाधान अमृतचद्राचार्य देते है। उनके अनुसार "अगर धर्म और अधर्म गति और स्थिति के मुख्य हेतु मान लिये जाय तो जिन्हे गति करनी है, वे गति ही करेगे और जिन्हे स्थिति रखनी है वे स्थिति ही रखेगे। दोनो गति और स्थिति एक पदार्थ मे नही पायी जाती जबकि गति और स्थिति दोनो ही एक धर्म मे पाये जाते है। अत अनुमान है कि ये व्यवहारनय द्वारा स्थापित उदासीन कारण है।"[3]

**अधर्मास्तिकाय की उपयोगिताः**—गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा भगवन्! अधर्मास्तिकाय से जीव को क्या लाभ होता है? भगवान ने कहा—अगर अधर्मास्तिकाय नही होता तो जीव खडा कैसे होता? बैठना, मन को एकाग्र करना, मौन करना, निस्पद होना, करवट लेना आदि जितने भी स्थिर भाव है, वे अधर्मास्तिकाय के कारण है।[4]

सिद्धसेन दिवाकर धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के स्वतत्र द्रव्यत्व को आवश्यक नही मानते, वे इन्हे द्रव्य की पर्याय मात्र स्वीकार करते है।[5]

**धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय के अस्तित्व की सिद्धिः**- प्रश्न होता है आकाश

1 पदार्थ विज्ञान जिनेद्र वर्णी पृ 190

2 प का 89

3 प का ता वृ 89

4 भगवती 13 4 25

5 "प्रयोगविस्रसाकर्म, तद्भावेस्थितिस्तथा। लोकानुभाववृतात, किं धर्माधर्मयो फल' नि द्वा 24

सर्वगत है, अत उसे ही गति और स्थिति मे सहायक मान लेना चाहिये। अलग से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को मानने की क्या तुक है? इसका समाधान है कि आकाश धर्म और अधर्म सभी का आधार है। जैसे नगर समस्त भवनो का आधार है। आकाश का उपकार अवगाहन निश्चित है तो उसके अन्य उपकार नही माने जा सकते, अन्यथा तरलता और उष्ण गुण भी पृथ्वी के मान लेने चाहिये। अगर आकाश को गति और स्थिति का सहायक माना जाय तो जीव और पुद्गल की गति अलोकाकाश मे भी होनी चाहिए और तब लोक और अलोक की विभाजन रेखा ही समाप्त हो जायेगी। लोक से भिन्न अलोक का होना तो अनिवार्य है, क्योकि वह "अब्राह्मण" की तरह नञ्युक्त सार्थक पद है।

जिस प्रकार मछली की गति जल मे ही सभव है, जल रहित पृथ्वी पर नही, उसी तरह आकाश की उपस्थिति होने पर भी धर्म अधर्म हो तो जीव और पुद्गल की गति और स्थिति हो सकती है।[1]

यदि आकाश से ही धर्माधर्म का कार्य लिया जाता है तो सत्व गुणो से ही प्रसार और लाघव की तरह रजोगुण के शोष और ताप तथा तमोगुण के सादन और आवरण रूप कार्य हो जाना चाहिये। शेषगुणो का मानना निरर्थक है। इसी तरह सभी आत्माओ मे एक चैतन्यतत्व समान है, तब एक ही आत्मा माननी चाहिये, अनत नही। बौद्ध रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान ये पॉच स्कध मानते है। यदि एक मे ही अन्य के धर्मो को माना जाय तो विज्ञान के विना अन्य स्कधो की प्रतीति नही होती, अत एक विज्ञान स्कध ही मानना चाहिये। उसी से सारे कार्य सपन्न हो जायेगे। और शेष स्कधो की निवृत्ति होने पर निरावलबन विज्ञान की भी स्थिति नही रहेगी और तब सर्वशून्यता उत्पन्न हो जायेगी। अत व्यापक होने पर भी आकाश मे गति और स्थिति के उपकारक धर्म अधर्म की योग्यता नही मानी जा सकती।[2]

धर्म और अधर्म चूँकि अमूर्त होने के कारण दृष्टिगत नही होते, परतु इससे खरविषाण की तरह इनकी अनुपलब्धि नही माननी चाहिये क्योकि ऐसी स्थिति मे तीर्थकर, पुण्य, पाप आदि सभी पदार्थो का अभाव हो जायेगा।

1 तत्त्वार्थराजवार्तिक 5 17 20-22 पृ 462

2 वही 5 17 23 पृ 463

साथ ही उपलब्धि प्रसिद्ध है, क्योकि तीर्थंकर परमात्मा आदि द्वारा प्रणीत आगमो मे धर्म और अधर्म की उपलब्धि होती है। अनुमान से भी गति और स्थिति मे साधारण निमित्त के रूप मे उपलब्धि होती है।[1]

यहाँ एक प्रश्न यह भी होता है कि जिस प्रकार ज्ञानादि आत्मपरिणाम और दही आदि पुद्‌गलपरिणामो की उत्पत्ति परस्पराश्रित है, उसके लिये धर्म और अधर्म जैसे किसी अतीन्द्रिय द्रव्य की आवश्यकता नही है। अकलक उनके समाधान मे कहते है- ज्ञानादि पर्यायो की उत्पत्ति के लिए "काल" नामक साधारण बाह्य कारण की आवश्यकता है उसी तरह धर्म और अधर्म की भी गति और स्थिति के लिये आवश्यकता है।[2]

अमूर्त होने से ही धर्म और अधर्म का अभाव नही किया जाता क्योकि अमूर्त प्रधान अहकार (साख्य के अनुसार) आदि विकार रूप से परिणत होकर पुरुष के भोग मे निमित्त होता है, विज्ञान अमूर्त होकर भी नाम रूप की उत्पत्ति का कारण होता है (बौद्ध)। अदृष्ट अमूर्त होकर भी पुरुष के उपभोग और साधनो मे निमित्त होता है, उसी तरह धर्म और अधर्म भी अमूर्त होने पर भी गति और स्थिति मे साधारण निमित्त माने जाने चाहिये।[3]

इस प्रकार अगर धर्म और अधर्म की मान्यता नही होती तो शुद्धात्मा आज तक उडान ही भरती रहती और उसकी इस अनत यात्रा का कभी अत नही होता। क्योकि आकाश का कही अत नहीं है, परतु धर्म और अधर्म के अस्तित्व के कारण मुक्तात्मा लोक के अग्रभाग पर जाकर स्थिर हो जाती है क्योकि गतिसहायक धर्मास्तिकाय की अलोक मे अनुपस्थिति है और ग्रह उपग्रह आदि का परस्पर घर्षण भी अधर्मास्तिकाय के कारण सभव नहीं है क्योकि अपनी ही परिधि मे निरतर भ्रमणशील इनका सतुलन अधर्मास्तिकाय स्थापित कर देता है।

**आकाशास्तिकाय का लक्षण और स्वरूपः**—अस्तिकाय मे तीसरा अस्तिकाय द्रव्य आकाशास्तिकाय है। ठाणाग मे इसका विवेचन और लक्षण इस प्रकार बताया है। आकाशास्तिकाय अवर्ण, अगध, अरस, अस्पर्श, अरुप, अजीव, शाश्वत, अवस्थित तथा लोक का एक अशभूत द्रव्य है।

---

1 त रा वा 5 17 28 464

2 वही 5 17 36 465

3 वही 5 17 41 466

द्रव्य की अपेक्षा एक द्रव्य है, क्षेत्र की अपेक्षा लोक तथा अलोक प्रमाण है। काल की अपेक्षा अतीत, अनागत और वर्तमान तीनो मे शाश्वत है। भाव की अपेक्षा अवर्ण, अगध, अरस और अस्पर्श है। गुण की अपेक्षा अवगाहन गुण वाला है।[1]

उत्तराध्ययन मे भी आकाश के अवगाहन गुण को ही पुष्ट किया है।[2]

यहाँ प्रबुद्ध वर्ग मे एक समस्या उभर सकती है कि हम आकाश कहे किसे? जो हमे नीला, पीला दिखायी देता है, वह आकाश है? परतु नीला पीला तो आकाश हो नही सकता, क्योकि आकाशास्तिकाय का लक्षण तो अवर्ण है तथा अमूर्त्त है। वह तो इन्द्रियो से जाना नही जा सकता। यह सर्दी/गर्मी जो कुछ हमे प्रतीत होता है वह वायु की है, आकाश की नही। यह वायु आकाश मे व्याप्त है। सुगध/दुर्गन्ध आदि पुद्गल स्कधो की है, आकाश की नही। नीला पीला दीखता है ये भी वायु मडल मे तैरने वाले क्षुद्र अणुओ के रग है और सूर्य की किरणो को प्राप्त करके इस रग मे रग जाते है।

वैशेषिक[3] शब्द को आकाश का गुण मानते है और इसे सिद्ध करने के प्रयास भी करते है, परतु शब्द आकाश का गुण न होकर पौद्गलिक है। क्योकि वैशेषिको ने जो हेतु उपस्थित किये है, वे असिद्ध है।[4] शब्द आकाश का गुण न होकर पुद्गल का गुण है क्योकि अनेक पुद्गलो के टकराने से शब्द उत्पन्न होता है और वायुमण्डल मे एक कपन विशेष उत्पन्न करता है।

हमारे चारो ओर जो भी खाली जगह (Vaccum) दिखायी देती है, वही आकाश है, जिसे अग्रेजी भाषा मे space कहा जाता है। Sky और Space मे अतर है। Sky तो वह है जो पुद्गल के रूप मे विवेचित किया है अर्थात् रगबिरगा दिखता है।[5]

आकाश का उपकार है–धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल को अवगाह देना।[6]

---

1 ठाणाग 5 172 एव भगवती 2 10 4

2 भायण सव्वदव्वाण नह ओगाह लक्खण, उत्तराध्ययन 28 9

3 वैशेषिक सूत्र 2 1 27 29-32 एव तत्र आकाशस्य गुणा शब्द सख्यापरिमाण पृथक्त्व सयोग विभागा प्रशस्त भा पृ 23-25

4 स्याद्वादमजरी 14 पृ 127 128

5 पदार्थ विज्ञान पृ 167 मे जिनेन्द्र वर्णी

6 सर्वार्थसिद्धि सूत्र 5 18 पृ 242

धर्म और अधर्म आकाश का अवगाहन करके रहते है, यह एक औपचारिक प्रयोग है। हस जल का अवगाहन करके रहता है, इस तरह का मुख्य प्रयोग नही है। आधार और आधेय मे जहाँ पौर्वापर्य सबध हो, वह मुख्य प्रयोग होता है। सपूर्ण लोकाकाश और धर्म और अधर्म की व्याप्ति है।[1]

धर्मास्तिकायादिकोअवगाहनदेने वाला लोकाकाश है,[2] परतु आकाश का अपना कोई आधार नही है, क्योकि आकाश से बडा कोई द्रव्य नही है जिसमे आकाश आधेय बन सके। अत अनत यह आकाश स्वप्रतिष्ठ है। आकाश का आधार अन्य, फिर उसका कोई अन्य आधार मानने मे अनवस्था होती है।[3]

एवभूतनय की दृष्टि से सारे द्रव्य स्वप्रतिष्ठित है। इनमे आधार आधेय भाव नही है। व्यवहार नय से आधार आधेय की कल्पना होती है। व्यवहार से ही वायु का आकाश, जल का वायु, पृथ्वी का जल, सभी जीवो का पृथ्वी, जीव का अजीव, अजीव का जीव, कर्म का जीव और जीव का कर्म, धर्म, अधर्म तथा काल का आकाश आधार माना जाता है। परमार्थ से तो वायु आदि समस्त स्वप्रतिष्ठित है।[4]

धर्म और अधर्म को भी आकाश ही अवगाहन देता है, परतु इनमे पौर्वापर्य सबध नही है, जैसा कुण्ड और बोर मे है। इनका सबध शरीर और हाथ जैसा है। हाथ और शरीर मे आधार आधेय भाव है फिर भी न तो पूर्वापरकाल है, न युतसिद्धि। दोनो युगपत् उत्पन्न होते है और अयुतसिद्ध होते है।[5]

धर्म और अधर्म तिलो मे तैल की तरह सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त करके रहता है।[6]

अवगाह दो प्रकार का माना गया है-पुरुष के मन की तरह और दूसरा दूध मे पानी की तरह अथवा जैसे आत्मा सपूर्ण शरीर मे व्याप्त होकर रहती है, वैसे ही धर्म और अधर्म भी सपूर्ण लोकाकाश को व्याप्त करके रहते है।[7]

1 त रा वा 5 18 2 466
2 लोकाकाशेवगाह त सू 5 12
3 त रा वा 5 12 2-4, 454
4 वही 5 12 5, 6,454, 55
5 वही 5 12 8 9 455
6 त सू 5 13
7 सभाष्यतत्वार्थाधिगमसूत्र 5 13 257

जीव और पुद्गल तो जिस प्रकार से जल मे हस अवगाहन करता है, वैसे ही लोकाकाश मे करते है। ये अल्पक्षेत्र और असख्येय भाग को रोकते है और क्रियावान् है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते है। अत इनके अवगाह मे सयोग और विभाग द्वारा आकाश उपकार करता है।"[1]

धर्म और अधर्म के अनादिसबध और अयुतसिद्धत्व के विषय मे अनेकात है। पर्यायार्थिकनय की गौणता और द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता होने पर व्यय और उत्पाद नही होता और पर्यायार्थिकनय की मुख्यता और द्रव्यार्थिकनय की गौणता होने पर सादिसबध और युतसिद्धत्व है क्योकि आकाश भी द्रव्य है और इस अपेक्षा से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त होना इसका लक्षण है।[2]

**आकाश द्रव्यो से अनन्य है और द्रव्य आकाश से अनन्य है:**—जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, तथा काल लोक से अनन्य है और लोक इन पाँचो द्रव्यो से अनन्य है। लोक के बिना अवशिष्ट पाँचो द्रव्यो का अस्तित्व नही है और लोकाकाश भी इनसे रहित नही होता।[3] धर्म, अधर्म और आकाश इन तीनो अस्तिकायो का एक क्षेत्रावगाही और समान परिमाण वाले होने के कारण एकत्व है। फिर भी इन तीनो के लक्षण भिन्न है। और भिन्न है, अत अन्यत्व भी है।[4]

अन्य द्रव्य असख्यात प्रदेशी है, परतु आकाश अनतप्रदेशी है।[5]

रिक्त स्थान को आकाश कहते है। यद्यपि इस खाली जगह मे वायु होने के कारण वायुमडल कहा जाता है, परतु वायु और आकाश अलग-अलग है। वायु जिसमे रहती है, सचार करती है, वह आकाश है। ऊपर अतरिक्ष जहाँ आज के भेजे गये वैज्ञानिक यत्र स्पूतनिक आदि घूम रहे है वहाँ वायु नही है, परतु आकाश अवश्य है। जिस खाली जगह मे ये वैज्ञानिक उपकरण घूम रहे है वह आकाश है।

**चतुष्टयी की अपेक्षा लोक**—लोक सादि है या अनादि एव लोक सात है या अनत। इस सबध मे स्कदक को जिज्ञासा हुई। वे महावीर के पास पहुँचे

1 सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम सूत्र 5 18 262
2 त रा वा 5 18 5 466, 67
3 पं का 91
4 पं का 96
5 "लोयालोयप्पमाणमेत्ते कप्पते चेव' भगवती 2 10 4 एवं "आकाशस्यानंता" त सू 5 9

और इस सबध मे समाधान चाहा। भगवान् ने कहा- "लोक चार प्रकार का है- द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भावलोक।

**द्रव्यलोक की अपेक्षाः**—लोक एक है और अतवाला है।

**क्षेत्रलोक की अपेक्षाः**—असख्य कोडाकोडी योजन तक लबा है, असख्य कोडाकोडी परिधि वाला है, फिर भी सात है।

**काल की अपेक्षाः**—भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनो कालो मे शाश्वत है। ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अवस्थित, अव्यय, और नित्य है।

**भावलोक की अपेक्षाः**—अनत वर्णपर्यायरूप, गधपर्यायरूप, रस पर्यायरूप और स्पर्श पर्यायरूप है। इसी प्रकार अनतसस्थान पर्यायरूप, अनतगुरूलघुपर्यायरूप, एव अनतअगुरू लघुपर्यायरूप है। इसका अत नही है।

इस प्रकार द्रव्यलोक एव क्षेत्रलोक अन्तसहित है, काल एव भावलोक अतरहित।[1]

**आकाशास्तिकाय के भेदः**—भगवती एव ठाणाग के अनुसार आकाश दो प्रकार का है- लोकाकाश और अलोकाकाश।[2]

लोकाकाश और अलोकाकाश मे क्या भिन्नता है? तब भगवान ने कहा लोकाकाश मे जीव, जीव के देश और जीव के प्रदेश है। अजीव भी है। अजीव के देश और अजीव के प्रदेश भी है। उन जीवो मे नियमत एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय तथा अनिन्द्रिय है। अजीव भी रुपी और अरुपी दोनो है। रुपी के स्कध, स्कधदेश, स्कधप्रदेश और परमाणुपुद्गल इस प्रकार चार भेद है। जो अरुपी है उनके पाँच भेद-धर्मास्तिकाय, नोधर्मास्तिकाय का देश, और धर्मास्तिकाय के प्रदेश, अधर्मास्तिकाय, नोअधर्मास्तिकाय का देश, और अधर्मास्तिकाय के प्रदेश और अद्धासमय है।[3]

अलोकाकाश मे न जीव है न अजीवप्रदेश है। वह एक अजीवद्रव्य देश है, अगुरुलघु है तथा अनत अगुरुलघुगुणो से सयुक्त है। अनतभागकम सर्वाकाशरूप है।[4]

1 भगवती 2 1 24

2 "दुविहे आगेसे पण्णते त जहा- लोयागासे य अलोयागासे य" भगवती 2 10 10 ठाणाग 2 152

3 भगवती 2 10 11

4 भगवती 2 10 12

यह अलोकाकाश न तो धर्मास्तिकाय मे, न अधर्मास्तिकाय से, न आकाशास्तिकाय से स्पष्ट है। आकाशास्तिकाय के देश और प्रदेश से ही स्पष्ट है। पृथ्वीकाय अथवा अद्धाकाल से भी स्पष्ट नही है।[1] जबकि लोक धर्मास्तिकाय से एव उसके प्रदेश से स्पष्ट है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय मे एव उसके प्रदेश से स्पष्ट है। आकाशास्तिकाय के देश और प्रदेश से स्पष्ट है। पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय एव पृथ्वीकायादि से वनस्पति तक स्पष्ट है। त्रसकाय मे कथचित् स्पष्ट है कथचित् स्पष्ट नही है। (जब केवली समुद्घात करते है, तब चौथे समय मे वे अपने आत्मप्रदेशो से समग्र लोक को व्याप्त कर लेते है। केवली त्रसकाय के अतर्गत आते है।) अद्धासमय देश से स्पष्ट होता भी है और नही भी।[2] (अद्धाकाल अढाई द्वीप मे ही है, आगे नही।)

बृहद्द्रव्यसग्रह के अनुसार जो धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल को अवकाश दे, वह लोकाकाश और उस लोकाकाश से बाहर अलोकाकाश है।[3]

**लोक का विवेचन बौद्ध मत मे:**—आचार्य वसुबधु ने लोक के सबध मे इस प्रकार मतव्य स्पष्ट किया है-

"लोक के अधोभाग मे सोलह लाख योजन ऊँचा अपरिमित वायुमडल है।[4] उसके ऊपर 11 लाख 20 हजार योजन ऊँचा जल मडल है। उसमे तीन लाख बीस हजार योजन कचन मय भूमण्डल है।[5] जल मडल और कचन मडल का विस्तार 12 लाख 3 हजार 450 योजन तथा परिधि 36 लाख 10 हजार 350 योजन प्रमाण है।[6]

कचनमय वायुमडल के मध्य मे मेरु पर्वत है। यह 80 हजार योजन नीचे जल मे डूबा हुआ है तथा इतना ही ऊपर निकला हुआ है।[7] इससे आगे 80 हजार योजन विस्तृत और दो लाख चालीस हजार योजन प्रमाण परिधि से सयुक्त प्रथम समुद्र है जो मेरु को घेर कर अवस्थित है। इससे

1 प्रज्ञापना 15 1 1005
2 प्रज्ञापना 15 1 1002
3 बृहद् द्रव्य सग्रह 22
4 अभिधर्मकोष 3 45
5 अभिधर्मकोष 3 46
6 अभिधर्मकोष 3 47, 48
7 अभिधर्मकोष 3 50

आगे चालीस हजार योजन विस्तृत युगधर पर्वत वलयाकार से स्थित है। इसके आगे भी इसी प्रकार से एक-एक समुद्र को अन्तरित करके आधे-आधे विस्तार से सयुक्त क्रमश युगधर, ईशाधर, खदीरक, सुदर्शन, अश्वकर्ण, विनतक और निर्मिधर पर्वत है। समुद्रो का विस्तार उत्तरोत्तर आधा-आधा होता गया है।[1]

उक्त पर्वतो मे से मेरू चतुर्रत्नमय, शेष सात स्वर्णमय है। सबसे बाहर अवस्थित महासमुद्र का विस्तार तीन लाख बाईस हजार योजन प्रमाण है। अत मे लौहमय चक्रवाल पर्वत स्थित है।

निर्मिधर और चक्रवाल पर्वतो के मध्य मे जो समुद्र स्थित है उसमे जम्बूद्वीप, पूर्वविदेह,, अवरगोदानीय अर उत्तरकुरु ये चार द्वीप है। इनमे जम्बूद्वीप मेरू के दक्षिण भाग मे है। उसका आकार शकट के समान है। उसकी तीन भुजाओ मे से दो भुजाएँ दो-दो हजार योजन की और एक भुजा तीन हजार पचास योजन की है।[2]

जम्बूद्वीप मे उत्तर की ओर बने कीटादि और उनके आगे हिमवान् पर्वत अवस्थित है। हिमवान् पर्वत से आगे उत्तर मे पाँच सौ योजन विस्तृत अनवतप्त नाम का अगाध सरोवर है। इससे गगा, सिंधु, वक्षु और सीता ये चार नदियाँ निकली है। इस सरोवर के समीप जबूवृक्ष है। इससे इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पडा है।[3]

**नरकलोकः**—जम्बूद्वीप के नीचे बीस हजार योजन विस्तृत अवीचि नरक है। उसके ऊपर क्रमश प्रतापन, तपन, महारौरव, रौरव, सघात, कालसूत्र और सजीव नाम के सात नरक और है।[4]

**ज्योतिर्लोकः**—मेरू पर्वत की भूमि से चालीस हजार योजन ऊपर चन्द्र और सूर्य परिभ्रमण करते है। चन्द्रमण्डल का प्रमाण पचास योजन और सूर्य मण्डल का प्रमाण इक्यावन योजन है। जिस समय जम्बुद्वीप मे मध्याह्न होता है, उस समय उत्तरकुरु मे अर्धरात्रि, पूर्वविदेह मे अस्तगमन और अवरगोदानीय मे सूर्योदय होता है।[5]

1 अभिधर्मकोष 3 51 , 52
2 गणितानुयोग भूमिका पृ 83
3 अभिधर्मकोष 3 57
4 अभिधर्मकोष 3 58
5 अभिधर्म कोष 3 60

भाद्र पद मास के शुक्ल पक्ष की नवमी से रात्रि की वृद्धि और फाल्गुन माम के शुक्ल पक्ष की नवमी से उसकी हानि प्रारभ होती है। रात्रि की वृद्धि दिन की हानि और दिन की वृद्धि रात्रि की हानि होती है। सूर्य के दक्षिणायन मे रात्रि की वृद्धि और उत्तरायण मे दिन की वृद्धि होती है।[1]

**स्वर्गलोक:**–मेरू के शिखर पर स्वर्गलोक है। इसका विस्तार अस्सी हजार योजन है। यहाँ पर त्रायस्त्रिश देव रहते है। इसके चारो विदिशाओ मे वज्रपाणि देवो का निवास है।[2]

त्रायस्त्रिश लोक के मध्य मे सुदर्शन नामक नगर है। वह सुवर्णमय है। इमका एक-एक पार्श्व भाग ढाई हजार योजन विस्तृत है। इसके मध्य भाग मे इद्र का अढाई सौ योजन विस्तृत वैजयत नामक प्रासाद है। नगर के बाहरी भाग मे चारो ओर चैत्ररथ, पारुष्य, मिश्र और नदनवन ये चार वन है।[3] त्रायस्त्रिश लोक के ऊपर विमानो मे देव रहते है। कुछ देव मनुष्यो की तरह कामसेवन करते है और कुछ क्रमश आलिगन, हस्तमिलाप, हसित और दृष्टि द्वारा तृप्ति प्राप्त करते है।[4]

**बौद्ध और जैन मत मे विवेचित लोक की तुलना.**–बौद्धो ने दस लोक माने है- नरक, प्रेत, तिर्यक्, मनुष्य और छ देवलोक।[5] प्रेतो को जैनो ने देवो के अन्तर्गत माना है। (इसका विवेचन जीवास्तिकाय मे हम कर आये है।) प्रेतलोक को देवयोनि के अन्तर्गत मानने पर नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देव चार लोक ही सिद्ध होते है। जैन इसे चार गति के रूप मे स्वीकार करते है।

बौद्धो ने प्रेतयोनि की पृथक् योनि मानकर पाँच योनियाँ स्वीकार की है।[6]

**वैदिक धर्मानुसार लोक वर्णन:**–विष्णु पुराण के द्वितीयाश के द्वितीयाध्याय मे बताया गया है कि इस पृथ्वी पर जम्बू, लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रोच, शाक और पुष्कर नाम वाले सात द्वीप है। ये सभी चूडी के समान गोलाकार और क्रमश सात समुद्रो से वेष्टित है। इन सभी के मध्य जबू द्वीप है। इसका

1 अभिधर्मकोष 3 61
2 अभिधर्मकोष 3 65
3 अभिधर्मकोष 3 66 67
4 अभिधर्मकोष 3 39
5 "नरक प्रेत तिर्यञ्चो मानुषा षड् दिवौकस' अभिधर्मकोष 3 1
6 "नरकादिस्वनामोक्ता गतय पंच तेषु ता" अभिधर्मकोष 3 4

विस्तार एक लाख योजन है। इसके मध्य भाग मे 84 हजार योजन ऊँचा स्वर्णमय मेरूपर्वत है। इसकी नीव पृथ्वी के भीतर 16 हजार योजन है। मेरू का विस्तार मूल मे 16 हजार योजन है, फिर क्रमश बढकर शिखर पर 32 हजार योजन हो गया है।[1]

आगे जाकर हिमवान आदि छ वर्ष पर्वतो से इस जबूद्वीप के सात भाग हो जाते है।

मेरू पर्वत के पूर्वादिक दिशाओ मे क्रमश मदर, गधमादन, विपुल और सुपार्श्व नाम वाले चार पर्वत है। इनके ऊपर क्रमश 1100 योजन ऊँचे कदम्ब, जम्बू, पीपल और वटवृक्ष है। इनमे से जम्बूवृक्ष के नाम से यह जम्बूद्वीप कहलाता है।[2]

जबूद्वीप के इन पर्वतो द्वारा भी सात भाग होते है- भारतवर्ष, किम्पुरूष, हरिवर्ष, इलावृत्त, रम्यक, हिरण्मय और उत्तरकुरु।[3]

इन सात क्षेत्रो मे से मात्र जबुद्वीप मे ही काल परिवर्तन होता है। किंपुरुषादिक मे काल परिवर्तन नही होता। यहाँ के निवासियो को किसी प्रकार के शोक, परिश्रम, क्षुधा आदि की बाधा नही होती। स्वरूप-सुखी, आतक रहित इनका जीवन होता है। यह भोगभूमि है। यहाँ पर पाप आदि भी नही है। स्वर्ग, मुक्ति, आदि की प्राप्ति के लिये की जाने वाली तपश्चर्या व्रतादि भी यहाँ नही है। मात्र भारतवर्ष के लोग ही मुक्ति आदि को पाने का प्रयास कर सकते है।[4] यहाँ के लोग असि, मषि आदि कर्म करते है, अत यह कर्मभूमि भी कहलाती है। यह सभी क्षेत्रो मे सर्वश्रेष्ठ क्षेत्र माना गया है।[5]

इस भूमण्डल के नीचे दस-दस हजार योजन के सात पाताल है। यहाँ उत्तम भवनो से युक्त भूमियाँ है तथा दानव, दैत्य, यक्ष और नाग आदि यहाँ

---

1 विष्णु पुराण द्वितीयाश द्वितीय अध्याय श्लोक 5 9

2 विष्णु पुराण द्वितीयाश द्वितीयाश द्वितीय अध्याय श्लोक 17-19

3 विष्णु पुराण द्वितीयाश द्वितीय अध्याय श्लोक 10-15

4 "कर्मभूमिरयं स्वर्ग मपवर्गच गच्छताम्" अग्निपुराण अध्यायन 2 गाथा 118

5 उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमादेश्च दक्षिणम्। वष तद्भारत नाम, भारती यत्र सतति। नवयोजनसाहस्रो, विस्तारोस्य महामुने। कर्मभूमिरिय स्वर्ग मपवर्गच गच्छताम्।। अत सप्राप्यतिस्वर्गो, मुक्तिमस्मात् प्रायन्ति वै। तिर्यक्त्वं नरकं चापि, यान्त्यत पुरुषामुने।। इत स्वर्गश्च मोक्षश्च, मध्यं चान्तश्च गम्यते। तत्सल्वन्यत्र मर्त्यानां, कर्मभूमौ विधीयते।।"
विष्णुपुराण द्वितीयाश का तीसरा अध्ययन गा 19 22

रहते है।[1]

पाताल के नीचे विष्णु भगवान का शेष नामक तामस शरीर स्थित है, जो अनत कहलाता है। यह शरीर सहस्र फणो से सयुक्त होकर समस्त पृथ्वी को धारण करके पाताल मूल मे स्थित है। कल्पात के समय इसके मुँह से निकली मकर्षात्मक रूद्र विषाग्नि-शिखा तीनो लोको का भक्षण करती है।[2]

**नरकलोक.**—पृथ्वी और जल के नीचे रौरव, सूकर रौध, लाल विशासन महाज्वाल, इत्यादि नाम वाले अनेक महान भयानक नरक है। पापी जीव मृत्यु पाकर इन नरको मे जन्म ग्रहण करते है।[3] नरक से निकलकर ये जीव क्रमश स्थावर कृमि, जलचर, मनुष्य, देव आदि होते है। जितने जीव स्वर्ग मे है, उतने ही जीव नरक मे भी है।[4]

**ज्योतिर्लोक.**—भूमि से एक लाख योजन की दूरी पर सौर मण्डल है। इससे एक लाख योजन ऊपर नक्षत्र मण्डल, इससे दो लाख योजन ऊपर बुध, इससे दो लाख योजन ऊपर शुक्र, इससे दो लाख योजन ऊपर मगल, इमसे दो लाख योजन पर बृहस्पति, इससे दो लाख योजन पर शनि, इससे एक लाख योजन पर सप्तर्षिमण्डल तथा इससे एक लाख योजन ऊपर ध्रुवतारा है।[5]

**महर्लोक (स्वर्गलोक):**—ध्रुव मे एक योजन ऊपर महर्लोक है। वहाँ कल्पकाल तक जीवित रहने वाले कल्पवासियो का निवास है। इससे दो करोड योजन ऊपर जनलोक है। यहाँ नदनादि से युक्त ब्रह्माणी के पुत्र रहते है। इसमे आठ करोड योजन ऊपर तपलोक है, जहाँ वैराज देव निवास करते है। इसमे बारह करोड योजन ऊपर सत्य लोक है, यहाँ कभी न मरने वाले अमर रहते है। इने ब्रह्मलोक भी कहते है। भूमि और सूर्य के मध्य मे सिद्धजनो और मुनिजनो मे सेवित स्थान भुवन लोक कहलाता है। सूर्य और ध्रुव के मध्य चौदह लाख योजन प्रमाण क्षेत्र स्वर्लोक नाम से प्रसिद्ध है।[6]

---

1 विष्णुपुराण द्वि अ पचम अध्याय गा 2 4
2 विष्णुपुराण द्वि अ पचम अध्याय 93-96
3 विष्णुपुराण द्वि अ पचम अध्याय गा 1-6
4 विष्णुपुराण द्वि अ पचम अध्याय गा 34
5 विष्णुपुराण द्वितीय अश सप्तम अध्याय गा 2-9
6 विष्णुपुराण द्वितीय अश सप्तम अध्याय 12 18

**समीक्षा'**—वैदिक और जैन दर्शन द्वारा मान्य लोक के विवेचन मे समानता और असमानता दोनो है। वैदिक दर्शन भोगभूमि और कर्मभूमि मानता है और जैन भी। द्वीपो मे समानता और असमानता दोनो है। समुद्र, क्षेत्र, पर्वत आदि की अपेक्षा मे भिन्नता भी है और समानता भी।[1]

भारत वर्ष को दोनो ने कर्मभूमि मानते हुए सर्वश्रेष्ठ भूमि बताया है।

**लोक के भेद प्रभेद.**—क्षेत्रलोक तीन प्रकार का होता है- **अधोलोक क्षेत्रलोक, तिर्यक्लोक क्षेत्रलोक एव ऊर्ध्वलोक क्षेत्रलोक।**[2]

**अधोलोक क्षेत्रलोक** सात प्रकार का है—रत्नप्रभापृथ्वी, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पकप्रभा, धूमप्रभा, तम प्रभा, महातम प्रभापृथ्वी अधोलोक

**तिर्यक्लोक क्षेत्र लोक.**—यह अमख्यात प्रकार का है।[3] इसमे जबूद्वीप आदि शुभ नामवाले द्वीप और लवणोद आदि शुभनामवाले समुद्र है।[4] लोक मे जितने भी शुभनाम है, उन सभी नामो वाले वे द्वीप समुद्र है। जम्बूद्वीप से स्वयभूरमण पर्यत अमख्यात द्वीप समुद्र इस तियक्क्षेत्रलोक मे है।[5]

वे मभी द्वीप और समुद्र दुगुने-दुगने व्यासवाले पूर्व पूर्व द्वीप और समुद्र को वेष्टित करने वाले और चूडी के आकार वाले है।[6] अर्थात् इन द्वीप और समुद्रो का विस्तार और रचना नगरो की तरह न होकर उत्तरोत्तर वे द्वीप और समुद्र एक दूसरे को घेरे हुए है।[7]

उन सभी के बीच गोल और लाख योजन विस्तार युक्त जम्बूद्वीप है जिसके मध्य मे नाभि की तरह मेरू पर्वत स्थित है।[8] जम्बूद्वीप मे सात क्षेत्र है और उन सात क्षेत्रो मे एक भरत क्षेत्र भी है।[9] (जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार इसी भरतक्षेत्र के हम निवासी है।) इस भरत क्षेत्र का विस्तार

1 गणितानुयोग प्रस्तावना पृ 88

2 भगवती 11 10 3 एव त सू 3 1

3 भगवती 11 10

4 त मू 3 7

5 स सि 3 7 379

6 "द्विर्द्विविष्कम्भा पूर्व पूर्व परिक्षेपिणो वलयाकृतय त मू 3 8

7 स सि 3 8 381

8 त सू 3 9

9 त मू 3 10

पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन का छह बटा उन्नीस भाग है।[1]

इस भरत क्षेत्र मे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह समयो की अपेक्षा वृद्धि और ह्रास होता रहता है। (इसका विवेचन काल के अन्तर्गत किया जायेगा।) इसका तात्पर्य यह नही कि क्षेत्र की न्यूनाधिकता होती है, अपितु इस क्षेत्र के निवासियो की आयु, अनुभव, प्रमाण आदि की अपेक्षा से हानि वृद्धि होती है।

**ऊर्ध्वलोक क्षेत्रलोकः**—ऊर्ध्वलोक क्षेत्रलोक पन्द्रह प्रकार का होता है। सौधर्मकल्प ऊर्ध्वलोक से लेकर अच्युतकल्प क्षेत्रलोक, ग्रैवेयक, अनुत्तर विमान, एव ईषत्प्राग्भारपृथ्वी ऊर्ध्वलोक क्षेत्रलोक पर्यत ऊर्ध्वलोक क्षेत्रलोक होता है।[2]

प्रशमरति मे लोक का विवेचन इस प्रकार उपलब्ध होता है। यह लोक पुरुष है। अपने दोनो हाथ कमर पर रखकर दो पैर फैलाकर खडे पुरुषाकार की तरह है।[3] लोक को कुल चौदह रज्जु प्रमाण बताया है। सुमेरू पर्वत के तल से नीचे सात रज्जु प्रमाण अधोलोक बताया है और तल के ऊपर से सात रज्जु ऊर्ध्वलोक बताकर कुल चौदह रज्जु प्रमाण लोक बताया है। मध्यलोक की ऊचाई को ऊर्ध्वलोक मे शामिल किया है। क्योकि सात रज्जु प्रमाण के क्षेत्रफल मे एक लाख चालीस योजन का क्षेत्रफल ठीक उसी प्रकार महत्व रखता है, जैसे पर्वत की तुलना मे राई।[4]

अब हम यह समझे कि रज्जु का माप क्या है? क्योकि यह भी जैन दर्शन का अपना विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है। रज्जु से तात्पर्य रस्सी नही है। अपितु तीन करोड इक्यासी लाख सत्ताईस हजार नौ सौ सत्तर मण वजन का एक भार और ऐसे हजार भार का अर्थात् अडतीस अरब बारह करोड उन्यासी लाख सत्तर हजार मण वजन का एक लोहे का गोला छ माह, छ दिन, छ प्रहर और छह घडी मे जितनी दूरी तय करे, उतनी दूरी को एक रज्जु कहते है।[5]

**सस्थान के प्रकार**—जिस प्रकार से लोकरचना का विश्लेषण किया उसी

1 त सू 3 24 (दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य)
2 भगवती 11 10 6
3 प्रशमरति गा 210
4 कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा 127
5 गणितानुयोग प्रस्तावना पृ 6

प्रकार उसके आकार का भी विवेचन किया।

अधोलोक का सस्थान किस प्रकार का है? गौतम स्वामी के इस प्रश्न पर भगवान महावीर ने कहा- अधोलोक क्षेत्रफल का सस्थान तिपाई के समान है। तिर्यग् लोक क्षेत्रलोक का आकार झालर के आकार का है। अधोलोक के क्षेत्रलोक का आकार मृदग के समान है।[1]

लोक का सस्थान सकोरे के आकार का है। वह नीचे से चौडा, ऊपर से मृदग जैसा है। प्रशमरति मे उमास्वाति ने भी लोक की आकृति इसी प्रकार से बतायी है। अधोलोक का आकार सकोरे के समान (ऊपर सक्षिप्त नीचे विशाल), तिर्यक्लोक आकार थाली के जैसा है एव ऊर्ध्वलोक का आकार खडे रखे गये सकोरे के ऊपर उलटे रखे गये सकोरे के जैसा है।[2]

अलोक का सस्थान पोले गोले के समान है।[3] भगवती मे व्याख्याकार ने लोक का प्रमाण इस प्रकार से बताया है, "सुमेरु पर्वत के नीचे अष्टप्रदेशी रुचक है। उसके निचले प्रतर के नीचे नौ सो योजन तक तिर्यग्लोक है। उसके आगे अध स्थित होने से अधोलोक है जो सात रज्जु से कुछ अधिक है तथा रुचक प्रदेश की अपेक्षा नीचे और ऊपर नौ सो-नौ सो योजन तिरछा होने से तिर्यग्लोक है। तिर्यग्लोक के ऊपर कुछ कम सात रज्जु प्रमाण ऊर्ध्वभागवर्ती होने से ऊर्ध्वलोक कहलाता है। ऊर्ध्व और अधोदिशा मे कुल ऊँचाई चौदह रज्जु है।[4]

जैन दर्शन की तरह विज्ञान जगत ने भी आकाश को स्वीकार किया है। डा हेनसा के अनुसार –

"These four elements (Space, Matter, Time and Medium of motion) are all seperate in mind We can not imagine that the one of them could depend on another or converted into another "

आकाश, पुद्गल, काल और गति का माध्यम (धर्म) ये चारो तत्व हमारे मस्तिष्क मे भिन्न-भिन्न है। हम इसकी कल्पना भी नही कर सकते कि ये

1 भगवती 11 10 1 एव वही 7 1 5

2 प्रशमरति प्रकरण 2 11

3 भगवती 11 10 11

4 भगवती 11 10 11 पृ 53

परस्पर एक दूसरे पर निर्भर रहते हो या एक दूसरे मे परिवर्तित हो सकते हो। इससे जैन दर्शन के इस सिद्धात की पुष्टि होती है कि सभी द्रव्य स्वतत्र परिणमन करते है और कोई द्रव्य किसी द्रव्य मे द्रव्यातर नही करता।[1] जैन दर्शन लोक को परिमित मानता है और अलोक को अपरिमित।[2] इसकी पुष्टि वैज्ञानिक एडिंग्टन ने भी की है –

"The World is closed in space dimensions I shall use the phrase arrow to express this one way properly which has on analogue in space,"

दिक् आयामो मे ब्रह्माण्ड परिवद्ध है। एक दिशता को ठीक प्रकार से प्रस्तुत करने के लिए मै तीर सकेत (मुहावरे) को प्रयुक्त करुगा, जिसका दिक् मे कोई सादृश्य नही है।

विश्वविख्यात वैज्ञानिक अल्वर्ट आइस्टीन, डी सीटर पोइनकेर आदि की लोक अलोक के विषय मे भिन्न-भिन्न मान्यताए है। इन मान्यताओ एव सिद्धातो का समन्वय कर देने पर जैन दर्शन मे वर्णित लोकालोक का स्वरूप स्वत फलित होने लगता है।

आइस्टीन के सिद्धातानुसार विश्व वेलनकार, वक्र, एकावद्ध आकार को धारण करने वाला व सात है। जैन दर्शन भी लोक आकाश को वक्र तथा सात मानता है। आइस्टीन के मतव्यानुसार समस्त आकाश स्वय शात और परिवद्ध है, जवकि जैन दर्शन के अनुसार समस्त आकाश द्रव्य तो अनत, असीम और अपरिमित है, मात्र लोकाकाश सात व वद्ध है। क्योकि लोकाकाश में व्याप्त धर्मास्तिकाय एव अधर्मास्तिकाय सात परिमित तथा बद्धाकार वाले है। इस कारण लोक भी सात परिमित तथा बद्धाकार वाला हो जाता है।[3]

आईस्टीन के विश्व व्यापक सिद्धात मे समस्त आकाश अवगाहित है, परन्तु डच ज्योतिर्वैज्ञानिक "डी सीटर" ने इसे स्वीकार नही किया है। शून्य (पदार्थ रहित) आकाश की विद्यमानता को सभावित सिद्ध किया है।[4]

1 जैन प्रकाश 22 12 84 पृ [illegible]
2 [illegible]
3 जैन प्रकाश 22 12 84 पृ [illegible]
4 [illegible] पृ [illegible]

इस प्रकार जहाँ आइस्टीन का विश्व आकाश सपूर्ण रूप मे अवगहित है, वहाँ डी सीटर का विश्वाकाश सपूर्ण रूप मे अवगहित शून्य है। जैन दर्शन लोकाकाश को अवगाहित मानता है और अलोकाकाश को अगाहित शून्य। इमसे यह कहा जा सकता है कि विश्व समीकरण मे मूलभूत पद लोक आकाश का व परिवर्द्धित पद अलोक आकाश का सूचक है। आइस्टीन का विश्व लोकाकाश है और डी मीटर का विश्व अलोकाकाश। इन दोनो के विश्व का समन्वित रूप जैन दर्शन के विश्व लोकालोकाकाश मे अभिव्यक्त होता है।[1]

विश्व की वक्रता के विषय मे विश्व समीकरण के हल वैज्ञानिको के सामने यह समस्या खडी कर देते है कि वक्रता धन है अथवा ऋण? धन वक्रता वाला सान्त और बद्ध तथा ऋण वक्रता वाला विश्व अनत और खुला पाया जाता है। आइस्टीन का विश्व धन वक्रता वाला है, अत सात और बद्ध है। ऋण वक्रता वाले विश्व की सभावना भी विश्व समीकरण के आधार पर हुई है। इस प्रकार धन और वक्रता के आधार पर क्रमश "सात और बद्ध" तथा "अनत और खुले" विश्व की सभावना होती है। लोकाकाश की वक्रता धन और अलोकाकाश की ऋण मानने पर जैन दर्शन का विश्व सिद्धात पुष्ट हो सकता है। लोकाकाश का आकार धन वक्रता वाला है, यह क्षेत्रलोक के गणितिक विवेचन से स्पष्ट है। अलोकाकाश का आकार इससे स्वत ऋण वक्रता वाला हो जाता है। इस प्रकार जैन सिद्धात धन और ऋण वक्रता स्वीकार करने वाले विश्व सिद्धात का समन्वय है।[2]

आकाश को सात माना है, फिर भी हम उसकी सीमा को नही पा सकते। इस सिद्धात को 'पोइनकेर' ने स्पष्ट किया है-"अपना विश्व एक अत्यत विस्तृत गोले के समान है और विश्व मे उष्णतामान का विभागीकरण इस प्रकार हुआ है कि गोले के केन्द्र मे उष्णतामान अधिक है और गोले की सतह की ओर क्रमश घटता हुआ विश्व की सीमा (गोले के अतिम सतह) पर वह वास्तविक शून्य को प्राप्त होता है। सभी पदार्थो का विस्तार उष्णतामान के अनुपात से होता है। अत केन्द्र की ओर से सीमा की ओर हम चलेगे तो हमारे शरीर का तथा जिन पदार्थों के पास से हम गुजरेगे, उन पदार्थो

1 जैन प्रकाश 22 12 68 पृ 56 ले कन्हैयालाल लोढा
2 जैन भारती 15 मई 1966

का भी विस्तार क्रमश घटना प्रारभ हो जायेगा, परतु हमे इस परिवर्तन का कोई अनुभव नही होगा। यद्यपि हमारा वेग वही दिखेगा, परतु वस्तुत वह घट जायेगा और हम कभी सीमा तक नही पहुँच पायेगे। अत यदि अनुभव के आधार पर कहे तो हमारा विश्व अनत है, परतु वस्तु वृत्या हम अत को पा नही सकते। हमारी पहुँच एक सीमा तक है, उसके बाद आकाश अवश्य है, परतु हमारी पहुँच से बाहर है।"[1]

पोइनेकर ने यह बताने का प्रयास किया है कि हमारे विश्व के उष्णतामान का विभागीकरण इस प्रकार है कि ज्यो-ज्यो हम सीमा के समीप जाने का प्रयत्न करते है, त्यो त्यो हमारे वेग मे और विस्तार मे कमी होती है। परिणामत हम सीमा को प्राप्त नही कर सकते। ठाणाग मे आये सूत्र को हम इससे जोड सकते है-"लोक के सब अतिम भागो मे अबद्ध, पार्श्व, स्पष्ट, पुद्गल होते है। लोकात तक पहुँचते ही सब पुद्गल स्वभाव से ही रुक्ष हो जाते है। वे गति मे सहायता करने की स्थिति मे सगठित नही हो सकते, इसलिये लोकात से आगे पुद्गलो की गति नही हो सकती। यह एक लोक स्थिति है।[2]

रुक्षत्व परमाणुओ का मूलगुण माना गया है। कुछ प्रमाणो के आधार पर यह एक प्रकार का (ऋण अथवा धन) विद्युत् आवेश हो ऐसा लगता है। पोइनेकर के अभिमत को यदि जैन दर्शन के विवेचित सिद्धात का केवल शब्दातर ही माना जाय तो अबद्ध, पार्श्व, स्पष्ट, पुद्गल का अर्थ वास्तविक शून्य तापमान वाले पुद्गल हो सकता है। कुछ भी हो, दोनो उक्तियो के बीच साम्य है। यह स्पष्ट है कि पोइनेकर ने आकाश की सातता और परिमितता के अतर को स्पष्ट करने के लिये उक्त विचार दिया है, जबकि जैन दर्शन ने लोकाकाश की सातता और अलोकाकाश मे गति स्थिति अभाव के कारण के रूप मे उक्त तथ्य बताया है।[3]

भाव यह है कि आधुनिक विज्ञान जैन दर्शन मे वर्णित आकाश के स्वरूप को स्वीकार करता है तथा दोनो मे समानता भी है।

लोकालोक का पौर्वापर्य –आर्य रोह ने पूछा -भगवन्! प्रथम लोक और

1 दी स्पेस और दी डिमेन्शन [illegible] पृ [illegible] [illegible] पृ [illegible]
2 स्थानाग, [illegible]
3 जैन भारती [illegible] पृ [illegible]

फिर अलोक बना या प्रथम अलोक फिर लोक बना। भगवान् ने कहा-रोह! ये दोनो शाश्वत है। इनमे पहले पीछे का क्रम सभव नही है।[1]

आकाशास्तिकाय द्रव्य से जीवो और अजीवो पर क्या उपकार होता है? गौतम स्वामी ने महावीर से पूछा। भगवान ने कहा-आकाशास्तिकाय से ही तो पाँचो द्रव्य आधार प्राप्त करते है। आकाश मे ही तो धर्म अधर्म व्याप्त होकर रहते है। जीवो को अवगाहन भी आकाश देता है। काल भी आकाश मे ही बरतता है। पुद्गलो का रगमच भी आकाश बना हुआ है।[2]

**दिक्ः–**

आकाश के जिस भाग से वस्तु का व्यपदेश या निरुपण किया जाता है, वह दिशा कहलाती है।[3]

अनुदिशा और दिशा की उत्पत्ति तिर्यक् लोक से होती है। दिशा का प्रारभ आकाश के दो प्रदेशो से शुरु होता है। उनमे दो-प्रदेशो की वृद्धि होते-होते वे असख्य प्रदेशात्मक बन जाती है। अनुदिशा केवल एक देशात्मक होती है। ऊर्ध्व और अधोदिशा का प्रारभ चार प्रदेशो से होता है। बाद मे उनमे वृद्धि नही होती।[4]

आचाराग का प्रारभ ही दिशा की विवेचना के साथ हुआ है। आचाराग मे पूर्व, पश्चिम,उत्तर,दक्षिण,ऊर्ध्व और अध दिशाओ का नामोल्लेख प्राप्त होता है।[5]

जिस व्यक्ति के जिस ओर सूर्योदय होता है, वह उसके लिये पूर्व 'जिस तरफ अस्त होता है, वह पश्चिम दिशा है। दाहिने हाथ की ओर दक्षिण बाई ओर उत्तर दिशा होती है। इन्हे ताप दिशा कहा जाता है।[6]

निमित्त कथन आदि प्रयोजन के लिये दिशा का एक प्रकार और होता है। प्रज्ञापक जिस ओर मुँह किये होता है उसे पूर्व, उसके पृष्ठ भाग मे पश्चिम दोनो ओर दक्षिण तथा उत्तर दिशा होती है, इन्हे प्रज्ञापक दिशा कहते है।[7]

---

1 भगवती 1 6 17,18

2 भगवती 13 4 25

3 दिश्यते व्यपदिश्यते पूर्वादितया वस्तवनयेति दिक्-स्था वृत्ति 3 3

4 आचाराग निर्युक्ति 42 44

5 आचाराग 1 1 1

6 आचाराग निर्युक्ति 47 48

7 आचाराग निर्युक्ति 51

जैन दर्शन के अनुसार स्वतत्र द्रव्य आकाश की दिशा एक काल्पनिक विभाग है।

ठाणाग मे दिशाए छ है[1] एव एक अपेक्षा मे दिशाए दस है- पूर्व, पूर्व-दक्षिण, दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम, पश्चिम, पश्चिम-उत्तर, उत्तर, उत्तर-पूर्व, ऊर्ध्व, अधस्।[2]

दो दिशाओ के मध्य कोने मे होने से विदिशा दो दिशा के सयुक्त नाम से भी पुकारी जाती है।

**न्याय वैशेषिक और आकाश** –जैन दर्शन की मान्यतानुसार आकाश का विवेचन करने के पश्चात् हम देखेगे कि अन्य भारतीय दर्शनो ने आकाश को किस प्रकार से विश्लेषित किया है।

वैशेषिक दर्शन मे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, देश, आत्मा और मन को द्रव्य माना है। इन द्रव्यो के अन्तर्गत आकाश को भी स्वतत्र द्रव्य के रूप मे मान्यता दी है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार इनके अन्दर शरीरधारी और अशरीरी वस्तुओ का समावेश हो जाता है।[3]

आकाश सर्वव्यापक वृहत्तम विस्तार युक्त है।[4] आकाश सर्वव्यापक होते हुए भी शब्द का उत्पादक है।[5]

आकाश एक सकाम, निरतर, स्थायी, तथा अनत द्रव्य है। यह शब्द का अधिष्ठान है। यह रग, गध, और स्पर्श मे रहित है। अपनयन की प्रक्रिया द्वारा यह सिद्ध किया जाता है कि शब्द आकाश का विशिष्ट गुण है।[6] यह निष्क्रिय है। समस्त भौतिक द्रव्य इसके साथ सयुक्त माने जाते है।[7] परमाणु अत्यत सूक्ष्म है। परमाणु एक दूसरे के पास आकर या सयुक्त होकर किसी बडे पदार्थ का निर्माण नही करता। वे एक दूसरे से अलग रहते है फिर भी किसी प्रकार से मिलकर एक व्यवस्था को स्थिर रखते है तो मात्र आकाश

1 ठाणाग [illegible]
2 ठाणाग [illegible]
3 [illegible]
4 [illegible]
5 [illegible]
6 [illegible]
7 [illegible]

के कारण। परमाणु परस्पर सयुक्त होते है। परतु निरतर नही। वह जो परमाणुओ को परस्पर सयुक्त किये रहता है, आकाश है, परतु यह आकाश परमाणुओ द्वारा निर्मित नही है। आकाश नित्य है, सर्वत्र उपस्थित है, इन्द्रियातीत है, जोडने तथा पृथक् करने के व्यक्तिगत गुण रखता है। स्वय देश न होने पर भी समस्त देश को पूर्ण करता है।[1]

पाँचो तत्वो का मिश्रण ही प्रकृति है जो हमारे सामने आती है। इनमे आकाश भी एक तत्व है, जिसका गुण एकमात्र शब्द है।[2] शब्द गुण का आश्रय दूसरा कोई द्रव्य नही है। शब्द आकाश का अनुमापक भी है। आकाश विभु है।[3]

जैन दर्शन भी आकाश को सर्वगत, नित्य, व्यापक, रूप, रस, गध और स्पर्श रहित मानता है, परतु शब्द को पुद्गल मानता है न कि आकाश का गुण। आज विज्ञान ने रेडियो, टी वी आदि द्वारा शब्द तरगो को पकडकर स्थानातरित करके यह सिद्ध भी कर दिया है।

**साख्य के अनुसार आकाश.**—साख्य प्रकृति के विकार मात्र को आकाश कहते है। प्रकृति से बुद्धि, बुद्धि से अहकार तथा अहकार से सोलह गुण- पाँच द्रव्येन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, रूप, रस, गध, स्पर्श और शब्द पैदा होते है। रूप, रस, गध, स्पर्श तथा शब्द इन्हे तन्मात्राएँ भी कहते है।[4]

इन पाँच तन्मात्राओ मे से शब्द से आकाश की उत्पत्ति होती है।[5] प्रत्यक्ष विषय रूप पाँच इन्द्रियो के अनुरूप पाँच तन्मात्राएँ है।[6] ये भौतिक तत्व रूप है, परतु माधारण प्राणियो के दृष्टि का विषय नही बनती। इन अदृश्य मारतत्वो का अनुमान दृश्यमान पदार्थो से होता है। तन्मात्राएँ तब तक इन्द्रियो के लिये उत्तेजक नही बनती जब तक कि वे परमाणुओ का निर्माण करने के लिये एक दूसरे मे सयुक्त न हो जाय। तमोगुण निष्क्रिय एव पुँज के अतिरिक्त सभी लक्षणो से रहित भी होता है। रजोगुण के सहयोग से यह परिवर्तित

---

1 भारतीय दर्शन भाग 2 डॉ राधाकृष्णन पृ 192

2 न्यायसूत्र 3 1 60 61

3 भारतीय दर्शन डॉ एन के देवगज पृ 326

4 षडदर्शन समुच्चय का 37 39

5 "स्वरान्नभ' षड्दर्शनसमुच्चय का 40 एव शब्द तन्मात्रादाकाश सा कार्त्ति मार्त्त पृ 37

6 भारतीय दर्शन भाग दो डा गधाकृष्णन पृ 269

होकर सूक्ष्म द्रव्य कम्पनशील तेजोमय और शक्ति से परिपूर्ण हो जाता है। तब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गध की तन्मात्राए उत्पन्न होती है। भूतादि तथा तन्मात्राओ के मध्य आकाश सक्रमण की कडी बनता है। आकाश के दो भेद करते है-कारणाकाश और कार्याकाश। कारणाकाश आणविक नही है तथा सर्व व्यापक है। कार्याकाश आणविक है, जो भूतादि अथवा पुज इकाईयो और शब्द के सारतत्वो के मेल से बना है। शब्द के सारतत्व कारणाकाश मे रुके हुए रहते है तथा वायु के अणुओ के लिये विकास का माध्यम बनते है।[1] जैन दर्शन साख्य की आकाश विवेचना से असहमत है। उसके अनुसार आकाश को प्रकृति का विकार मानना उचित नही है। नित्य और निष्क्रिय अनत प्रकृति के आत्मा की तरह विकार हो नही सकता। आकाश का न आविर्भाव होता है न तिरोभाव। जिस प्रकार घडा प्रकृति का विकार होकर अनित्य, मूर्त और असर्वगत होता है, उसी तरह आकाश को भी होना चाहिये। या आकाश की तरह घट को नित्य अमूर्त और सर्वगत होना चाहिये। एक कारण मे दो परस्पर अत्यत विरोधी विकार नही हो सकते।

**अद्वैत वेदान्त और आकाश.**—यह मत द्वैत को स्वीकार नही करता। द्वैतपरक जगत केवल माया है। ब्रह्म एक ही है, अनेक जीवो मे विभक्त होना प्रतीति मात्र है। आत्मा की तुलना सर्वव्यापी देश (आकाश) से की है। जीव की तुलना घडे मे सीमित देश (आकाश) के साथ की गयी है। जब टकनेवाला बाह्य आवरण नष्ट हो जाता है तो सीमाबद्ध देश (घटाकाश) व्यापक देश (महाकाश) मे मिल जाता है। भेद केवल ऐसे आनुषगिक पदार्थो मे रहते है जैसे आकृति, क्षमता, नाम। परतु स्वय व्यापक आकाश मे यह भेद नही होता। जैसे हम यह नही कह सकते कि सीमाबद्ध आकाश व्यापक आकाश का अवयव है या विकार है। ये दोनो एक ही है, भेद प्रतीति मात्र है।[2] इसी प्रकार जीव आत्मा का अवयव या विकार है ऐसा हम नही कह सकते। ये दोनो एक है, भेद प्रतीतिमात्र है, हाँ! व्यावहारिक भेद अवश्य है।[3]

"आचार्य शकर ने ब्रह्म को जगत का उपादान कारण माना है। इसी ब्रह्म से आकाशादि भूतप्रपच की उत्पत्ति होती है।[4] आकाश एक है, अनत

---

1 [illegible] भारतीय दर्शन भाग दो डा राधाकृष्णन पृ [illegible]

2 [illegible]

3 भारतीय दर्शन भाग दो डा राधाकृष्णन पृ [illegible]

4 भारतीय दर्शन [illegible] पृ [illegible]

है, लघु और सूक्ष्म है, क्रियारहित, सर्वव्यापक और सबसे प्रथम उत्पन्न पदार्थ है।[1]

जैन दर्शन वेदान्त की आकाश व्यवस्था से सहमत नही है क्योकि चेतन से अचेतन तत्व कैसे उत्पन्न हो सक्ता है? आकाश शाश्वत और विभु है, फिर वह समय- विशेष मे उत्पन्न कैसे माना जा सक्ता है? आकाश स्वय स्वतत्र और षड्द्रव्यो मे से एक द्रव्य है।

**बौद्ध मत और आकाशः**—बौद्ध दर्शन के अनुसार तत्व चार है, पृथ्वी जो कठोर है, जल जो शीतल है, अग्नि जो उष्ण है, वायु जो गतिमान है। आकाश को वे नही मानते,[2] परतु कई वाक्यो मे निरपेक्ष आकाश को भी जोड देते है। बुद्ध का कहना था "हे आनद! यह महान पृथ्वी जल पर आश्रित है, जल वायु पर आश्रित है और वायु आकाश पर आश्रित है"[3]।

आकाश का विवेचन एक अन्य अपेक्षा से भी आता है। "नागसेन! इस ससार मे ऐसे प्राणी पाए जाते है जो कर्म के द्वारा इस जन्म मे आये है, दूसरे ऐसे है जो किसी के परिणाम के रूप मे आये है, परतु दो वस्तुएँ ऐसी है जो इन दोनो की श्रेणी मे नही आती- एक है आकाश और दूसरा है निर्वाण।"[4]

परन्तु वैभाषिक और सौत्रान्तिक दो लोक मानते है और इनमे परस्पर भेद करते है-भाजनलोक जो वस्तुओ का आवास स्थान है और सत्वलोक जो जीवित प्राणियो का ससार है। भाजन लोक सत्वलोक की सेवा के लिये है।[5]

आकाश सभी प्रकार के भेद से स्वतत्र एव अनत है। यह नित्य, सर्वव्यापक और भावात्मक पदार्थ है। यद्यपि इसका कोई रूप नही है फिर भी यह सत् है। यह भौतिक पदार्थ भी नही है।[6]

जैन दर्शन की मान्यता है कि आकाश आवरण भावमात्र नही है, किन्तु वस्तुभूत है। जिस प्रकार से नाम और वेदना आदि अमूर्त होने से अनावरण

1 शांकरभाष्य 2 3 7
2 भारतीय दर्शन भाग एक डा राधाकृष्णन पृ 350
3 दीघनिकाय 207
4 मिलिन्द 4
5 भारतीय दर्शन भाग एक डॉ राधाकृष्णन् पृ 567 68
6 वही पृ 568

रूप होकर भी सत् है। उसी प्रकार आकाश भी सत् है।[1]

**आकाशास्तिकाय की सिद्धि.**—लोक की दो प्रकार से व्युत्पत्ति की जाती है। जहाँ पुण्य पाप कर्मो का सुखदु खरूप फल देखा जाता है, वह लोक है। इस व्युत्पत्ति मे लोक का अर्थ हुआ– आत्मा एव जो पदार्थो को देखे/जाने वह लोक अर्थात् आत्मा। इन दोनो ही व्युत्पत्तियो से जीव को ही लोकसज्ञा प्राप्त होती है तथापि अन्य द्रव्यो को न तो अलोक कहा जायेगा और न छह द्रव्यो का समूह लोक । इसका विरोध होगा क्योकि परम्परा मे क्रिया व्युत्पत्ति का निमित्तमात्र होती है जैसे "गच्छतीतिगो " इससे न तो सभी चलने वाले गाय बन जायेगे और न वैठी गाय गाय रूप मे मिट जायेगी। इसी तरह लोक शब्द की उपरोक्त व्युत्पत्ति करने पर भी धर्मादि द्रव्यो का लोकत्व नष्ट नही होता। आत्मा स्वय के स्वरूप का लोकन करता है। और सर्वज्ञ वाह्य पदार्थो का एव स्व स्वरूप का लोकन करता है।[2]

जो देखा जाय वह लोक, ऐसी व्युत्पत्ति करने मे अलोक को भी लोक कहना चाहिये क्योकि अलोक को भी सर्वज्ञ देखता है। इस प्रश्न का समाधान यह है कि लोकसज्ञा रूप है, व्युत्पत्ति मात्र निमित्त है अथवा यह समाधान भी होता है कि "जहाँ वैठ कर सर्वज्ञ देखे वह लोक" ऐसी व्युत्पत्ति करने मे भी कोई दोष नही है। क्योकि अलोक मे वैठकर तो केवली लोक को देखता नही है।[3]

आकाश उत्पन्न नही होता, अत खरविषाण की तरह उसका अभाव है। इसका समाधान यह है कि आकाश को अनुत्पन्न कहना असिद्ध है क्योकि द्रव्यार्थिक की गौणता और पर्यायार्थिक की मुख्यता होने पर अगुरुलघु गुणो की वृद्धि और हानि के निमित्त से स्वप्रत्यय उत्पाद-व्यय और अवगाहन जीवपुद्गलो के परिणमन के अनुसार पर प्रत्यय आकाश मे उत्पाद व्यय होते रहते है। जैसे कि अतिम समय मे असर्वज्ञता का विनाश हो कर किसी मनुष्य को सर्वज्ञता उत्पन्न हुई तो जो आकाश पहले अनुपलभ्य था वही वाद मे उपलभ्य हो गया। अत आकाश भी अनुपलभ्यत्वेन विनष्ट हो कर उपलभ्यत्वेन उत्पन्न हुआ। इस तरह उसमे पर प्रत्यय भी उत्पाद विनाश करते रहते है।[4]

---

1 त रा वा ५ [illegible]

2 त रा वा ५/१२ १०-१४ [illegible]

3 त रा वा ५/१२ [illegible]

4 त रा वा ५/१८ १० [illegible]

**काल द्रव्य** –जैन दर्शन षड् द्रव्य मानता है। काल चौथा अजीव द्रव्य है जिसका विवेचन यहाँ हम करने जा रहे है।

जैन दर्शन के श्वेताबर दिगबर दोनो ही परम्पराओ ने काल द्रव्य को स्वीकार तो किया है, परतु काल द्रव्य की स्वतत्रता पर मतभेद है।

जैन दर्शन मे दो प्रकार की विचारधारा काल के सबध मे पायी जाती है –

(1) काल को स्वतत्र द्रव्य मानने वाली और

(2) दूसरी विचारधारा काल को स्वतत्र नही मानने वाली।

इन दो विचारधाराओ के बावजूद इसमे सभी एकमत है कि काल द्रव्य अवश्य है।

प्रथम विचारधारा के समर्थक कुदकुदाचार्य, पूज्यपाद, अकलक, विद्यानदी, नेमीचन्द्र एव आगमो मे भगवती और उत्तराध्ययन है एव द्वितीय विचारधारा के समर्थक ठाणाग, जीवाभिगम, आचार्यो मे उमास्वाति, सिद्धसेन दिवाकर, जिनभद्रगणि आदि है। अब इन दोनो विचारधाराओ का एव काल के स्वरूप का हम विवेचन करेगे।

ठाणाग के टिप्पण के[1] अनुसार काल वास्तविक द्रव्य नही है, वह औपचारिक द्रव्य है। वस्तुत वह जीव और अजीव का पर्याय है। इसलिये उसे जीव और अजीव दोनो कहा है।[2]

पचास्तिकाय मे कुदकुदाचार्य ने काल की दूसरी विचारधारा को ही पुष्ट किया है। काल परिणाम से उत्पन्न होता है और परिणाम द्रव्यकाल से उत्पन्न होता है। काल क्षणभगुर भी है और नित्य भी।[3]

इसे अमृतचद्राचार्य ने विशेष स्पष्ट किया है। व्यवहार काल जीव और पुद्गल के द्वारा स्पष्ट होता है और निश्चयकाल जीव पुद्गलो के परिणाम की अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा (जीव और पुद्गल के परिणाम अन्यथा नही बन सकते इसलिये) निश्चित होता है।

---

1 ठाणाग टिप्पण न 122 पृ 140

2 ठाणाग 2 387

3 पचास्तिकाय वृत्ति 100

काल नित्य और क्षणिक क्यो और कैसे है? इसे भी कुदकुदाचार्य ने स्पष्ट किया है। "काल" यह कथन सद्भाव का प्रेरक है, अत नित्य है। (यह निश्चयकाल की अपेक्षा से है।) उत्पन्नध्वसी व्यवहारकाल (यद्यपि क्षणिक है फिर भी) प्रवाह अपेक्षा से दीर्घ स्थिति युक्त भी कहा जाता है।[1]"

कुदकुदाचार्य ने अगले श्लोक मे धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव की तरह काल को भी द्रव्य तो माना है, परतु काय नही।[2] आचार्य उमास्वाति ने यद्यपि अजीव द्रव्यो के अन्तर्गत काल को नही गिनाया था, पर आगे जाकर उन्होने सूत्र मे 'च' शब्द का प्रयोग करते हुए काल को भी द्रव्य के रूप मे मान्यता दे दी[3]। प्रवचनसार मे कुदकुद ने स्पष्ट किया है कि एक समय मे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य काल मे सदा पाये जाते है। अत कालाणु का अपना स्वतत्र अस्तित्व है।[4]

भाष्यकार अकलक ने इसे "द्रव्य क्यो है?" इसका कारण भी बता दिया है। "उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त सत्" और "गुणपर्यायवत् द्रव्य" इन लक्षणो से युक्त होने से आकाश आदि की तरह काल भी द्रव्य है। काल मे ध्रौव्य तो स्वप्रत्यय है ही क्योकि वह स्वभाव मे सदा व्यवस्थित रहता है। व्यय और उत्पाद अगुरुलघुगुणो की हानि वृद्धि की अपेक्षा स्वप्रत्यय है तथा पर द्रव्यो मे वर्तना हेतु होने से पर प्रत्यय भी है। काल मे अचेतनत्व, अमूर्तत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व आदि साधारण गुण और वर्तनाहेतुत्व असाधारण गुण पाये जाते है। व्यय और उत्पाद रूप पर्याये भी काल मे बराबर होती रहती है, अत वह द्रव्य है।[5]

यहाँ एक अन्य प्रश्न और होता है कि अगर काल द्रव्य है तो उसे धर्म और अधर्म आदि के साथ क्यो नही स्पष्ट किया? पूज्यपाद ने इसका समाधान इस प्रकार दिया है - "अगर वहाँ काल द्रव्य का कथन करते तो इसे काययुक्त मानना पडता और कालद्रव्य मे मुख्य अथवा उपचार दोनो रूप मे प्रदेशप्रचय की कल्पना का अभाव है। धर्मादि को मुख्यरूप से प्रदेशप्रचय कहा है और अणु को उपचार से। परन्तु काल मे दोनो नही है अत काल काय नही है।

1 प सा 101

2 प सा 102

3 त सू 5 16

4 प्रवचनसार 143

5 त रा वा [illegible]

दूसरा समाधान यह है कि "निष्क्रियाणि च"[1] इस सूत्र द्वारा धर्म से लेकर आकाश तक के द्रव्य को निष्क्रिय कहने पर जैसे अवशिष्ट बचे जीव और पुद्गल को स्वत सक्रियत्व प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार काल भी सक्रिय बनता।

आकाश से पहले भी काल को नही रख सकते। "आकाश तक एक द्रव्य है"[2] इस सूत्र के अनुसार अगर काल को आकाश से पहले रखते तो काल भी एक द्रव्य होता। इन सभी दोषो से बचने के लिए काल का अलग से ग्रहण किया गया है।[3]

**काल का लक्षणः**–उत्तराध्ययन मे काल का लक्षण वर्तना बताया गया है।[4]

तत्वार्थसूत्र मे उमास्वाति ने काल के लक्षण वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व माने है।[5]

**वर्तना क्या है:**–"प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक पर्याय मे प्रति समय जो स्वसत्ता की अनुभूति करता है, उसे वर्तना कहते है। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का अनुभव करता है। धर्मादि द्रव्य अपनी अनादि या आदिमान पर्यायो मे उत्पाद व्ययध्रौव्यरूपसे परिणत होते रहते है। यही स्वसत्तानुभूत वर्तना है। सादृश्योपचार से प्रतिक्षण वर्तना ऐसा अनुगत व्यवहार होने से यद्यपि वह एक कही जाती है, पर वस्तुत प्रत्येक द्रव्य की अपनी-अपनी वर्तना अलग होती है।[6]

वर्तना का अनुमान हम इस प्रकार से लगा सकते है। जैसे चावल को पकाने के लिए बर्तन मे डाला, वह आधा घण्टे मे पक गया तो यह नही समझना चाहिये कि 29 मिनिट तो वह ज्यो का त्यो रहा, मात्र अन्तिम समय मे पक कर भात बन गया। उसमे प्रथम समय से ही सूक्ष्मरूप से पाकक्रिया प्रारभ थी, यदि प्रथम समय मे पाक न हुआ होता तो दूसरे तीसरे क्षणो मे सभव ही नही हो सकता था और इस तरह पाक का अभाव हो जाता।[7]

1 त सू 5-7

2 त सू 5 6

3 स सि. 5 39 602

4 उत्तराध्ययन सूत्र 28 10

5 "वर्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य" त सू 5 22

6 त रा वा 5 22 4 477

7 त रा वा 5 22 5 477

यह वर्तना लक्षण युक्त काल परमार्थ काल है।[1]

द्रव्य की पर्याय बदलती है और उसे बदलाने वाला काल है। अगर ऐसा है तो काल क्रियावान् द्रव्य हो जाता है, जैसे शिष्य पढता है, उपाध्याय पढाते है, यहाँ उपाध्याय क्रियावान् द्रव्य है। पूज्यपाद इन आशका का समाधान करते हुए कहते है - यह कोई दोष नही है क्योकि निमित्त मात्र मे हेतुकर्त्ता रूप कथन (व्यपदेश) देखा जाता है "जैसे कडे को अग्नि पकाती है" यहाँ कडे की अग्नि निमित्तमात्र है, उसी प्रकार काल भी हेतुकर्त्ता है।[2]

**परिणाम क्या है.**–द्रव्य मे अपनी स्वद्रव्यत्व जाति को नही छोडते हुए जो स्वाभाविक या प्रायोगिक परिवर्तन होता है, उसे परिणाम कहते है। द्रव्यत्व जाति यद्यपि द्रव्य से भिन्न नही है, फिर भी द्रव्यार्थिक की अविवक्षा और पर्यायार्थिक की प्रधानता मे उसका व्यवहार पृथक् हो जाता है। परिणाम का तात्पर्य यही है कि अपनी मौलिक सत्ता को न छोडते हुए पूर्वपर्याय का विनाश और उत्तरपर्याय का उत्पन्न होना ही परिणमन है।

परिणाम दो प्रकार का होता है-एक अनादि, दूसरा आदिमान। लोक की रचना, सुमेरु पर्वत आदि के आकार अनादि परिणाम है। आदिमान परिणाम दो प्रकार का है-एक प्रयोगजन्य और दूसरा स्वाभाविक। चेतन द्रव्य के औपशमिकादि भाव जो मात्र कर्मो के उपशम आदि की अपेक्षा से होते है, जिनमे पुरुषप्रयत्न की आवश्यकता नही होती, वे स्वाभाविक परिणाम कहलाते है। ज्ञान, शील, भावना आदि गुरु के उपदेश से होते है। अत ये प्रयोगज परिणाम है और मिट्टी आदि मे कुम्हार द्वारा होने वाला अचेतन परिणमन प्रयोगज अचेतन परिणमन है। इन्द्रधनुष आदि परिणमन स्वभाविक अचेतन परिणमन है।[3]

**क्रिया क्या है**–बाह्य और आभ्यतर निमित्तो से द्रव्य मे होने वाला परिस्पदात्मक परिणमन क्रिया है। वह दो प्रकार की है - प्रायोगिक और स्वाभाविक। बैलगाडी आदि मे प्रायोगिक तथा बादल आदि मे स्वाभाविक क्रिया होती है।[4]

---

1 परमार्थकालो वर्तनालक्षण स सि [illegible]

2 स सि 5 22 ५६०

3 त वा [illegible] 10 [illegible]

4 त वा [illegible] तथा स सि [illegible]

**परत्व तथा अपरत्वः**—परत्व और अपरत्व क्षेत्रकृत भी है और गुणकृत भी। परत्व का तात्पर्य दूरवर्ती एव अपर का समीपवर्ती कहा जाता है। (क्षेत्र की अपेक्षा) अहिंसा आदि प्रशस्त गुणो के कारण धर्म पर, अधर्म अपर कहा जाता है (गुणकृत की अपेक्षा से) कालकृत भी पर अपर होता है। जैसे सौ साल का वृद्ध पर और सोलह साल का युवक अपर है।[1]

इन तीन परत्वापरत्व मे से कालकृत परत्वापरत्व ही लिया जाना चाहिये।[2]

तर्क भाषा मे भी परत्वापरत्व की चर्चा उपलब्ध होती है। इसमे परत्व और अपरत्व को दो प्रकार से माना गया है - कालिक परत्व और कालिक अपरत्व तथा देशिक परत्व और देशिक अपरत्व। कालिक अर्थात् समय से सबध रखने वाला तथा देशिक अर्थात् स्थान से सबध रखने वाला। जैसे आयु का बडप्पन काल का द्योतक होता है, अत कालिक परत्व कहा जाता है। आयु मे छोटेपन को कालिक अपरत्व कहा जाता है। इसी तरह देशिक परत्व तथा देशिक अपरत्व को समझा जा सकता है।

**परिणाम के सबध मे कुछ तर्कः**—कुछ शकाकार यहाँ परिणाम जो कि काल का दूसरा लक्षण है, उसे लेकर प्रश्न करते है कि बीज अकुर मे है या नही? यदि है तो वह अकुर नही कहा जा सकता, यदि नही है तो यह मानना होगा कि बीज अकुर रूप से परिणत नही हुआ क्योकि उसमे बीज स्वभावता नही है। इस प्रकार अस्तित्व-नास्तित्व दोनो पक्ष मे दोष आयेगे।

अकलक इसका समाधान करते है कि कथचित् अस्तित्व नास्तित्व मे दोषो का आगमन सभव नही है। सद् असद् वाद नरसिंह की तरह जात्यतर रूप है। इसे शालिबीजादि के उदाहरण द्वारा और भी स्पष्ट किया है। जैसे शालीबीजादि द्रव्यार्थिक दृष्टि से अकुर मे बीज है, यदि उसका सपूर्णत विनाश हो गया होता तो शालि का अकुर क्यो कहलाता? शालिबीज और शाल्यकुर रूप पर्यायार्थिक दृष्टि से अकुर मे बीज नही है क्योकि बीज का यदि परिणमन नही हुआ होता तो अकुर कहाँ से आता?

बीज अकुर से भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तो वह बीज का परिणमन नही कहा जा सकता। अगर अभिन्न है तो उसे अकुर नही कह

---

1 रा वा 5 22 22.481

2 "कालोपकारप्रकरणात् कालकृतेऽत्र परत्वा परत्वे गृह्येते" त रा वा 5 22 22 481

सकते। कहा भी है-यदि वीज स्वय परिणत हुआ है तो अकुर वीज मे भिन्न नही हो सकता, परतु ऐसा नही है। अगर भिन्न है तो उसे अकुर नही कह सकते इस प्रकार परिणाम नही वनता।[1]

इसका समाधान तत्वार्थवार्तिक मे इस प्रकार उपलब्ध होता है - इसका समाधान भी स्याद्वाद मे प्राप्त हो जाता है कि अकुर की उत्पत्ति के पहले वीज मे अकुर पर्याय नही थी, वाद मे उत्पन्न हुई। अत पर्याय की दृष्टि से अकुर बीज से भिन्न है और चूँकि शालिवीज की जातिवाला ही अकुर उत्पन्न हुआ है, अन्य नही, अत द्रव्य की दृष्टि से अभिन्न भी।

परिणाम माना जा सकता है, परतु परिणाम मे वृद्धि नही मानी जा सकती। यदि बीज अकुर रूप से परिणत होता है तो दूध के परिणाम दही की तरह अकुर को बीजमात्र ही होना चाहिये बडा नही। कहा भी है- यदि बीज अकुरपने को प्राप्त होता है तो छोटे बीज से वडा अकुर कैसे वन सकेगा? यदि पार्थिव और जलीय रस से अकुर की वृद्धि कही जाती है तो कहना होगा कि वह बीज का परिणाम नही होगा। पार्थिव और जलीय तथा अन्य रस द्रव्यो के सचय से वृद्धि की कल्पना भी ठीक नही है। जैसे लाख के लपेटने मे भी काष्ठ मोटा अवश्य हो जाता है, पर बढ़ता नही है, लाख ही बढ़ती है, उसी तरह यदि बीज रहता है और रस बढ़ते है तो फिर बीज क्या करते है। इस बीज वृद्धि का समाधान यह है कि जैसे मनुष्यायु और नाम कर्म के उदय से उत्पन्न बालक बाह्यसूर्यप्रकाश और माँ के दूध आदि को अपनी भीतरी पाचनशक्ति मे पचाता हुआ आहारादि द्वारा बढ़ता है उसी प्रकार वनस्पति भी आयु और नाम कर्म के उदय से बीजाश्रित जीव अकुररूप मे उत्पन्न हो कर भी पार्थिव और जलीय रसभाग को खीचता हुआ बाह्यसूर्यप्रकाश और आतरिक पाचनशक्ति के अनुसार उन्हे जीर्ण करता हुआ अपने स्वाद के अनुसार बढ़ता है।

परिणमन सबधी वृद्धि दोष भी एकातवादियो मे आता है। अनेकात वाद मे अकुरादि सभी द्रव्यदृष्टि से नित्य है, परतु पर्यायदृष्टि से अनित्य।[2]

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि जब परिणमन और वर्तना दोनो ही

1 [illegible] पृ 189 [illegible] पृ 164 [illegible]।

2 त रा वा 5 22 11 478

3 त रा वा 5 22 15 [illegible]

परिवर्तन को ही सूचित करते है तो उन्हे अलग-अलग मानने की क्या तुक है?

### वर्तना और परिणाम मे अन्तर

(1) वर्तना और परिणाम यद्यपि परिवर्तन को ही सूचित करते है फिर भी इनमे सूक्ष्मता और स्थूलता का अतर है। वर्तना सूक्ष्मता को इगित करती है और परिणमन स्थूलता को, जैसे बालक से युवक।

(2) वर्तना और परिणाम मे प्रमाण का भी अतर है। वर्तना को प्रत्यक्ष प्रमाण से नही जान सकते बल्कि उसका अनुमान करना पडता है, जबकि परिणाम को हम प्रत्यक्ष प्रमाण से जान सकते है। मिट्टी का घट के रूप मे परिणमन परिणाम है।

गति और स्थिति क्रिया का जब परिणाम मे अन्तर्भाव होता है तो परिस्पदात्मक क्रिया भी उसी के अतर्गत आ सकती है। ऐसे मे मात्र परिणाम का निर्देश करना चाहिये। क्रिया की अलग से क्या आवश्यकता है?

इसका समाधान तत्वार्थ वार्तिक मे इस प्रकार दिया है कि परिस्पदात्मक और अपरिस्पदात्मक दोनो प्रकार के भावो की सूचना के लिये क्रिया का पृथक् ग्रहण करना आवश्यक है। परिस्पद क्रिया है और अन्य परिणाम।[1]

वर्तना आदि द्वारा काल का अनुमान होता है। काल का लक्षण यही बताया है कि जिससे मूर्तद्रव्यो का उपचय और अपचय लक्षित होते है वह काल है।[2]

### काल अखड प्रदेशी नहीं है:–

काल आकाश की तरह अखड और एकप्रदेशी नही है क्योकि एक पुद्गल परमाणु एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश पर जाता है और इसमे जो समय लगता है, अगर गहराई मे जाकर देखे तो यह समय ही कालद्रव्य की पर्याय है। यह अतिसूक्ष्म होने से निरश भी है। यदि कालद्रव्य को लोकाकाश के बराबर अखड और एक माना जाता है तो इस अखड समय पर्याय की निष्पत्ति नही होती, क्योकि पुद्गल परमाणु जब एक कालाणु को छोड कर

---

1 त रा वा 5 22 20, 21 481

2 "येन मूर्तानामुपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते स काल" रा वा 5 23 पृ 481 (उदधृत)

दूसरे कालाणु के प्रति गमन करता है, तब वहाँ दोनो कालाणु पृथक्-पृथक् होने से समय का भेद बन जाता है और यदि एक अखड लोक के बराबर कालद्रव्य हों तो समय पर्याय की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है।

यदि यह तर्क दिया जाय कि कालद्रव्य लोकप्रमाण असख्यात प्रदेशी है, उसके एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश के प्रति जाने पर समय पर्याय की सिद्धि हो जायेगी? इसका समाधान यह है कि एक अखड द्रव्य के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश मे जाने पर समय पर्याय का भेद नही बनता। अत समय पर्याय मे भेद सिद्ध करने के लिए काल द्रव्य को अणुरूप मे स्वीकार किया गया है।[1]

काल दो प्रकार का है-व्यवहार काल और निश्चय काल। हम व्यवहार के स्वरूप भेद और प्रभेद को प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते है, परन्तु निश्चय काल की प्रकृति व्यवहारकाल द्वारा ही अनुमानित की जाती है। उसकी प्रकृति स्वरूप सब कुछ इन्द्रियातीत है। एक-एक समय का समुच्चय आवलि, पल आदि काल का जो व्यवहार है, वह व्यवहारकाल है, इसे समय पर्याय भी कह सकते है। यह समय पर्याय ही निश्चय काल ज्ञान कराती है।

यहाँ एक यह भी तर्क दिया जा सकता है कि कालाणु को न मानकर मात्र समयपर्याय रूप वृत्ति ही स्वीकार करे तो क्या कठिनाई है? इसका समाधान अमृतचद्राचार्य ने यह दिया है कि मात्र वृत्ति (समयरूप परिणति) काल नही हो सकती क्योकि वृत्ति वृत्तिमान के बिना नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि वृत्तिमान के बिना भी वृत्ति हो सकती है तो यह प्रश्न होगा कि वृत्ति तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की एकता स्वरूप होनी चाहिये। अकेली वृत्ति उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की एकतारूप कैसे हो सकती है? अथवा यह कहा जाय कि अनादि अनत अनतर (परस्पर अतर हुए बिना एक के बाद एक प्रवर्तमान) अनेक अशो के कारण एकात्मता होती है इसलिये पूर्व-पूर्व के अशो का नाश होता है और उत्तर-उत्तर अशो का उत्पाद होता है तथा एकात्मकता रूप ध्रौव्य रहता है, इस प्रकार अकेली वृत्ति भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की एकतास्वरूप हो सकती है, परन्तु ऐसा सभव नही है।

---

1 स सि 5.39 पृ 241 [illegible]

जिस अश मे नाश है और जिस अश मे उत्पाद है वे दो अश एक साथ प्रवृत नही हो सकते। अत उत्पाद, व्यय का ऐक्य सभव नही है तथा नष्ट अश के सर्वथा समाप्त होने पर और उत्पन्न होने वाले अश का अपने स्वरूप को प्राप्त न होने से नाश और उत्पाद की एकता मे प्रवर्तमान ध्रौव्य कहाँ से आयेगा? ऐसा होने पर त्रिलक्षणात्मकता नही रहेगी।

अत इन दूषणो के परिहार के लिये वृत्तिमान स्वीकार करना अनिवार्य है और वह वृत्तिमान प्रदेश ही है क्योकि जो अप्रदेश, है उनमे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नही हो सकता।[1]

अत हमे काल को एक प्रदेशी के रूप मे तो स्वीकार करना ही है क्योकि प्रदेश रहित द्रव्य तो शून्य होता है।[2]

**काल अनत समययुक्त है:**—काल को अनतसमय युक्त बताया है।[3] काल अनतसमय वाला किस अपेक्षा से है इसे पूज्यपाद ने इस प्रकार स्पष्ट किया है - वर्तमान काल तो यद्यपि एक समय वाला है, परतु अतीत और अनागत तो अनत समय वाला है। अत अतीत और अनागत की अपेक्षा काल अनत समययुक्त और वर्तमान की अपेक्षा एक समययुक्त है।[4]

**काल के प्रकार:**—काल के भेद की चर्चा भगवती सूत्र मे इस प्रकार उपलब्ध होती है। जब भगवान से यह प्रश्न पूछा कि काल कितने प्रकार का है? सुदर्शन की इस शका का भगवान ने काल के निम्न के चार भेद बताते हुए समाधान किया-

(1) प्रमाण काल

(2) यथायुर्निवृत्ति काल,

(3) मरणकाल

(4) और अद्धाकाल[5]

---

1 प्र सा ता पृ 144

2 प्र सा 144

3 त सू 5 40

4 स सि 5 40 604

5 भगवती 11 11 77

(1) **प्रमाण काल क्या है** इसे स्पष्ट करते हुए भगवन् ने कहा-प्रमाण काल दो प्रकार का है, दिवस प्रमाणकाल और रात्रिप्रमाणकाल।[1]

जिससे रात्रि, दिवस, वर्ष, शतवर्ष आदि का प्रमाण जाना जाय, उसे प्रमाणकाल कहते है।

(2) **यथायुर्निवृत्तिकाल**-आत्मा ने जिस प्रकार की आयु का बध बाधा है उसी प्रकार उसका पालन करना, भोगना, यथायुर्निवृत्ति काल है।

(3) **मरणकाल**-शरीर का जीव से या जीव का शरीर से वियुक्त होना, अलग होना मरणकाल है।

(4) **अद्धाकाल**-अनेक प्रकार का है। सूर्यचन्द्र आदि की गति से सबध रखने वाला अद्धाकाल है।

काल का मुख्य रूप अद्धाकाल है, शेष तीनो इसके विशिष्ट रूप है। अद्धाकाल व्यावहारिक है। वह मनुष्य लोक मे ही होता, और इसलिये मनुष्य लोक को समय क्षेत्र कहा जाता है। निश्चय काल जीव अजीव का पर्याय है, वह लोकालोक व्यापी है, उसके विभाग नही होते। समय से लेकर पुद्गल परावर्त तक के जितने विभाग है, वे सब अद्धाकाल के है। समय उसे कहते है जो अविभाज्य है।[2] इसको कमलपत्रो के भेदन एव वस्त्र विदारण द्वारा स्पष्ट समझा जा सकता है-

(क) एक दूसरे मे सटे हुए सौ कमल के पत्तो को कोई बलवान् व्यक्ति सुई से छेद देता है, तब ऐसा ही लगता है कि सब पत्ते एक साथ छिद गये, परतु वास्तव मे ऐसा नही होता कि सब पत्ते एक साथ छिद गये। जिस समय पहला पत्ता छेदा गया, उस समय दूसरा नही। सभी अलग-अलग समय मे ही छेदे जाते है और यह क्रमश होता है।

(ख) एक कलाकुशल युवा और बलिष्ठ जुलाहा जीर्ण शीर्ण वस्त्र या साडी को शीघ्र ही फाड देता है और इतनी शीघ्र यह क्रिया होती है कि ऐसा लगता है कि एक ही समय मे सारा वस्त्र फट गया, परन्तु ऐसा होता नही। वस्त्र अनेक ततुओ से बनता है, जब तक ऊपर के तन्तु नही फटते, तब तक नीचे के तन्तु नही फटते। अत यह निश्चित है कि वस्त्र फटने मे काल भेद होता है।

---

1 भगवती ११।११।[illegible]

2 भगवती ११।११।[illegible]

जिस अश मे नाश है और जिस अश मे उत्पाद है वे दो अश एक साथ प्रवृत नही हो सकते। अत उत्पाद, व्यय का ऐक्य सभव नही है तथा नष्ट अश के सर्वथा समाप्त होने पर और उत्पन्न होने वाले अश का अपने स्वरूप को प्राप्त न होने से नाश और उत्पाद की एकता मे प्रवर्तमान ध्रौव्य कहाँ से आयेगा? ऐसा होने पर त्रिलक्षणात्मकता नही रहेगी।

अत इन दूषणो के परिहार के लिये वृत्तिमान स्वीकार करना अनिवार्य है और वह वृत्तिमान प्रदेश ही है क्योकि जो अप्रदेश, है उनमे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नही हो सकता।[1]

अत हमे काल को एक प्रदेशी के रूप मे तो स्वीकार करना ही है क्योकि प्रदेश रहित द्रव्य तो शून्य होता है।[2]

**काल अनत समययुक्त है:**—काल को अनतसमय युक्त बताया है।[3] काल अनंतसमय वाला किस अपेक्षा से है इसे पूज्यपाद ने इस प्रकार स्पष्ट किया है - वर्तमान काल तो यद्यपि एक समय वाला है, परतु अतीत और अनागत तो अनत समय वाला है। अत अतीत और अनागत की अपेक्षा काल अनत समययुक्त और वर्तमान की अपेक्षा एक समययुक्त है।[4]

**काल के प्रकार:**—काल के भेद की चर्चा भगवती सूत्र मे इस प्रकार उपलब्ध होती है। जब भगवान से यह प्रश्न पूछा कि काल कितने प्रकार का है? सुदर्शन की इस शका का भगवान ने काल के निम्न के चार भेद बताते हुए समाधान किया-

(1) प्रमाण काल

(2) यथायुर्निवृत्ति काल,

(3) मरणकाल

(4) और अद्धाकाल[5]

---

1 प्र सा ता पृ 144

2 प्र सा 144

3 त सू 5 40

4 स सि 5 40 604

5 भगवती 11 11 77

(1) **प्रमाण काल क्या है** इसे स्पष्ट करते हुए भगवन् ने कहा-प्रमाण काल दो प्रकार का है, दिवस प्रमाणकाल और रात्रिप्रमाणकाल।[1]

जिससे रात्रि, दिवस, वर्ष, शतवर्ष आदि का प्रमाण जाना जाय, उसे प्रमाणकाल कहते है।

(2) **यथायुर्निवृत्तिकाल**-आत्मा ने जिस प्रकार की आयु का बध बाधा है उसी प्रकार उसका पालन करना, भोगना, यथायुर्निवृत्ति काल है।

(3) **मरणकाल**-शरीर का जीव से या जीव का शरीर से वियुक्त होना, अलग होना मरणकाल है।

(4) **अद्धाकाल**-अनेक प्रकार का है। सूर्यचन्द्र आदि की गति से सबध रखने वाला अद्धाकाल है।

काल का मुख्य रूप अद्धाकाल है, शेष तीनो इसके विशिष्ट रूप है। अद्धाकाल व्यावहारिक है। वह मनुष्य लोक मे ही होता, और इसलिये मनुष्य लोक को समय क्षेत्र कहा जाता है। निश्चय काल जीव अजीव का पर्याय है, वह लोकालोक व्यापी है, उसके विभाग नही होते। समय से लेकर पुद्गल परावर्त तक के जितने विभाग है, वे सब अद्धाकाल के है। समय उसे कहते है जो अविभाज्य है।[2] इसको कमलपत्रो के भेदन एव वस्त्र विदारण द्वारा स्पष्ट समझा जा सकता है-

(क) एक दूसरे से सटे हुए सौ कमल के पत्तो को कोई बलवान् व्यक्ति सुई से छेद देता है, तब ऐसा ही लगता है कि सब पत्ते एक साथ छिद गये, परतु वास्तव मे ऐसा नही होता कि सब पत्ते एक साथ छिद गये। जिस समय पहला पत्ता छेदा गया, उस समय दूसरा नही। सभी अलग-अलग समय मे ही छेदे जाते हैं और यह क्रमश होता है।

(ख) एक कलाकुशल युवा और बलिष्ठ जुलाहा जीर्ण शीर्ण वस्त्र या साडी को शीघ्र ही फाड देता है और इतनी शीघ्र यह क्रिया होती है कि ऐसा लगता है कि एक ही ममय मे सारा वम्त्र फट गया, परतु ऐसा होता नही। वस्त्र अनेक ततुओ से बनता है, जब तक ऊपर के ततु नही फटते, तब तक नीचे के ततु नही फटते। अत यह निश्चित है कि वम्त्र फटने मे काल भेद होता है।

---

1 भगवती 11 117,8

2 भगवती 11 11 46

वस्त्र अनेक ततुओ का बना होता है। प्रत्येक ततु मे अनेक रोए होते है। उसमे भी ऊपर का रोया पहले छिदता है, तब कही उसके नीचे का रोया छिदता है। अनत परमाणुओ के मिलन का नाम सघात है। अनत सघातो का एक समुदाय और अनत समुदायो की एक समिति होती है और ऐसी अनत समितियो के सगठन से ततु के ऊपर का एक रोया बनता है। इन सबका छेदन क्रमश होता है। ततु के पहले रोये के छेदन मे जितना समय लगता है, उसका अत्यत सूक्ष्म अश यानी असख्यातवा भाग समय कहलाता है।

**काल का उपकार:**—पदार्थों मे चाहे वे सजीव हो या निर्जीव हो परिवर्तन काल के कारण ही सभव है। वह काल सूक्ष्म भी हो सकता है, स्थूल भी। परतु इसका तात्पर्य यह नही कि यह किसी पदार्थ मे मजबूरन परिवर्तन लाता है। क्रिया मात्र काल के कारण ही सभव है।[1]

परिवर्तन दो प्रकार का होता है- क्षेत्रात्मक और भावात्मक। क्षेत्रात्मक परिवर्तन कभी-कभी और कही-कही सभव होता है, परन्तु भावात्मक परिवर्तन सर्वत्र और सदैव रहता है। क्षेत्रात्मक परिवर्तन किसी-किसी पदार्थ मे होता है। परतु भावात्मक परिवर्तन सदा पदार्थो मे होता है। चाहे वह मूर्तिक हो या अमूर्तिक।[2]

भावात्मक परिवर्तन दो प्रकार का होता है-सूक्ष्म तथा स्थूल। सूक्ष्म परिवर्तन वह है जो प्रतिपल पदार्थों मे होता है, स्थूल परिवर्तन प्रतीति मे आ जाता है। हम इन्द्रियज्ञान से स्थूल परिवर्तन देख सकते है। परतु इससे यह नही समझे कि सूक्ष्म परिवर्तन होता ही नही। सूक्ष्म के अभाव मे स्थूल परिवर्तन सभव नही है। स्थूल परिवर्तन जीव और पुद्गल मे ही होता है, परतु सूक्ष्म परिवर्तन तो छहो द्रव्यो मे पाया जाता है। क्योकि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त ही द्रव्य हो सकता है। सूक्ष्म तथा स्थूल दोनो प्रकार के परिवर्तन मे काल ही उपकारी या सहायक है।[3]

**क्रिया मे सहायक काल है**—जितनी भी क्रियाएँ होती है, वे सारी काल के कारण ही सभव है।[4] अगर काल न हो तो हमारी गतिक्रिया या रेल

---

1 भगवती अ वृत्ति पृ 535

2 धवला 4 1 5 1 7 317

3 पदार्थ विज्ञान- ले जिनेन्द्रवर्णी पृ 196 97

4 जैनेन्द्र सिद्धातकोष पृ 83

की पटरी या आयुसबधी किसी प्रकार का अनुक्रम नही बन सकेगा। यहाँ ये एक प्रश्न हो सकता है कि आकाश प्रदेश से द्रव्यो मे वर्तना होती है? (जैसे सुई का काटा एक स्थान से आगे बढता हुआ दूसरे काटे तक पहुँचता है और दोनो काटो के बीच जो दूरी है वह आकाश है।) तो काल को क्रिया का हेतु मानने की क्या आवश्यकता है? अकलक समाधान देते है कि ऐसा नही है क्योकि पकाने के लिए बर्तन आधार है, परतु अग्नि होना भी तो अनिवार्य है अन्यथा पाक क्रिया कैसे सभव होगी? उसी प्रकार आकाश वर्तना वाले द्रव्यो का आधार तो हो सकता है, परतु वर्तना की उत्पत्ति मे सहायक तो काल ही होगा।[1]

पचास्तिकाय की वृत्ति मे भी यही शका उठायी गयी कि सूर्य की गतिक्रिया आदि मे धर्म द्रव्य सहकारी कारण है, काल की क्या आवश्यकता है, परतु यह सभव नही लगता क्योकि गति परिणति के धर्म द्रव्य तथा काल दोनो सहकारी कारण होते है और सहकारी कारण तो बहुत सारे होते है जैसे-घट की उत्पत्ति मे कुम्हार, चक्र आदि कई सहकारी कारण है। इसी प्रकार काल द्रव्य भी सहकारी है।[2]

**व्यवहार के भेद.**—काल दो प्रकार का माना है- एक निश्चयकाल और दूसरा व्यवहार काल। समय, निमेष, काष्ठा, कला, घडी, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन और वर्ष ऐसा जो काल है, वह व्यवहार काल है, इसे पराश्रित काल भी कहते है।[3]

नियमसार मे इसी व्यवहार काल की अपेक्षा से दो भेद बताये है और तीन भी। समय और आवलि के भेद से व्यवहार काल के दो भेद होते है। अतीत, अनागत और वर्तमान की अपेक्षा से तीन प्रकार होते है।[4]

व्यवहार की परिभाषा तात्पर्य वृत्ति मे स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते है "एक आकाश प्रदेश मे जो परमाणु स्थित हो, उसे दूसरा परमाणु मदगति से लाघे उतना काल" वह समयरूप व्यवहार काल है।[5]

---

1 त रा वा 5 228 477

2 प का ता वृ 25

3 प का 25

4 नि सा 31

5 नि सा ता 31 एव प्र सा त प्र 139

अविभाज्य है और काल द्रव्य की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्याय है। समय
और नष्ट भी। जैसे आकाश द्रव्य के भाग करना सभव नही
भी निरश है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जब पुद्गल परमाणु शीघ्र गति द्वारा एक समय मे लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है, तब वह चौदह राज तक आकाश प्रदेशो मे श्रेणीबद्ध जितने कालाणु है, उन सबको स्पर्श करता है। अत असख्य कालाणुओ को स्पर्श करने से समय के असख्य अश होने चाहिये। इसका समाधान यह है कि कोई परमाणु एक समय मे असख्य कालाणुओ का उल्लघन करके, लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है, यह परमाणु के विशेष प्रकार के परिमाण के कारण ही है। इससे समय के असख्य अश नही होते। जैसे अनत परमाणु का कोई स्कध आकाश के एक प्रदेश मे समाकर परिमाण मे एक परमाणु जितना ही होता है, यह परमाणुओ के विशेष प्रकार के अवगाह के कारण है।[1] गोम्मटसार के जीवकाण्ड मे भी समय की यही व्याख्या दी है। सपूर्ण द्रव्यो के पर्याय की जघन्य स्थिति एक क्षणमात्र की होती है। दो परमाणुओ के अतिक्रमण करने के काल का जितना प्रमाण है, उसको समय कहते है।[2]

सूर्यगति निमित्तक व्यवहारकाल मनुष्य क्षेत्र मे ही चलता है, क्योकि लोक के ज्योतिर्देव गतिशील होते है और बाहर के ज्योतिर्देव अवस्थित है।[3]

धवला मे भी इसी बात की पुष्टि होती है कि त्रिकालगोचर अनतपर्यायो से परिपूरित एक मात्र मनुष्य क्षेत्र सबधी सूर्यमण्डल मे ही काल है अर्थात् काल का आधार मनुष्य क्षेत्र सबधी सूर्यमण्डल है।[4]

**निश्चय काल का लक्षण:**—काल पाँच वर्ण, पाँच रस रहित, दो गध और आठ स्पर्श रहित, अगुरुलघु अमूर्त और वर्तन लक्षण वाला है।[5] जो निश्चय काल है, वही परिणमन करने मे कारण होता है।[6]

1 प्रवचनसार ता वृत्ति 139
2 गोम्मटसार जीवकाण्ड 172
3 गोम्मटसार जीवकाण्ड 577
4 धवला 4 151 320 5
5 पचास्तिकाय 24
6 न च वृत्ति 135

परिवर्तन रूप कोई भी कार्य बिना कारण हो नही सकता। इसलिये कोई न कोई सत्ताभूत पदार्थ इसका कारण होना चाहिये, यह सत्ताभूत पदार्थ ही निश्चयकाल है।

**व्यवहार और निश्चय काल मे अतर** –मुख्य काल के अस्तित्व की सूचना देने के लिये स्थिति से पृथक् काल का ग्रहण किया गया है। व्यवहार काल पर्याय और पर्यायो की अवधि का परिच्छेद करता है।[1] व्यवहार काल जीव और पुद्गल के परिणमन का आधार होता है और निश्चयकाल अणुरूप और इन्द्रियानुभवातीत है।

**कालचक्र की अवधारणा**'—जैन दर्शन मे कालचक्र की अवधारणा दो भागो मे विभक्त करके की है। एक नीचे से ऊपर अर्थात् दु ख से सुख की ओर जाने वाला और दूसरा ऊपर से नीचे आनेवाला अर्थात् सुख से दु ख की ओर आने वाला। जैसे गाडी का पहिया घूमता है अर्थात् पहिये का नीचे वाला भाग ऊपर आता है और पुन नीचे जहाँ से चला था वहाँ पहुँच जाता है, इसी प्रकार काल का पहिया भी बराबर घूमता रहता है। सुख से दु ख की दिशा मे जाने वाला अवसर्पिणी और दु ख से सुख की दिशा मे जानेवाला भाग उत्सर्पिणी काल कहलाता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी यह दोनो मिलकर पूरा एक काल चक्र बन जाता है। इसे युग भी कहते है।[2]

उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी दोनो ही को छह भागो मे विभक्त करके पूरे काल को 12 विभागो मे विभाजित किया गया है। उत्सर्पिणी काल क्रमश ऊपर की ओर बढ़ता है अत दुखमा-दुखमा, दुखमा, दुखमा-सुखमा, सुखमा-दुखमा, सुखमा, सुखमा-सुखमा। अवसर्पिणी काल ठीक इसके विपरीत चलता है। सुखमा-सुखमा, सुखमा, सुखमा दुखमा, दुखमा सुखमा, दुखमा और दु खमा दु खमा।[3]

वर्तमान मे अवसर्पिणी का पाँचवा भाग चल रहा है अर्थात् उत्तरोत्तर नैतिक तथा आध्यात्मिक शाति की हानि होती जा रही है।

**काल के ज्ञान की आवश्यकता** '—काल हमारे जीवन का महत्वपूर्ण अग है।

---

1 त रा वा 1 8 20 43

2 ठाणाग 2 74

3 ठाणाग 6 23,24

हम मौत को भी काल कहते है,[1] जो वास्तव मे व्यावहारिक काल है। प्रत्येक पदार्थ काल के आश्रित है। परिवर्तन या क्रिया जो कुछ भी होती है और जिसके कारण सृष्टि का सौदर्य और सतुलन है, वह सारा काल का ही उपकार है।

**वैशेषिक दर्शन मे काल.**—वैशेषिक नौ द्रव्य मानते है, जिसमे काल भी एक द्रव्य के रूप मे स्वीकार किया गया है।[2] काल को वैशेषिक आकाश की तरह सर्वव्यापक मानते है[3] तथा प्रत्यक्ष का विषय नही मानते। काल को ये भी उत्पन्न सभी पदार्थो के साधन रूप कारण मानते है।[4]

प्रकृति मे होने वाला मूर्त परिवर्तन जैसे वस्तु की उत्पत्ति, विनाश, स्थिरता के लिये भी काल का होना अनिवार्य है। यह वह शक्ति है जो अनित्य पदार्थो मे परिवर्तन लाती है। यह समस्त गति की आवश्यक अवस्था है।[5] काल स्वतत्र यथार्थ सत्ता माना गया है जो ममस्त विश्व मे व्यापक है और वस्तुओ की गति को व्यवस्थित बनाता हैं। भिन्न-भिन्न समय मे होने के सबधो और शीघ्र अथवा विलब के भावो का आधार काल ही है।[6] काल एक ही है जो विस्तार मे सर्वत्र उपस्थित है। यह काल नित्य एक द्रव्य है और समस्त वस्तुओ का आधार है।[7]

जैन दर्शन काल को एक और सर्वव्यापी नही मानते हुए असख्यात और अणुरूप मानते है।[8] काल मे भी अनेकातवाद सिद्धात निश्चय नय की दृष्टि से एक है एव व्यवहार नय की दृष्टि से कालाणु असख्यात द्रव्य है।[9]

**साख्य और कालः**—साख्य मे तो मात्र दो तत्वो की ही स्वीकृति है। वे तो इसके अतिरिक्त तीसरा द्रव्य मानते ही नही है। काल इनमे स्वतत्र द्रव्य नही है।[10]

इस प्रकार से हम देखते है कि कोई भी क्रिया काल के अभाव मे

---

1 भारतीय दर्शन भाग 1 डा राधाकृष्णन पृ 291
2 भारतीय दर्शन भाग 1 डा राधाकृष्णन पृ 187
3 भारतीय दर्शक भाग 1 डा राधाकृष्णन पृ 187,88
4 प्रशस्तपाद कृत पदार्थ धर्मसग्रह पृ 25
5 वैशेषिक सूत्र 2 2 6
6 वैशेषिक सूत्र 2 2 6
7 अतीतादिव्यवहारहेतु तर्कसग्रह 15
8 द्रव्य सग्रह 22
9 लघु द्रव्य सग्रह 12
10 साख्य तत्व कौमुदी 33 पृ 209

सिद्ध नही की जा सकती। प्रत्येक दर्शन काल को सैद्धातिक रूप से स्वीकृति दें या नही दे, परतु व्यवहार के माध्यम से तो उसे स्वीकार करना ही होगा, क्योकि नया, पुराना, बच्चा, जवान आदि समस्त काल के ही उदाहरण है। काल की यह विशेषता है कि परिणामी होने पर भी दूसरे द्रव्य रूप मे स्वय परिणत नही होता और न दूसरे द्रव्यो का अपने स्वरूप अथवा भिन्न द्रव्य स्वरूप मे परिणमन लाता है, परतु अपने स्वभाव से ही अपने-अपने योग्य परिणामो से परिणत होने वाले द्रव्यो के परिणमन मे यह काल द्रव्य उदासीनता पूर्वक स्वय बाह्य सहकारी निमित्त बन जाता है। इस प्रकार काल के आश्रय से प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने पर्यायो से परिणत होता है।[1]

आधुनिक विज्ञान ने भी परिणमन मे उदासीन सहयोगी काल के इस तथ्य को मान्यता दे दी है। आइन्सटीन ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि - देश और काल भी घटनाओ मे भाग लेते है।[2]

प्रसिद्ध वैज्ञानिक जिन्स का कथन है कि हमारे दृश्य जगत की सारी क्रियाए मात्र फोटोन और द्रव्य अथवा भूत की क्रियाएँ है तथा इन क्रियाओ का एक मात्र मच देश और काल है। इसी देश और काल ने दीवार बनकर हमे घेर रखा है।[3]

आज के विज्ञान युग मे समय की सूक्ष्मता आश्चर्यजनक नही लगती। इसका व्यावहारिक उदाहरण टेलीफोन द्वारा भी समझा जा सकता है। कल्पना करे, दो हजार किलोमीटर दूर बैठे हुए किसी व्यक्ति से हम टेलीफोन पर बात कर रहे है। हमारी ध्वनि विद्युत् तरगो मे परिणत होकर तार के सहारे चल कर दूरस्थ व्यक्ति तक पहुँचती है और उसकी ध्वनि हम तक। इसमे जो समय लगा वह इतना कम है कि हमे उसका अनुभव नही हो रहा है और ऐसा लगता है मानो कुछ भी समय नही लगा हो और हम उस व्यक्ति के सामने बैठकर ही बात कर रहे हो। चार हजार मील तार को पार करने मे तरग को लगा समय भले ही आपको प्रतीत न हो रहा हो फिर भी समय तो लगा ही है। कारण कि वह तरग एकदम ही वहाँ नही पहुँची है बल्कि एक-एक मीटर और मिली मीटर को क्रमश पारकर के आगे बढ़ती

---

1 गोम्मटसार जीवकाड 569-70

2 स्वाध्याय शिक्षा अगस्त 1989 पृ 55

3 स्वाध्याय शिक्षा - अगस्त 1989 पृ 55

हुई वहाँ पहुँची है। अब हम अनुमान लगाये कि उस तरग को टेलीफोन के तार के एक मीटर या मिलीमीटर को पार करने मे कितना समय लगा होगा? हम सपूर्णत अनुमान लगा सके या नही, परतु तरग को एक मिलीमीटर तार पार करने मे समय तो लगा ही है। जैन दर्शन मे वर्णित समय इससे भी असख्यात गुणा अधिक सूक्ष्म है।

इस प्रकार काल सबधी चर्चा मे हमने देखा कि यद्यपि जैन दार्शनिको मे काल के सबध मे दो मत चलते है- एक मत काल को स्वतत्र द्रव्य मानने वाला और दूसरा काल को स्वतत्र द्रव्य नही मानने वाला, फिर भी ये दोनो विरोधी नही है।

भगवती,[1] उत्तराध्ययन,[2] प्रज्ञापना[3] आदि मे काल सबधी ये दोनो मान्यताए है। आचार्य उमास्वाति,[4] जिनभद्रगणि,[5] हरिभद्रसूरि[6] आदि ने भी दोनो ही मत स्वीकार किये है।

उपरोक्त दोनो मत परस्पर अविरोधी है क्योकि सापेक्ष है। निश्चय नय से उसे जीव और अजीव की पर्याय मात्र मानने से ही सभी व्यवहार सम्पन्न हो सकते है। व्यवहार दृष्टि से ही उसे स्वतत्र और पृथक् द्रव्य माना है।

**पुद्‌गलास्तिकायः**–अब हम चौथे अध्याय के अतिम उपभेद पुद्‌गलास्तिकाय की चर्चा करेगे।

पुद्‌गल क्या है और उसका स्वरूप क्या है? इसका विस्तृत विवेचन हम यहाँ करने का प्रयास करेगे। षड्द्रव्यो मे से एक पुद्‌गल ही ऐसा है जो रूपी या मूर्त है। ससार भ्रमण का मुख्य कारण शुद्धस्वरुपी आत्मा की पुद्‌गल से सगति होना है। विज्ञान ने पुद्‌गल को 'मेटर' कहकर ऊर्जा का मूल स्रोत स्वीकार किया है।

इस लोक मे मुख्य दो ही पदार्थ है जिनके द्वारा यह सृष्टि निर्मित है- जीव और पुद्‌गल। अवशिष्ट ये चारो धर्म, अधर्म आकाश और काल, सहयोग

---

1 भगवती 25 4 734
2 उत्तराध्ययन 28 7 8
3 प्रज्ञापना 1 3
4 तत्वार्थसूत्र 5 38,39 पर सिद्धसेन की भाष्य व्याख्या
5 विशेषावश्यकभाष्य 926 एव 2068
6 धर्मसग्रहणी गाथा 32 की मलयगिरि टीका

मात्र देने वाले उदासीन उपकारी होते है- "पुद्गल" यह जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है।

पुद्गल एक विचित्र सा शब्द लगता है। पृथ्वी, अग्नि, वायु, कीडे, मकोडे आदि सभी जो दृश्य है, वह पुद्गल है। यद्यपि पुद्गल के अनेको भेद है पर जैनदर्शन ने उसे षट्काय मे विभक्त कर दिया है। यो तो ये जीव के भेद कहलाते है पर इनका विभाजन काय या इन्द्रिय की अपेक्षा होता है और काय तथा इन्द्रियाँ पुद्गल है। जब तक इनके साथ जीव है तब तक जीवो के शरीर कहलाते है और जीव का वियोग होते ही ये पुद्गल कहलाते है। अनत काल से जीव और पुद्गल क्षीर नीर की तरह रहने पर भी पुद्गल जीव नही बना या जीव पुद्गल के रूप मे परिवर्तित नही हुआ।

**पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति और लक्षण:**–यह पुद्गल शब्द रूप नही, परतु व्युत्पत्तिक है। जिस प्रकार से भा को करने वाला भास्कर कहलाता है, उसी तरह जो भेद सघात से पूरण और गलन को प्राप्त हो वे पुद्गल है।[1] यह शब्द पृषोदरादि गण से निष्पन्न होता है। परमाणुओ मे भी शक्ति की अपेक्षा गलन और पूरण है तथा प्रतिक्षण अगुरुलघुगुण कृत गुणपरिणमन गुणवृद्धि और गुणहानि होती रहती है। अत उनमे भी पूरण और गलन व्यवहार मानने मे कोई आपत्ति नही है अथवा यह भी हो सकता है कि जीव शरीर, आहार, विषय और इन्द्रिय उपकरण आदि के रूप मे निगले/ग्रहण करे, वे पुद्गल है। परमाणु भी स्कध दशा मे जीवो द्वारा ही निगले जाते है।[2] यह पुद्गल दो शब्दो के मेल से बना है। यह शब्द इस प्रकार से निष्पन्न हुआ है– 'पूरणात् पुत् गलयतीति गलपूरण-गलानान्वर्थ सज्ञत्वात् पुद्गला " अर्थात् पूर्ण स्वभाव से पुत् और गलन स्वभाव से गल, इन दो अवयवो के मेल से पुद्गल शब्द बना है यानि पूरण और गलन को प्राप्त होने से पुद्गल का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है जुडना, टूटना और पुन जुडना। "गलनपूरणस्वभावसनाथ पुद्गल "[3] अर्थात जो गलन-पूरण स्वभाव सहित है। (पृथक् होने और एकत्रित होने के स्वभाव वाला है) वह पुद्गल है।

इससे तीन बाते स्पष्ट हुई।

1 भगवती 8 10 361

2 त रा वा 5 1 24-26, 434

3 नियमसार वृत्ति 9 एव बृहद् द्रव्य संग्रह वृत्ति 15

(1) पुद्गल गलन और पूरण स्वभाव वाला होता है।

(2) भेद और सघात के अनुसार जिसमे पूरण गलन क्रिया अन्तर्भूत होती है।

(3) जीव जिन्हे शरीर, आहार विषय और इन्द्रिय उपकरणादि के रूप मे निगलता है या ग्रहण करता है वे पुद्गल है।

जैन दर्शन मे छहद्रव्यो की प्ररुपणा है। उन षड्द्रव्यो मे पाँच' द्रव्य तो अरुपी और अमूर्त है, परतु पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जो मूर्तिक/रुपी है।[1]

यह पुद्गल पाँचवर्ण, पाँचरस, दो गध, आठस्पर्श रुपी, अजीव शाश्वत, अवस्थित तथा लोक का एक अशभूत द्रव्य है।[2]

**पुद्गल के भेदः**—पुद्गल दो प्रकार के होते है। परमाणु पुद्गल और नो परमाणु पुद्गल[3] (स्कध)।

**परमाणु के लक्षण**—स्कध का अतिम भाग अविभागी, एक शाश्वत मूर्तरूप से उत्पन्न होने वाला और अशब्द है।[4]

भगवती सूत्र मे भी परमाणु की व्याख्या इस प्रकार से बतायी है। एक वर्ण, एक रस, एक गध और दो स्पर्श वाला परमाणु पुद्गल कहा गया है। एक वर्ण वाला या तो लाल, पीला, काला, नीला या सफेद होगा। एक गध मे या तो सुगध होती है या दुर्गन्ध। यदि एक रस हो तो या तो तीखा या कडवा या कसैला या खट्टा या मीठा। दो स्पर्श मे शीत-स्निग्ध या शीत-रुक्ष या उष्ण-स्निग्ध या उष्ण-रुक्ष होगा। (अर्थात् स्पर्श दो होगे और वे विरोधी होंगे।)[5]

महावीर ने हजारो वर्षो पूर्व ही परमाणु के सबध मे तलस्पर्शी समाधान दे दिये थे। आज वैज्ञानिक अणु के अन्वेषण करने मे जुटे हुए है, किन्तु अणु के मबध मे जिस सूक्ष्मता मे महावीर ने विवेचन किया, आज के वैज्ञानिक वहाँ तक नही पहुँच पाये है। आज के वैज्ञानिक जिसे अणु कहते है, महावीर उमे स्कध कहते है। महावीर की दृष्टि मे परमाणु इन्द्रियातीत है। वह स्कध

---

1 "रुपिण पुद्गला" त सू 5 4

2 ठाणाग 5 174

3 ठाणाग 2 228

4 पचस्तिकाय 77

5 भगवती 20 5 1

से भिन्न निरश तत्व है। परमाणु पुद्गल अविभाज्य, अच्छेद्य, अभेद्य एव अदाह्य है।[1] ऐसा कोई उपचार या उपाधि नही, जिससे उसका उपचार किया जा सके।[1]

परमाणु का वही आदि, वही मध्य और वही अत है।[2] कहा भी है- **"अन्तादि अन्तमज्झ, अतन्त णेव इदिए गेज्झ। ज दव्व अविभागी त परमाणु विजाणीहि।"**[3]

ये इन्द्रियग्राह्य नही होते। परमाणु मात्र कारण ही नही, कार्य भी है क्योकि वह स्कधो के भेद पूर्वक उत्पन्न होता है। परमाणु मे स्नेह आदि गुण उत्पन्न और विनष्ट होते रहते है। अत कथचित् वह अनित्य भी है। भगवती सूत्र मे गौतम स्वामी ने प्रश्न किया-क्या यह एक प्रदेशी परमाणु कापता है? परमात्मा ने स्याद्वाद के अन्तर्गत इसका समाधान स्याद्वाद की भाषा मे दिया- वह कापता भी है और नही भी।[4]

अगला प्रश्न पूछा—क्या परमाणु तलवार की धार या उस्तरे की धार पर अवगाहन करके रह सकता है? भगवान ने कहा-वह अवगाहन करके रह सकता है।[5]

अब हमे यह जिज्ञासा हो सकती है कि उपरोक्त लक्षणो से युक्त परमाणु पुद्गल कितने समय तक रहता है। भगवान ने फरमाया कि परमाणु पुद्गल जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट असख्य काल तक रहता है।[6]

अगर वास्तव मे देखा जाय तो मूल पदार्थ तो परमाणु ही है। यह परमाणु स्वतत्र है। यह न तो तोडा जा सकता है, न देखा जा सकता है। इसकी लबाई, चौडाई, मोटाई नही है, परतु इसका अर्थ यह नही कि परमाणु निराकार है क्योकि निराकार तो गुणधारण नही कर सकता। आकारवान् पदार्थ ही गुणो को धारण करते है और गुणो के समूह को धारण करने के कारण ही द्रव्य माना जाता है।

अब अगर यह प्रश्न हो कि वह आकार कैसा है तो इसका जवाब यही दिया जा सकता है कि यह परमाणु स्वय ही अपना आकार है। यही उसकी

1 भगवती 5 7 3(2)
2 भगवती 5 7 10(1) एव त सू 5 25
3 त रा वा 4 5 25 पृष्ठ 491 से उद्धृत।
4 भगवती 5 7 3(11)
5 भगवती 5 7 3 (1)
6 भगवती 5 7 14(1)

लबाई, चौडाई और मोटाई है।

परमाणु अत्यत सूक्ष्म होते है यद्यपि वे इन्द्रियो से जाने जा सकते है, परतु देखे नही जा सकते, परतु वे मूर्तिक है क्योकि मूर्तिक का इन्द्रियो के माध्यम से देखना, यह तो मात्र समझाने के लिये लक्षण किया गया है। वास्तविक नही।

**परमाणु का स्वभाव चतुष्टयः**—परमाणु चार प्रकार के होते है। द्रव्य परमाणु, क्षेत्र परमाणु, काल परमाणु और भाव परमाणु।

द्रव्य परमाणु चार प्रकार का होता है जैसे-अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अग्राह्य। क्षेत्र परमाणु भी चार प्रकार का होता है-अनर्द्ध, अमर्ध्य, अप्रदेश और अविभाज्य। काल परमाणु भी चार प्रकार का होता है-अवर्ण, अगध, अरस और अस्पर्श। भाव परमाणु भी चार प्रकार का होता है-वर्णवान्, गधवान्, रसवान, स्पर्शवान।[1]

**पुद्गल के लक्षणः**—तत्वार्थ सूत्र मे उमास्वाति ने पुद्गल का लक्षण स्पर्श रस, गध और वर्ण युक्त किया है।[2]

उत्तराध्ययन सूत्र मे पुद्‌गल को पाँच लक्षण युक्त कहा है-वर्ण, गध, रस, स्पर्श और सस्थान।[3]

**वर्ण.**—वर्ण पाँच प्रकार का होता है-काला, नीला, लाल, पीला, और सफेद।[4]

**गधः**—गध दो प्रकार की होती है। सुगध और दुर्गंध।[5]

**रसः**—रस (स्वाद) पाँच प्रकार का होता है- तीखा, कडवा, कसैला खट्टा और मीठा।[6]

**स्पर्श**—स्पर्श आठ प्रकार का होता है- कठोर, कोमल, हल्का, भारी, ठडा, गरम, चिकना और रूखा।[7]

---

1 भगवती 20 5 16-19

2 त सू 5 23 एव द्रव्य प्रकाश 2 4

3 उत्तराध्ययन 36 15

4 उत्तराध्ययन 36 16

5 उत्तराध्ययन 36 17

6 उत्तराध्ययन 36 18

7 उत्तराध्ययन 36 19 20

**सस्थानः**–(आकार) सस्थान पाँच प्रकार का होता है। परिमण्डल सस्थान वृत (गोल) सस्थान, त्रयस सस्थान, समचतुस्र (चौरस) सस्थान और आयत (लबे) सस्थान।[1]

इन वर्ण, गध, रस, स्पर्श और सस्थान से युक्त ही पुद्गल हो सकता है। ऐसा नही कि एक भौतिक पदार्थ मे वह गुण है, दूसरे मे नही।

वैशेषिक दर्शन की मान्यता ठीक इसके विपरीत है। वैशेषिक नौ द्रव्य मानते है। इन नौ द्रव्यो के अपने-अपने गुण है।

रूप, रस, गध तथा स्पर्श गुण से युक्त जल रूप तथा उष्ण स्पर्ष गुण से युक्त अग्नि और स्पर्श गुण से युक्त वायु है, [2] परतु जैन दर्शन की यह मान्यता नही है। तर्क से भी इस बात की सिद्धि हो सकती है। प्रत्येक पदार्थ मे चारो ही गुण पाये जाते है, चाहे वह पृथ्वी हो या जल। यदि ऐसा नही होता तो पृथ्वी को विज्ञान द्वारा जल बना दिये जाने पर उसमे से गध गुण कहाँ जाता है और जल को पृथ्वी बनाने पर उसमे जल गुण कहाँ मे आता है। क्योकि यह तो निर्विवाद है कि किसी मे किसी प्रकार का गुणोत्पाद नही किया जा सकता। अत प्रत्येक पुद्गल स्कध मे चारो गुण मानने ही होगे।

वास्तव मे कोई भी पुद्गल ऐसा नही है जो रूप, रस, गध और स्पर्श रहित हो। यह अलग बात है कि कोई गुण किसी मे व्यक्त है किसी मे अव्यक्त।

यह विवेचन दो नय की अपेक्षा से चलता है। भगवती सूत्र मे गुड और भ्रमर के उदाहरण द्वारा यह विवेचन स्पष्ट किया गया है। व्यवहार दृष्टि मे गुड मीठा है, परतु निश्चय नय की दृष्टि मे गुड पाँच वर्ण, दो गध, पाँच रस और आठ स्पर्श वाला होता है। भ्रमर काला है, तोते की पाँख हरी है, मजीठ लाल है, हल्दी पीली है, शख सफेद है और पटवास (कपडे मे सुगध देने वाली पत्ती) सुगधित है। लाश दुर्गध युक्त है, नीम कडवा है, सूठ तीखी है, कपिठ कसैला है, इमली खट्टी है आदि, परतु यह व्यक्त गुण है और व्यवहार दृष्टि से है, परतु निश्चय दृष्टि से तो पाँचो वर्ण, दो गध, पाँच रस, आठ स्पर्श सबमे होते ही है।[3]

---

1 उत्तराध्ययन 36 21

2 भारतीय दर्शन भाग 2 डॉ राधाकृष्णन पृ 204

3 भगवती 18 6 1 5

**पुद्गल के भेदः**–पुद्गल के चार भेद होते है या इसे यो भी कह सकते है कि पुद्गल के भेद सघात की क्रिया चार प्रकार से होती है- स्कध, स्कधदेश, प्रदेश और परमाणु।[1]

(1) **स्कध.**–अनेक परमाणुओ के पिण्ड को स्कध कहते है।

(2) **स्कधदेश.**–स्कध के किसी कल्पित भाग को स्कधदेश कहते है।

(3) **प्रदेशः**–स्कध के निरश अश (अविभाज्य अश को) को प्रदेश कहते है।

(4) **परमाणु.**–स्कध से पृथक् हुए निरश भाग को परमाणु कहते है।[2]

इन चार भेदो मे मुख्य भेद तो स्कध और परमाणु ही है।[3] इन स्कध और परमाणु की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है। इन स्कधो की उत्पत्ति तीन प्रकार से बतायी गयी है- भेद से, सघात से तथा भेद और सघात दोनो से।[4]

**भेद** –अतरग और बहिरग इन दोनो प्रकार के निमित्तो से सहत स्कधो के विदारण को भेद कहते है।

**सघात.**–भिन्न-भिन्न हुए पदार्थो के बध होकर एक हो जाने को सघात कहते है।

**भेद सघात** –दो परमाणुओ के स्कध से दो प्रदेशवाला स्कध उत्पन्न होता है। दो प्रदेशवाले स्कध और अणु के सघात से या तीन अणुओ के सघात से तीन प्रदेशवाला स्कध उत्पन्न होता है। इस प्रकार सख्यात, असख्यात, अनतानत अणुओ के सघात से उतने-उतने प्रदेशो वाले स्कध उत्पन्न होते रहते है। इन्ही सख्यात आदि परमाणुवाले स्कधो के भेद से दो प्रदेशवाले स्कध तक होते है। इस प्रकार एक समय मे होने वाले भेद और सघात इन दोनो से दो प्रदेश वाले आदि स्कध होते रहते है। तात्पर्य यह है कि जब अन्य स्कध मे भेद होता है और अन्य का सघात तब एक साथ भेद और सघात इन दोनो से स्कध की उत्पत्ति होती है।[5]

---

1 उत्तराध्ययन 36 10 एव पचास्तिकाय 74
2 पचास्तिकाय 75
3 त सू 5 25 एव भगवती 2 10 11
4 त सू 5 26
5 स सि 5 26 576

अणु या परमाणु की उत्पत्ति तो विभाजन से ही या भेद से ही होती है।[1] जो चाक्षुष है वे भेद सघात से उत्पन्न होते है और अचाक्षुष है वे सघात से, भेद से और सघातभेद तीनो से उत्पन्न होते है।[2] चाक्षुष का अर्थ है– चक्षुरिन्द्रिय का विषय।

**सूक्ष्म और बादर** –पुद्‌गल के सूक्ष्म और बादर की अपेक्षा दो भेद होते है।[3] साधारणत बडा कहते है स्थूल को तथा सूक्ष्म कहते है छोटे को, परतु यह मामान्य अवस्था के अर्थ है, अन्यथा कई बार ऐसा होता है कि बडा पदार्थ मूक्ष्म हो सकता है और छोटा स्थूल, जैसे खसखस (पोस्ता) का दाना छोटा है और जल की बूद बडी, परतु पानी वस्त्र से पार हो जाता है और दाना नही। वायु शीशे मे से पार नही होती पर प्रकाश पार हो सकता है। अत एक दूसरे मे से पार करने की शक्ति को ध्यान मे रखकर सूक्ष्म और म्थूल का विश्लेषण करना चाहिये।

जो पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ को न रोक सके, न किसी से स्वय रूके अथवा एक दूसरे मे समाकर रह सके या एक दूसरे से पार हो जाय उमे सूक्ष्म कहते है तथा जो पदार्थ दूसरे को रोके अथवा दूसरे से रूक जाय और एक दूसरे मे न समा सके, वह स्थूल कहलाता है।

इसमे भी तारतम्य होता है। कोई पदार्थ पूर्णत सूक्ष्म है तो कोई कम स्थूल है। जो किसी से भी किसी प्रकार न रूके, वह पूर्ण सूक्ष्म है। जो हर पदार्थ से रूके वह पूर्ण स्थूल है।

अग्रेजी भाषा मे सूक्ष्मता और स्थूलता का अनुमान लगाने के लिये इन्हे तीन विभागो मे विभाजित किया है जैसे Positive degree, Comparative degree and superlative degree [4]

**पुद्‌गुल के पर्याय.**–शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया एव आतप ये सभी पुद्‌गल की पर्याय हैं।[5]

तत्वार्थ सूत्र के अनुसार शब्द, बध, सूक्ष्म, स्थूल, सस्थान, भेद, अधकार,

1 त सू 5 27

2 त सू 5 28

3 ठाणांग 2 229

4 जैन दर्शन मे पदार्थ विज्ञान ले जिनेन्द्रवर्णी पृ 155

5 द्रव्य प्रकाश 2010 एव उत्तराध्ययन 28 12

छाया, तप एव प्रकाश ये पुद्गल की पर्याय है।[1] द्रव्य का परिणमन पर्याय है। इन उपरोक्त पर्यायो मे पुद्गल ही परिणत होता है।

**शब्दः**—जो अर्थो को कहता है वह शब्द है। शब्द का प्रयोग 'ध्वनि' अर्थ मे हुआ है। शब्द दो प्रकार के होते है-(क) भाषात्मक (ख) अभाषात्मक। भाषात्मक शब्द (अ) अक्षर और (आ) अनक्षर के भेद से दो प्रकार का है। अक्षरकृत शब्दो से शास्त्र की अभिव्यक्ति होती है। यह आर्य और म्लेच्छ आदि जाति के मनुष्यो के व्यवहार का माध्यम बनती है। अनक्षरात्मक शब्द बेइन्द्रिय आदि के जीवो के होते है। अनक्षरात्मक शब्द के भी (1) प्रायोगिक (2) स्वाभाविक दो भेद होते है।

**अप्रायोगिक शब्द** भी चार प्रकार का होता है-

**तत**-पुष्कर, भेरी, तबला, ढोलक आदि मे चमडे के तनाव से शब्द जो होते है वे तत है।

**विततः**—वीणा, सुघोष, आदि से जो शब्द होता है वह वितत है।

**घन.**—ताल, घटा आदि घन वस्तुओ के अभिघात से जो शब्द उत्पन्न होता है वह घन है।

**सौषिर.**—बासुरी, शख आदि मे निकलने वाला शब्द सौषिर है।[2]

(आ) **स्वाभाविक**—मेघ आदि के निमित्त से जो शब्द उत्पन्न होते है वे स्वाभाविक या वैस्रसिक है।[3]

जैन दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जिसने शब्दादि को पुद्गल की पर्याय के रूप मे स्वीकार किया है। वैशेषिक आदि शब्द को आकाश का गुण मानते है, परतु जैन शब्द को पुद्गल की पर्याय विशेष मानकर उमे नित्यानित्य मानते है। शब्द पुद्गल द्रव्य की दृष्टि से नित्य और श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा सुनने योग्य पर्यायसामान्य की दृष्टि से कालान्तर स्थायी है और प्रतिक्षण की पर्याय की अपेक्षा क्षणिक है।[4]

---

1 त सू 5 24

2 त रा वा 5 24 2/485 एव ठाणाग 2 212-217

3 त रा वा 5 24 572

4 त रा वा 5 24 5 887

जैन दर्शन की शब्द विषयक मान्यता को पुष्ट करते हुए प्रो ए चक्रवर्ती ने लिखा है–

"The Jain account of sound is a Physical concept All other Indian Systems spoke of sound as a auality of space But explains in relation with material particals as avesult of concision of atmospheric molecules To prove this the jain thinkers employed arguments which are now generally found in text book of Physics "

अन्य सब भारतीय विचारधाराए शब्द को आकाश का गुण मानती है जबकि जैन दर्शन उसे पुद्गल मानता है। जैन दर्शन की इस विलक्षण मान्यता को विज्ञान ने प्रमाणित कर दिया।

**ध्वनि के विविध प्रयोग**–आज के युग मे ध्वनि के प्रयोग होने लग गये है। उच्च श्रवणोत्तर ध्वनि का उपयोग घडी को बिना खोले उसके कल पुर्ज़े साफ करने मे किया जाता है। धातु के बने पुर्जे के दाते काटने तथा जोडने (वेल्डिग) मे भी इसका उपयोग होता है। इसका चिकित्सालय मे विशेष उपयोग होता है। क्योकि वस्त्र व औजार साफ होने के साथ-साथ इससे जीवाणु भी नष्ट हो जाते है। कपडे धोने मे भी इसका उपयोग हो सकता है। धोने योग्य वस्त्रो को जल मे डालकर जल मे श्रवणोत्तर ध्वनि प्रवेश करवाई जाती है। उस बुलबुलाहट से रासायनिक परिवर्तन द्वारा हाइड्रोजन पर आक्साइड पैदा हो जाता है जो उसके मैले रग को साफ कर देता है।

चिकित्सा क्षेत्र मे भी इसका उपयोग है। पथरी के रोगी को एक टेबल पर सुलाकर पथरी की ओर एक ध्वनि फैकी जाती है। उस ध्वनि से मास मे कोई परिवर्तन नही होता और पथरी टूट-टूट कर पेशाब द्वारा बाहर आ जाती है। मोतिया बिंद का इलाज भी इससे सभव है। धातु की बनी एक बारीक नली की नोक से ध्वनि आँख मे लेस जिसे मोतियाँ बिंद कहते है उस पर फैकी जाती है उससे वह मोतिया बिंद तरल पदार्थ मे रुपातरित हो जाता है और तरल पदार्थ को नली के खोखले मार्ग से बाहर खीच लिया जाता है।

अपराधियो को पकडने मे ध्वनि कैमरा पर्याप्त सहयोगी बनता है। ध्वनि कैमरे मे ध्वनि का चित्राकन किया जाता है। अगुलियो की छाप की तरह ध्वनि छाप भी प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न होती है। जैसे अगुलियो की छाप अपराधियो को पकडने मे सहायक बनती है वैसे ही यह ध्वनि छाप भी उपयोगी बनती है।

इसी प्रकार इलेक्ट्रोनिक सगीत मे भी विशिष्ट उपयोग है। इलेक्ट्रोनिक सगीत यत्र मे एक ऐसा छानक यत्र होता है जो ध्वनि की अनावश्यक तीव्रता उतार चढाव आदि को छान कर अलग कर देता है। इस यत्र मे सश्लेषक (सिंपेसाइजर) का भी प्रयोग होता है। इसके द्वारा प्राकृतिक ध्वनियो को कृत्रिम रूप से तैयार किया जाता है।

इस प्रकार के वैज्ञानिक प्रयोगो द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि शब्द पुद्गल है। शब्द की गति के विषय मे पन्नवणा मे विचार किया गया है।

"हे गौतम! जो भाषा भिन्न रूप मे नि सृत या प्रसारित होती है, वह अनतगुणी वृद्धि को प्राप्त होती हुई लोक के अतिम भाग को स्पर्श करती है अर्थात् व्याप्त होकर ससार के पार तक पहुँच जाती है और जो भाषा अभिन्न रूप मे नि सृत होती है, वह सख्यात योजन जाकर नाश को प्राप्त होती है तथा असख्यात योजन जाकर भेद को प्राप्त होती है।"[1]

इससे यह स्पष्ट होता है कि भाषा के दो रूप है—एक अभिन्न रूप और दूसरा भिन्न रूप। अभिन्न रूप भाषा के मूल रूप का द्योतक होता है तथा भिन्न रूप भाषा मूल मे परिवर्तित होकर रूपातरित होने का सूचक है।

**शब्दोत्पत्ति के कारण.**—दो कारणो से शब्द की उत्पत्ति होती है। पहला कारण है— जब पुद्गल सहति को प्राप्त हो तब, जैसे घडी का शब्द एव दूसरा कारण है- जब पुद्गल भेद को प्राप्त हो तब जैसे बास के फटने का शब्द।[2]

**बध.**—जो बधे या जिसके द्वारा बाधा जाय वह बध है।[3] बध के दो भेद है -

(1) प्रायोगिक

(2) स्वाभाविक

**(1) प्रायोगिक:**—जो प्रयोग जन्य है, जिसमे मन वचन काया का पुरुषार्थ हो। यह प्रायोगिक बध भी दो प्रकार का है-(अ) अजीवविषयक (आ) जीव और अजीव विषयक।

1 पन्नवणा 11 41

2 ठाणाग 2 220

3 त रा वा 5 24 1 485

**अजीव विषयक बध.**–लाख और काठ आदि का बध अजीवविषयक बध है।

**जीव और अजीव विषयक बध.**–कर्म और नो कर्म बध जीव और अजीव विषयक बध है। कर्मबध ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार का है, नो कर्मबध औदारिकादि शरीर विषयक है।[1]

**स्वाभाविक बधः**–यह भी दो प्रकार का होता है-(1) आदिमान (2) अनादिमान

**आदिमान बध.**–स्निग्ध रुक्ष गुणो के निमित्त से बिजली, उल्का, जलधारा, इन्द्रधनुष आदि रूप पुद्गल बध आदिमान है।

**अनादिमान बध**–यह नव प्रकार का है-धर्मास्तिकाय बध, धर्मास्तिकाय देश बध, धर्मास्तिकाय प्रदेश बध, अधर्मास्तिकाय बध, अधर्मास्तिकाय देश बध, अधर्मास्तिकाय प्रदेश बध, आकाशास्तिकाय बध, आकाशास्तिकाय देश बध, आकाशास्तिकाय प्रदेश बध।[2]

**बध की प्रक्रियाः**–तत्वार्थ सूत्र मे उमास्वाति ने बध को भी पुद्गल पर्याय बताया और साथ ही बध की प्रक्रिया को भी स्पष्ट किया। बध क्यो और कैसे होता है? उमास्वाति ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि स्निग्ध (स्नेह) और रूक्षता के कारण ही बध होता है।[3]

स्निग्धता और रुक्षता को अकलक ने समझाते हुए स्पष्ट किया कि बाह्य और आभ्यतर कारणो से स्नेह पर्याय की प्रकटता से जो चिकनापन है, वह स्नेह है उसके विपरीत रुक्षता है। दो स्निग्ध और रुक्ष परमाणुओ मे बध होने पर द्वयणुक स्कध होता है। स्नेह और रुक्ष इन दोनो के अनत भेद है। अविभाग परिच्छेद एक गुणवाला स्नेह सर्वजघन्य है प्रथम है। इसी तरह दो तीन चार सख्यात असख्यात और अनतगुण स्नेह रूक्ष के विकल्प है। जैसे जल से बकरी के दूध/घी मे, बकरी के दूध से गाय के दूध और घी मे अधिक स्निग्धता है। उसी तरह क्रमश धूल से प्रकृष्ट रुखापन तुषखड मे और उससे भी प्रकृष्ट रुक्षता रेत मे पायी जाती है। इसी तरह परमाणुओ मे भी स्निग्धता और रुक्षता के प्रकर्ष और अपकर्ष का अनुमान होता है,[4]।

1 त रा वा 5 24 9 487

2 त रा वा 5 24 7 487

3 त मू 5 33

4 त रा वा 5 33 1-5, 497 98

परतु सर्वजघन्य गुणवाले (अविभागी और एकगुणवाला सर्वजघन्य कहलाता है।) परमाणुओ मे बध नही होता।[1]

समान अश, समान गुण (दो, चार, छ, और केवल स्निग्ध या केवल रुक्ष सदृश परमाणु) रहने पर भी बध नही होता।[2]

स्निग्धता या रुक्षता मे दो अश आदि अधिक हो तो सदृश परमाणु मिलकर स्कध बना सकते है। जैसे दो परमाणु का चार परमाणुओ के साथ बध हो सकता है।[3] बध होने पर अधिकगुणवाला न्यूनगुणवाले का अपने रूप मे परिणमन करवा लेता है।[4]

इसको अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से अकलक ने कहा- "तात्पर्य यह कि दो गुण स्निग्ध परमाणु को चारगुण रुक्ष परमाणु पारिणामिक होता है, बन्ध होने पर एक तीसरी ही विलक्षण अवस्था होकर एक स्कन्ध बन जाता है। अन्यथा सफेद और काले धागे के सयोग होने पर भी दोनो से रखे रहेगे। जहाँ पारिणामिकता होती है वहाँ स्पर्श, रस, गध, वर्ण आदि मे परिवर्तन हो जाता है। जैसे शुक्ल और पीत रगो के मिलने पर हरे रग के पत्र आदि उत्पन्न होते है[5]। बध के विषय मे श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा मे कुछ असमानता है।

तत्वार्थ सूत्र के पाँचवे अध्याय के सूत्र 37 मे कुछ पाठभेद है। दिगम्बर परम्परा मे "बधेधिका पारिणामिकौच" है, जबकि श्वेताम्बर परपरा मे "बधे समाधिकौ पारिणामिकौ" पाठ है। इसका तात्पर्य है, स्निग्ध का द्विगुण रुक्ष भी पारिणामिक होता है, जबकि दिगम्बर मान्यता है, चाहे सदृश हो या विसदृश दो अधिक गुणवालो का ही बध होता है, अन्य का नही। जैसे दो का चार के साथ और तीन का पाँच के साथ।[6]

**सूक्ष्मताः**—इसका अर्थ है छोटापन। यह दो प्रकार की है-अत्यत सूक्ष्मता और आपेक्षिक सूक्ष्मता। अत्यत सूक्ष्मता परमाणु मे पायी जाती है और आपेक्षिक सूक्ष्मता- यह दो वस्तुओ की तुलना द्वारा ज्ञात होती है जैसे आँवले की अपेक्षा

---

1 त `सू 5 34
2 त सू 5 35
3 त सू 5 36
4 त सू 5 37
5 त रा वा 5 37 2 500
6 त रा वा 5 36 2 499

बेर अधिक सूक्ष्म है।

**स्थूलता**·–इसका तात्पर्य है बडापन। यह भी दो प्रकार का होता है। अत्यत स्थूलता और आपेक्षिक स्थूलता। अत्यत स्थूल है- अचित महास्कध और आपेक्षिक स्थूलता है- बेर की अपेक्षा आवले की स्थूलता।[1]

**सस्थानः**–सस्थान (आकृति) पर्याय दो प्रकार का होता है-(1) इत्थलक्षण और (3) अनित्थलक्षण।

**इत्थलक्षणः**-जिसको परिभाषित किया जा सके जैसे गोल, तिकोना, चौकोना, लम्बा, चौडा आदि।

**अनित्थलक्षण**·–जिसको परिभाषित नही किया जा सके। जैसे बादल की आकृति आदि।[2]

**भेद पर्यायः**–भेद अर्थात् विभाजन। यह स्कध के टूटने से बनती है। यह छ प्रकार की होती है, उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटण।

**उत्कर.**–करोत आदि से लकडी आदि को जो चीरा जाता है, वह उत्कर है।

**चूर्णः**–जौ, गेहु आदि का सत्तु कनक आदि जो बनाया जाता है, वह चूर्ण है।

**खड**·–घट आदि के जो कपाल और शर्करा आदि टुकडे होते है, खड है।

**चूर्णिका.**–उडद और मूँग आदि के जो खण्ड किए जाते है, वे चूर्णिका है।

**प्रतर** –बादल के बिखर-बिखर कर अलग-अलग जो पटल बन जाते है, वह प्रतर कहलाता है।

**अणुचटणः**–तपाये हुए लोहे के गोले आदि को घन आदि से पीटने पर जो फुलगे निकलते है वह अनुचरण है।[3]

**अधकार पर्याय.**–दृष्टि का प्रतिबधकर्त्ता अधकार है। दीपक उस अधकार को हटाने वाला होने के कारण प्रकाशक होता है।[4]

---

1 त रा वा 5 24 10-11 488 एव स सि 5 24 572

2 त रा वा 5 24 12 13 488-89

3 स सि 5 24 573

4 त रा वा 5 24 15 489

कुछ दार्शनिक अधकार को पुद्गल का पर्याय न मानकर प्रकाश का अभाव कहते है और उसके चार कारण बताते है-

(1) क्योकि इसमे कठोर अवयव नही है।

(2) क्योकि यह अप्रतिघाती है।

(3) क्योकि इसमे स्पर्श का अभाव है।

(4) इसमे खण्डित अवयवीरूप द्रव्य विभाग की प्रतीति नही होती। परतु जैन दर्शन इनका खण्डन करते हुए कहता है कि अधकार भी प्रकाश की तरह चक्षु का विषय है। प्रकाश के परमाणु ही अधकार के पर्याय मे परिणत होते है। यह भी दृष्टिगत होता है, अत स्पर्शवान् है क्योकि स्पर्श, रस, गध और वर्ण मे से किसी एक के रहने पर बाकी के तीन गुण उसमे अवश्य रहते है। यही पुद्गल का लक्षण भी है। अत प्रकाश और अधकार मे किसी प्रकार का अतर नही है।

प्रश्न हो सकता है कि दीपक के परमाणु अधकार पर्याय (विसदृश) मे कैसे परिणत हो सकते है? निम्नलिखित उदाहरण से इस प्रश्न का समाधान हो जायेगा। प्रकाशवान् अग्नि से गीले इधन के सहयोग से अप्रकाशवान् धुएँ की उत्पत्ति होती है। अत यह नियम नही हो सकता कि सदृश से सदृश कार्य ही उत्पन्न हो। अमुक सामग्री मिलने पर विसदृश कार्य भी उत्पन्न होते है।[1]

विज्ञान ने भी अधकार को प्रकाश की तरह स्वतत्र पदार्थ माना है। विज्ञान के अनुसार अधकार मे भी उपस्तु रक्त ताप किरणो के सद्भाव है जिनमे बिल्ली और उल्लू की आँखे तथा कुछ विशिष्ट अचित्रीय[2] पट (Photographic Plates) प्रभावित होते है। इससे स्पष्ट है कि अधकार का अस्तित्व दृश्य प्रकाश से (visible light) से पृथक् है।

**छाया** –प्रकाश पर आवरण पडने पर छाया उत्पन्न होती है।[3] प्रकाश पथ मे अपारदर्शक कार्यों (Opeque bodies) का आ जाना आवरण कहलाता है। छाया अधकार की कोटि का ही एक रूप है। यह भी प्रकाश का अभाव

1 स्याद्वादमंजरी 5 16 18

2 हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृ 385

3 स सि 5 24 572

न होकर पुद्‌गल की पर्याय है। छाया दो प्रकार की होती है। दर्पण आदि स्वच्छ द्रव्यो मे आदर्श के रग आदि की तरह मुखादि का दिखना, तद्वर्ण परिणत छाया तथा दूसरी प्रतिबिम्ब मात्र होती है।[1]

विश्व मे प्रत्येक इन्द्रियगोचर होने वाले मूर्त पदार्थ से प्रतिपल तदाकार प्रतिच्छाया प्रतिबिंब के रूप मे निकलती रहती है और वह पदार्थ के चारो ओर निरतर आगे बढ़ती रहती है। मार्ग मे जहाँ उसे अवरोध मिलता है, वहाँ ही वह दृश्यमान होती रहती है। प्रतिच्छाया के रश्मिपथ मे दर्पणो (Mirrors) और अणुवीक्षो (Lenses) का आ जाना भी एक प्रकार का आवरण है। इसी प्रकार के आवरण से वास्तविक (Real) और अवास्तविक (Virtual) प्रतिबिम्ब बनते है। ऐसे प्रतिबिंब दो प्रकार के होते है। वर्णादि विकार परिणत और प्रतिबिम्ब मात्रात्मक।[2]

वर्णादि विकार परिणत छाया मे विज्ञान के वास्तविक प्रतिबिम्ब लिये जा सकते है, जो विपर्यस्त (Inverted) हो जाते है और जिनका परिमाण (Size) बदल जाता है। ये प्रतिबिम्ब प्रकाश रश्मियो के वास्तविक (Actually) मिलन से बनते है। प्रतिबिंबात्मक छाया के अन्तर्गत विज्ञान के अवास्तविक प्रतिबिंब (Virtual Images) रखे जा सकते है जिनमे केवल प्रतिबिंब ही रहता है। प्रकाश रश्मियो के मिलने से ये प्रतिबिम्ब नही बनते।[3]

आधुनिक विज्ञान ने ऐसे एलेक्ट्रानिक तोलमापी यत्र तैयार किये है जिनकी सूक्ष्म मापकता अकल्पनीय है, जिनमे 1000 पृष्ठो के ग्रन्थो के अत मे बढ़ाये हुए एक फुलस्टाप्र, परछाई जैसी 'न कुछ' वजनी वस्तुओ के भार भी ज्ञात किये जा सकते है।[4] विज्ञान लोक का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि परछाईं पदार्थ है। और वह इतना भारवान भी है कि उसे तौला जा सक्ता है।

प्रतिबिंब कभी-कभी मृग मरीचिकाओ के रूप मे भी प्रकट होते है। गर्मी मे दोपहर के समय रेगिस्तान जहाँ मीलो तक पानी का नामोनिशान नही होता, वहाँ पानी से भरे जलाशय दिखते है। मृग अपनी प्यास बुझाने जाता है, पर उसे वहाँ पानी नही मिलता। वह दूसरी जगह जाता है, जहाँ उसे

1 त रा वा 5 24 16 17.489
2 स सि 5 24 572
3 मुा॰ ~ ऱ्जारीमल स्मृति ग्रन्थ पृ 385
4 विज्ञान लोक दि॰ - 1964 पृ 42

पानी नजर आता है, पर वहाँ भी नही मिलता। वह इधर-उधर दौडता है और अत मे तडप-तडप कर अपने प्राण दे देता है। इस प्रकार के सभी दृश्य जो सचमुच कुछ नही होते, केवल दिखायी देते है, उसे मृग मरीचिका के नाम से सबोधित किये जाते है।

ये मृग मरीचिका वस्तुओ का अस्तित्व न होने पर भी दिखायी देना, एक वस्तु होने पर भी उसके अनेक प्रतिबिंब दिखना, वस्तुओ का अदृश्य होना आदि अनेक रूपो मे स्पष्ट होती है।

मीमासक की मान्यता "दर्पण मे छाया नही पडती, परतु नेत्र की किरणे दर्पण से टकराकर वापस लौटती है और अपने मुख को ही देखती है" उचित नही है। क्योकि नेत्र की किरणे जैसे दर्पण से टकरा कर मुख को देखती है, उसी तरह दीवाल से टकराकर भी उन्हे मुख को ही देखना चाहिये। इस तरह जब किरणे वापस आती है तो पूर्वदिशा की तरफ जो मुख है, वह पूर्वाभिमुख ही दिखना चाहिये, पश्चिमाभिमुख नही। मुख की दिशा बदलने का कोई कारण नही है।[1]

**आतप.**–जैन दर्शन मे आतप को पुद्गल की ही पर्याय कहते है।[2] आतप शब्द तप धातु से बना हुआ है, जिसका अर्थ है ताप या उष्ण किरणे। सूर्य की धूप मात्र को आतप कहना अर्थ का सकोच है।

जैन दर्शन मे अग्नि को आतप नही माना है। धूप को आतप माना है। इससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि वस्तु मे रही हुई उष्णता वस्तु या द्रव्य का गुण है और उष्णता का वस्तु से अलग अस्तित्व वस्तु या द्रव्य का पर्याय है। आग रूप कोयला, लकडी आदि इधन की उष्णता कोयला आदि वस्तुओ का उष्ण गुण है, आतप यह नही है। आतप है आग की आच जो आग्नेय पदार्थो से भिन्न हो चारो ओर फैलती है और जिसका अनुभव आग से दूर बैठा व्यक्ति करता है। यद्यपि यह आग से निकली है, फिर भी इसका अस्तित्व आग से अलग है, जैसे सूर्य से निकली किरणो का सूर्य से अलग अस्तित्व है। ताप या धूप पर्याय होने के कारण स्थानान्तरित होती है।

जिस प्रकार इलेक्ट्रोन तथा प्रोट्रोन एक दृष्टि से पदार्थ हैं और दूसरे

1 त रा वा 5 24 17 489

2 त रा वा 5 24 18 489

दृष्टिकोण से वैद्युतिक तरगो के अतिरिक्त कुछ नही है, उसी प्रकार प्रकाश विकिरण के सबध मे हम कह सकते है कि वह पदार्थ का तरग रूप है और पदार्थ के सबध मे कह सकते है कि यह विकिरण का बर्फ की तरह जमा हुआ रूप है।[1]

जैन दर्शन मे आतप के लिये सूर्य की धूप को उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है। विज्ञान ने भी सूर्य की धूप को ही आधार मानकर खोज की है। लगभग दो सौ वर्ष पूर्व प्रसिद्ध खगोल शास्त्री विलियम हर्शेल ने एक प्रयोग किया था। उसने सूर्य किरणो के एक पुँज को प्रिज्म द्वारा झुकाकर थर्मामीटर की सहायता से यह जाना कि वर्णक्रम मे लालरग के नीचे थर्मामीटर रखा जाता है तो वह सबसे अधिक गर्म होता है। इससे यह परिणाम सामने आया कि सूर्य से आती अदृश्य किरणे जिन्हे अवरक्त किरणे कहा जाता है, यही किरणे आतप की किरणे है।

जिस प्रकार प्रकाश ऊर्जा की तरगे है, उसी प्रकार अवरक्त किरणे भी ऊर्जा की तरगे है और आज तो इस आतप रूप ऊर्जा का उपयोग बहुत कार्यो मे होने लगा है।

जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित आतप पुद्गल है। फोटो खीचकर विज्ञान ने प्रमाणित कर दिया कि आतप पदार्थ है। क्योकि फोटो पदार्थ का ही खीचा जाता है शून्य का नही। तापचित्र लेने के केमरे भी तैयार हो गये है। इन्हे थर्मोग्राफ कहा जाता है। ताप यदि पदार्थ न होता तो इसका चित्र लेना असभव था।

- तापचित्र के उपयोग से स्तन कैसर को, भूमि मे छिपी गैसो को, इजन को खोले या बद किये बिना ही उसकी खराबियो को ढूँढ़ा जा सकता है।

आशय यह है कि आज आतप या ताप की किरणो को ग्रहण किया जा सकता है तथा अनेक कार्यो मे उसका उपयोग किया जा सकता है। विज्ञान के इस प्रयोगात्मक प्रस्तुतीकरण मे अब सामान्य बुद्धिजीवी भी यह समझने लग गया कि वास्तव मे आतप पुद्गल की ही पर्याय है।

अकलक ने आतप की व्याख्या की "असातावेदनीय के उदय से जो अपने

1 नवनीत दिसम्बर 1955 पृ 32

स्वरूप को तपता है या जिमके द्वारा तपाया जाता है या आतपमात्र को आतप कहते है।"[1]

**उद्योत**·–जो निवारण को उद्योतित करता है या जिसके द्वारा उद्योतित करता है या उद्योतनमात्र को उद्योत कहते है।[2]

चन्द्र, मणि, जुगनू आदि के प्रकाश को उद्योत कहते है।[3] प्रभा, उद्योत, प्रकाश ये सभी पर्यायवाची शब्द है।

वर्तमान मे विज्ञान ने प्रकाश सबधी पर्याप्त अन्वेषण किये है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण खोज है लेसर किरणे। लेसर रश्मियाँ प्रकाश का घनीभूत रूप है। लेमर रश्मियो की शक्ति के मबध मे अनुमान लगाया गया है कि एक वर्ग मेटीमीटर प्रकाशीय क्षेत्रफल मे साठ करोड वॉट की शक्ति छिपी हुई है। मारी शक्ति को लैम द्वारा जब एक मेटीमीटर मे घनीभूत कर दिया जाता है तो उममे निकलने वाली रश्मियाँ क्षण भर मे मोटी से मोटी इस्पात की चादरो को गलाकर भेद देती है।

लेमर किरणो के कितने ही उपयोग है। किसी भी म्थान पर इन किरणो मे न्यूनतम मोटाई का सुराख करना इतना ही सरल है जितना कि राइफल की गोली का मक्खन की डली मे मे निकलना। इन किरणो से इच के दश हजारवे भाग तक लघु छिद्र करना सभव है।

क्षण भर मे कठोर धातु को लेमर किरणो मे पिघलाया जा मकता है। दो या अधिक धातुओ को पिघलाकर उन्हे जोडने की क्रिया मेकडो मे पूरी की जा मक्ती है।

आँखो के पीछे लगे परदे (रेटीना) के अपने म्थान मे हट जाने मे आदमी अधा हो जाता है। इमका पहले कोई उपचार नही था। अब लेमर किरणो मे रेटिना को पिघला कर- उमे अपने म्थान पर जमा कर वडी ही मरलता से वेल्डिग किया जा सकता है।

मानव शरीर मे भी लेमर किरणो मे विना चीरफाड किये शल्य चिकित्मा मभव है। यदि इन किरणो को पृथ्वी पर एक म्थान-मे-दूमरे-म्थान पर फेकने

1 त ग वा 5 24 1 485

2 त ग वा 5 24 1 485

3 त ग वा 5 24 19 489

का प्रयत्न किया जाय तो काश्मीर मे स्थित उपकरण से निकलने वाली लेसर किरणें कन्याकुमारी मे रखी पतीली मे चाय उबाल सकती है।

एक गतिमान यान को पृथ्वी से ही लेसर किरणो द्वारा शक्ति पहुँचायी जा सकती है, जैसे कोई उपग्रह गति मद होने के कारण नीचे गिरने लगे तो लेसर किरणो के दबाव से अपनी कक्षा मे स्थापित किया जाता है। लेसर की एक घडी बनाई है, जो अधो को मार्ग दर्शन दे मकती है। घडी की नोक से लेसर किरणे निकलेगी और मार्ग मे रुकावट डालने वाली वस्तुओ से टकराकर पुन उपकरण मे लौट आयेगी। लौटी हुई किरण द्वारा रुकावट डालने वाली वस्तुओ का ज्ञान थपकी द्वारा अधे की हथेली पर आयेगा, जिससे वह जान सके कि उधर जाना ठीक नही।

आधुनिक विज्ञान ने प्रकाश को पदार्थ के माथ भारवान भी स्वीकार किया है। प्रकाश विशेषज्ञो का कथन है "सूर्य के प्रकाश विकिरण का एक निश्चित वजन होता है, जिसे आज के वैज्ञानिको ने ठीक तरह से नाप लिया है। प्रत्यक्ष मे यह वजन बहुत कम होता है। पूरी एक शताब्दि मे पृथ्वी के एक मील के घेरे मे सूर्य के प्रकाश का जो चाप पडता है, उसका वजन एक मेकण्ड के पचासवे भाग मे होने वाली मूसलाधार वर्षा के चाप के बराबर है। यह वजन इतना कम इसलिये लगता है कि विराट् विश्व मे एक मील का क्षेत्र नगण्य मे भी नगण्य है। यदि मूर्य के प्रकाश के पूरे चाप का वजन लिया जाय तो वह प्रति मिनिट 25,00,00,000 टन निकलता है। यह एक मिनिट का हिसाब है। घण्टा, दिन, माम, वर्ष, मैकडो, हजारो, लाखो, करोडो, अरबो वर्षो का हिसाब लगाइये, तव पता चलेगा कि प्रकाश विकिरण के चाप का वजन क्या महत्व रखता है।[1]

विज्ञान द्वारा पुष्ट जैन दर्शन मे स्वीकृत प्रकाश भारवान और पुद्गल है।

**पुद्गल के छ भेद** –नियममार मे कुदकुद ने एव गोम्मटमार के जीवकाण्ड मे पुद्गल के छ भेद बताये है - अतिम्थूल, म्थूल, म्थूलमूक्ष्म, मूक्ष्मम्थूल, मूक्ष्म और अति मूक्ष्म।[2]

(1) **अतिस्थूल** –जो म्कध टूट कर पुन जुड नही मके वे अतिस्थूल है–

1 नवनीत दिमम्बर 1955 पृ 29

2 नियममार गा 21

जैमे पृथ्वी, पर्वत आदि।[1]

(2) **स्थूल.**—जो स्कध पृथक्-पृथक् होकर पुन मिल मके, वे स्थूल कहलाते है, जैमे घी, जल, तेल आदि।[2]

(3) **स्थूल सूक्ष्म**—यह म्कध देखने मे आते हो, परतु भेदे नही जा मकते या हाथ आदि मे ग्रहण नही किये जा मकते वे, म्थूलमूक्ष्म है, जैमे प्रकाश, छाया, अधकार आदि।[3]

(4) **सूक्ष्मस्थूल**—चार इन्द्रियो से (चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त) जिनके विषयो को ग्रहण किया जा मके, परतु जिनका म्वरूप दिखायी दे, वह मूक्ष्म स्थूल है, जैसे शब्द, रस, गन्ध, स्पर्श।[4]

(5) **सूक्ष्म**—जिनका इन्द्रियो द्वारा ग्रहण नही किया जा मके अर्थात् जो इन्द्रियो मे अगोचर है, वे मूक्ष्म है—जैमे कर्मवर्गणा आदि।[5]

(6) **सूक्ष्मसूक्ष्म**—ये अत्यत सूक्ष्म म्कध, जो कर्मवर्गणा से भी छोटे द्वयणुक पर्यंत पुद्गल होते है, इनको भी इन्द्रियो मे नही देखा जा मकता, मूक्ष्म सूक्ष्म कहलाते है।[6]

**पुद्गल परिणमन**—ठाणाग मे पुद्गल परिणमन के तीन कारण म्पष्ट किये गये है—

(1) **प्रयोग परिणत**—किमी भी जीव द्रव्य द्वारा गृहीत पुद्गल, जैमे जीव शरीर आदि।

(2) **मिश्र परिणत**—जीव के प्रयोग तथा म्वाभाविक रूप मे परिणत पुद्गल जैमे मृत शरीर।

(3) **विस्रसा परिणत**—जिनका परिणमन या रूपान्तरण म्वभाव मे ही हो जाता है—जैमे बादल, उल्कापात आदि।[7]

---

1 नियममार गा 22 पूर्वार्द्ध

2 नियमसार गा 22 उत्तरार्द्ध

3 नियममार गा 23 पूर्वार्द्ध

4 नियममार गा 23 उत्तरार्ध

5 नियममार गा 24 पूर्वार्द्ध

6 नियममार 23 उत्तरार्ध

7 ठाणाग 3 401

**पुद्गल के प्रकार**–पुद्गल दो प्रकार के होते है (क) जीव द्वारा ग्रहण किये हुए, (ख) और ग्रहण नही किये हुए पुद्गल।[1]

पुद्गल द्रव्य के एक अपेक्षा से 23 भेद भी होते है।[2] इन 23 भेदो मे मुख्य आठ भेद है। इन भेदो को वर्गणा भी कहते है-औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण, श्वास, वचन और मन।

**औदारिक**–पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति इनके द्वारा औदारिक शरीर का निर्माण होता है।

**वैक्रिय**–इसका सस्कृत मे वैकुर्विक रूप होता है। इसका अर्थ है विविध क्रिया। विशिष्ट क्रिया को करने मे सक्षम विक्रिया है। उस विक्रिया को करने वाला वैक्रिय शरीर है। इस शरीर के पुद्गल मृत्यु के पश्चात् कपूर की तरह उड जाते है।

**आहारक**–विशिष्ट योगशक्ति सपन्न चौदह पूर्वधारी मुनि किसी विशिष्ट प्रयोजन विशेष से जिस शरीर की सरचना करते है, वह आहारक शरीर है।

**तैजस**–जो दीप्ति का कारण है और जिसमे आहार पचाने की क्षमता या सामर्थ्य होती है, वह तैजस शरीर है। इस शरीर के अगोपाग नही होते। तीनो शरीरो मे यह शरीर अधिक सूक्ष्म होता है।

**कार्मण**–जो शरीर चारो शरीर के निर्माण का कारण है और जिस शरीर का निर्माण ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म पुद्गलो से होता है, वह कार्मण शरीर है। तैजस और कार्मण ससारी आत्मा के साथ ~ रहता ही है। इन दोनो शरीरो के छूटते ही आत्मा शुद्ध बन जाती है।[3]

**श्वासोच्छ्वास**–यह श्वास लेने और निकालने योग्य पुद्गल समूह है।

**भाषा**–शब्द भी (वचन) पुद्गल की ही पर्याय है क्योकि बोलते समय भाषा का भेदन-बिखराव होता है। यह चार प्रकार की है-सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार भाषा।[4]

1 ठाणाग 2 232
2 गोम्मटसार (जीवकाण्ड) 593 94
3 प्रज्ञापना 12 901
4 भगवती 13 7 7 9

**मन**—मन भी पुद्गल का समूह है। यह मनन करते समय ही मन कहलाता है। मन आत्मा नही है, अत पुद्गल है। मन का भेदन होता है, अत पुद्गल है। मन चार प्रकार का है-सत्यमन, असत्यमन, मिश्र मन, व्यवहार मन।[1]

**पुद्गल का स्वभाव चतुष्टय**—पुद्गल का विशद परिचय प्राप्त करने के लिये उसे चार दृष्टिकोणो मे विश्लेषित किया गया है-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य की अपेक्षा अनत द्रव्य है। क्षेत्र की अपेक्षा लोकप्रमाण है। काल की अपेक्षा शाश्वत है (परमाणु की अपेक्षा) और भाव की अपेक्षा वर्ण, गध, रस, स्पर्श से युक्त है और गुण की अपेक्षा ग्रहण गुण की योग्यता वाला है।[2]

जिनेन्द्रवर्णी ने इसे और ज्यादा स्पष्ट किया है। स्वभाव को धारण करने वाले जो भी है, उसे द्रव्य कहते है। उसके आकार को क्षेत्र कहते है। उसके अवस्थान को काल कहते है तथा उसके धर्म और गुण को भाव कहते है।

स्वद्रव्य की अपेक्षा सामान्य रूप से पुद्गल द्रव्य एक है, परन्तु प्रदेशात्मक परमाणु अनतानत है। एक बालाग्र स्थान पर अनतानत परमाणु रहते है।

स्वक्षेत्र की अपेक्षा सामान्य रूप से परमाणु एक प्रदेशी है, परन्तु विशेष रूप से छोटे-बडे आकारो को धारण करने वाले स्कध अनेक प्रकार के है, कुछ सख्यात, कुछ असख्यात और कुछ अनतप्रदेषी है।

स्वकाल की अपेक्षा पुद्गल अनित्य है क्योकि वे उत्पाद, विनाश करते रहते है।

स्वभाव की अपेक्षा पुद्गल मूर्तिक है, इन्द्रियगोचर है। गुण की अपेक्षा पुद्गल मे वर्ण, गध, रस, तथा स्पर्श पाये जाते है।

**पुद्गल के उपकार**—ससारी जीव पुद्गल के अभाव मे रह ही नही सकते। उनकी समग्रता पुद्गल द्वारा ही सपन्न होती है। हमारा शरीर (जिसका विवेचन पूर्व मे किया जा चुका है) पुद्गल की ही देन है। भाषा, मन, प्राण, अपान आदि सब पुद्गल का ही उपकार है।[3]

जीवन मे प्राप्त सुख, दुख, जीवन, मरण आदि समस्त पुद्गल के ही

1 भगवती 13 7 10-14

2 ठाणाग 5 174

3 जैन दर्शन में पदार्थ विज्ञान पृ 163 64

उपकार है, जैमे अनुचर मालिक की आज्ञा मानने को मजबूर है वैमे ही पुद्गल द्वारा निर्मित इन्द्रिय आदि जीव की आज्ञा मानते ही है।[1] हमने इम अध्याय मे पुद्गल का विम्तृत विवेचन किया। अब प्रश्न उठता है कि पुद्गल को जानने का प्रयोजन क्या है?

मुख्य तत्व तो दो ही है-जीव और अजीव। जब तक जीव अजीव के म्वरूप, म्वभाव, और प्रकृति को नही समझ लेगा तब तक वह अजीव मे मुक्त होने का न तो प्रयास कर सकेगा और न मुक्ति की रुचि पैदा होगी। पुद्गल का चित्र, विचित्र रग बिरगा आकर्षण जीव को मुग्ध करता रहेगा। जीव इम आकर्षण मे मुक्ति हेतु तभी पुरुषार्थ करेगा, जब उमे हेय और उपादेय का मम्यक् ज्ञान हो जायेगा। वम्तु म्वरूप को जानकर ही जीव हेय (त्याज्य) का त्याग एव उपादेय (ग्राह्य) को स्वीकार कर मकेगा।[2]

इम पचाम्तिकाय के म्वरूप को जानकर जो रागद्वेष को छोडता है, वही मुक्त होता है।

**जैन दर्शन का लक्ष्य** –जैन दर्शन मात्र विवेचनात्मक दर्शन ही नही है, वह उपयोगी सिद्धातो के प्रतिपादन द्वारा आचरण योग्य भी है। जैन दर्शन का अतिम लक्ष्य मोक्ष है और उमी मुक्ति की प्राप्ति मे अवरोधो को जानने का और आचरण का उपदेश जैन दार्शनिको ने दिया है।[3] षड्द्रव्य को भी इमीलिये ममझना चाहिये।

जीव और पुद्गल का मबध अनादि है, पर उमे ममाप्त किया जा मकता है और शुद्ध आत्मम्वभाव प्रकट हो सकता है।[4]

---

1 त मू 5 20

2 प का 103

3 'आम्रवो भवहेतु स्यात् प्रम-वनय्' मर्वदगन मग्रह पृ 4 39

4 रा वा 5 19 29 472

# 5

# उपसंहार

जैन दर्शन के सभी सिद्धातो मे स्याद्वाद शैली स्पष्ट नजर आती है। प्रश्नो को स्याद्वाद के अन्तर्गत समाहित करने के प्रयास मे जैन दर्शन को यद्यपि सशयवाद के आरोपो से घेरा गया, पर गहराई मे जाकर अगर स्याद्वाद को समझे तो यह भ्राति निरर्थक और निर्मूल साबित होगी।

वस्तु तत्व की मीमासा भी जैन दर्शन मे भेदाभेद की अपेक्षा से हुई है।

हम अपने व्यवहार मे भी पदार्थ का एकात स्वरूप स्वीकार नही कर सकते। पदार्थ का वास्तविक स्वरूप ही कुछ इस प्रकार का है कि अगर उसके अन्य धर्मो का सर्वथा विच्छेद करके मात्र एक ही धर्म को मुख्य और सत्य मान ले तो व्यवहार भी खडहर हो जाता है। जैन दर्शन के सामने भी यह कठिनाई खडी हो जाती अगर वह पदार्थ का एकागी स्वरूप स्वीकार करता क्योकि एकागी स्वभाव मे या तो अनात्मवाद रहेगा या शाश्वतवाद।

पदार्थ मात्र शाश्वत है तो चारो ओर परिवर्तन क्यो दिख रहा है? हमारे स्वय के अतर्मन मे पनपते, बदलते भावो को हम महसूस करते है। बाह्य जगत मे हमारे अत्यत समीप शरीर की अवस्थाओ मे प्रतिपल परिवर्तन होता है, फिर भी शरीर के परिवर्तन मे कोई ऐसा शाश्वत और अकम्प तत्त्व अवश्य है जिसके आधार पर परिवर्तन की सभाव्यता है और यही अशाश्वत के मध्य शाश्वत जैन दर्शन का वस्तु स्वरूप है जिसे "तत्त्व क्या है? गौतम स्वामी के प्रश्न पर महावीर प्रभु ने "उवगमेई वा, विगमेई वा ध्रुवेई वा" कहा था जो दर्शन मे त्रिपदी के नाम से पहचाना जाता है।

मैंने अपने इस शोध प्रबध मे इसी उत्पन्न, विनाश और ध्रौव्य के स्वरूप और लक्षण को विवेचित करने का प्रयास किया है।

हमारी सृष्टि द्वन्द्वात्मक है। चेतन और अचेतन इन दोनो का स्वतत्र अस्तित्व है और इसे जैन दर्शन ने षड्द्रव्यो मे विभक्त किया है। इन्ही षड्द्रव्यो का सतत परिवर्तन ससार की व्यवस्था को सतुलित रखता है।

अगर मात्र शाश्वतवाद पर हमारी श्रद्धा स्थिर होती तो स्पष्ट दृष्टिगत हो रहे परिवर्तन को क्या कहते? इसे मात्र मिथ्या या असत्य कहकर नकारना कैसे उचित होता? जो चीज स्पष्टत इन्द्रियग्राह्य बन रही है, उसे मात्र मिथ्या मानकर उसका अस्तित्व कैसे उडाया जा सकता है? अगर सारा जगत् मिथ्या है तो सम्यक् कुछ भी नही रहेगा।

जैन दर्शन ने इसे मिथ्या कहने की बजाय आत्मभाव के अतिरिक्त समस्त पदार्थों को पर पदार्थ कहकर उसके अस्तित्व को स्वीकृति प्रदान की।

पर द्रव्यो मे जब तक आत्म बुद्धि है, तब तक ससार है और ज्योहि यह आत्मभाव समाप्त हुआ, जैन दर्शन के अनुसार मुक्ति है। पर द्रव्य को हम मिथ्या या असत् नही कह सकते। उनका अपना अस्तित्व है।

मात्र अशाश्वत को स्वीकार करते तो भी वही दार्शनिक समस्या थी। अगर मात्र परिवर्तन ही परिवर्तन रहे तो कर्त्ता किसे कहें? कारण और कार्य मे उपादान और उपदेय भाव भी कैसे बनेगा? यदि उपादान कारण सर्वथा क्षणिक है तो कार्यकाल तक स्थिर नही रहेगा और कार्योत्पत्ति के एक क्षण पूर्व ही नष्ट हो जाता है तो जिस प्रकार दो घण्टा अथवा दो दिन पहले नष्ट हुआ कारण कार्योत्पत्ति मे निमित्त नही होता, उसी प्रकार एक क्षण पूर्व भी नष्ट हुआ कारण कार्योत्पत्ति मे निमित नही बनता। अत यह मानना होगा कि सत् और असत् दोनो भावो का समन्वय ही वस्तु के विवेचन मे सहायक है।

सत् और असत् को विरोधी नही कह सकते क्योकि इन दोनो का सद्भाव एक दृष्टि से नही है। सत् भी अपेक्षा से है, असत् भी अपेक्षा से है। सत् द्रव्य की अपेक्षा से है और असत् पर्याय की दृष्टि से है।

उपनिषद् के सत् से जैन दर्शन के सत् की तुलना कुछ अपेक्षा से तर्कसगत नही जान पडती क्योकि उपनिषद् का सत् ब्रह्म भी बनता है और साथ ही स्वय तो व्यवस्थापक के रूप मे सत्यस्वरूपी रहता ही है व अपनी सृष्टि

को माया या असत्य के रूप मे स्वीकृति देता है। यह न्याय और युक्तियुक्त कैसे है?

उपनिषद् के अश की तुलना एक अपेक्षा से अर्थात् आत्मा परमात्मा के दृष्टिकोण से की जा सकती है। परमात्मा पूर्ण है, आत्मा अपूर्ण। उसकी मजिल का प्रारभ निगोद से है, पर अत परमात्मा या सर्वज्ञता मे है, परतु वह किसी द्वारा सर्जित नही है, अश अपूर्णता की अपेक्षा से है।

साख्य ने पुरुष को भोक्ता तो स्वीकार किया, पर कर्त्ता नही। द्वैतवादी साख्य के पुरुष की तुलना जैन दर्शन के सर्वज्ञ से की जा सकती है और नही भी। साख्य का पुरुष विकार रहित शुद्ध स्वरूपी है, पर साथ ही वह इन्द्रियो के विषय का भोक्ता है तो कर्त्ता कौन है? अगर कर्त्ता इन्द्रिया या प्रकृति मात्र है तो इन दोनो का सयोग क्यो और किसने किया और क्यो इन्द्रियाँ पुरुष के लिये सुख के साधन उपलब्ध करवाती है? कर्त्ता भोक्ता भिन्न कैसे सभव है।

बौद्ध दर्शन आत्मा को क्षणिक भी मानते है और साथ ही उनमे मोक्ष की, पुनर्जन्म की परिकल्पना भी उपलब्ध होती है। मोक्ष और पुनर्जन्म किसका होगा क्योकि जो पुरुषार्थ या त्रिविध साधना का कर्त्ता है, वह तो दूसरे ही क्षण बदल जाता है।

उपनिषद् मात्र ब्रह्म को ही सत्य स्वीकार करके सपूर्ण ससार को मिथ्या घोषित करते है, परतु यह तर्क सगत नही हो सकता। ब्रह्म तो चेतन हैं उससे अचेतन तत्व कैसे उत्पन्न हुआ होगा? ब्रह्म पूर्ण सुखी आनदमय है तो उसी के अश दु खमय कैसे सभव है? क्रिया परिणाम भिन्न-भिन्न क्यो है? एक की मृत्यु दूसरे का जन्म, एक के कर्म स्वर्ग योग्य, दूसरे के नरक के योग्य कैसे हो सकते है?

जो मसार हमारे सामने हैं, उसे सर्वथा मिथ्या कैसे कहा जा सकता है जबकि वह विद्यमान है, उसका अनुभव किया जाता है। जैनाचार्यो ने यद्यपि ससार को अशाश्वत कहा पर सर्वथा नही, जीव और ससार या पुद्गल के सयोग की अपेक्षा से कहा है, अन्यथा जैन दर्शन की तो यह स्पष्ट मान्यता है कि न कोई नया द्रव्य उत्पन्न होता है, न पुराना नष्ट। कुछ दार्शनिक आत्मा

को कूटस्थ-नित्य मानते है, कुछ आत्मा को भोक्ता, कुछ भूतचतुष्टय को ही चेतन मानते है, परतु जैन दर्शन का दृष्टिकोण भिन्न है। जैन दर्शन मुख्य दो तत्त्व मानता है- चेतन और अचेतन। अचेतन को पाँच भागो मे विभक्त किया और इस प्रकार जैन दर्शन की सपूर्ण सृष्टि छ द्रव्यो के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाती है।

जैन दर्शन की द्रव्य विषयक व्याख्या के अनुसार जो मूल स्वभाव का त्याग किये बिना उत्पाद विनाश करे वह द्रव्य है, जैसे जीव का स्वभाव है उपयोग या चेतना। जीव इस स्वरूप से कभी अलग नही होता। वह चेतना अभिव्यक्त हो या नही या अन्यो के अनुभव मे आये या नही पर न्यूनाधिक रूप से रहती अवश्य है। जीव की पर्याय बदलती है, कभी वह नारकी होता है तो कभी देव और कभी मनुष्य परतु रहेगा तो जीव ही, अजीव नही होगा।

व्यय और उत्पाद तो वस्तु के दोनो अनिवार्य सिरे है। जहाँ उत्पाद है, वहाँ व्यय भी अवश्य है, जहाँ व्यय है, वहाँ उत्पाद भी अवश्य। हम द्रव्य को देख नही पाते, हम उसकी पर्याय मात्र देखते है। हमारा सारा ज्ञान पर्याय का ज्ञान है। द्रव्य अव्यक्त होता है, पर्याय व्यक्त।

हम आकृति पर्याय देखकर तय करते है, कि यह मनुष्य है। हम अपनी आँख से उसका रूप देख सकते है, कान से शब्द सुनकर निर्णय कर सकते है। उसकी आकृति, उसके शब्द ये सब पर्याय है। इस शब्द और स्वरूप का कारण उसकी आत्मा तो अव्यक्त है और उस आत्मा की ऐसी एक नही अनेक पर्याये भूत एव भविष्यत काल मे हो चुकी है, परतु वह आत्मा वैसा ही रहा। पर्याय के परिवर्तन से आत्मा का परिवर्तन जैन दर्शन को मान्य नही है।

इस उत्पाद व्यय और ध्रौव्य के स्वरूप के स्पष्टीकरण मे जैन दर्शन का स्याद्वाद सिद्धात अत्यत उपयोगी सिद्ध हुआ। अगर स्याद्वाद को नही अपनाया होता तो जैन दर्शन भी उन्ही आरोपो और दोषो मे घिर जाता जो एकातवादी दर्शनो मे आए।

महावीर ने स्याद्वाद के आधार पर ही सारी व्याख्याए दी। उनमे पूछा- आत्मा नित्य है या अनित्य? महावीर ने कहा-अस्तित्व की दृष्टि मे नित्य है और पर्याय की दृष्टि मे अनित्य। इस स्याद्वाद के कारण जैन दर्शन की आत्मा

की कर्त्ता भोक्ता की व्याख्या भी सिद्ध हो गयी और अस्तित्व की अनिवार्य शर्त परिणमन की समस्या भी हल हो गयी। अर्थक्रियाकारित्व तभी घटित होगा जब वस्तु नित्यानित्य होगी।

अगर हम नित्य वस्तु मे अर्थक्रियाकारित्व स्वीकार कर ले तो प्रश्न होगा कि वह अर्थक्रिया क्रम से होगी या अक्रम से? अगर हम यह माने कि क्रम से होगी तो यह तर्क सगत नही लगेगा क्योकि जब वस्तु समर्थ है तो वह एक ही क्षण अर्थक्रिया क्यो नही कर लेगी? जब वह समर्थ है तो काल अथवा अन्य सहकारी कारणो का इतजार क्यो करेगी? अगर इतजार करती है तो उसका सामर्थ्य आहत होता है।

अगर हम यह मान ले कि जिस प्रकार समर्थ होते हुए भी बीज पृथ्वी, जल, वायु आदि के सहयोग से ही अकुर को उत्पन्न करता है अन्यथा नही, इसी प्रकार नित्य पदार्थ समर्थ होते हुए भी सहयोगी कारणो के बिना अर्थक्रिया नही करता। तो फिर प्रश्न उठेगा कि वह सहकारी कारण नित्य पदार्थ का कुछ उपकार करते है या नही? यदि उपकार करते है तो यह उपकार पदार्थ से भिन्न है या अभिन्न है? यदि वह सहकारी कारण अभिन्न है तो नित्य पदार्थ ही अर्थक्रिया करता है।

अगर सहकारी नित्य पदार्थ से भिन्न है तो प्रश्न होता है कि सहकारी कारण और पदार्थ मे क्या सबध होता है? इन दोनो मे सयोग सबध बन नही सकता क्योकि सयोग सबध दो द्रव्यो मे होता है जबकि एक द्रव्य है, एक क्रिया है। न समवाय सबध बन सकता है क्योकि वह तो एक है और व्यापक है। अगर समवाय सबध स्वीकार करेगे तो फिर नित्य पदार्थ और अर्थक्रिया की भिन्नता भी नही रहेगी।

अत हमे यह मानना होगा कि अर्थक्रिया नित्य पदार्थ मे क्रम से तो सभव नही है। अब अगर यह कहे कि क्रम से न होकर नित्य पदार्थ मे अर्थक्रिया अक्रम से होती है तो भी सभव नही है क्योकि अगर एक साथ ही अर्थक्रिया कर ली तो दूसरे क्षण मे वह क्या करेगा।?

अत यह सभव ही नही है कि नित्य पदार्थ अर्थक्रिया करे। अगर साख्य के नित्यवाद मे अर्थक्रिया सभव नही है तो क्या बौद्ध के क्षणिक पदार्थ मे

अर्थक्रिया सभव है? यह भी उचित और तर्कसगत नही लगता क्योकि मा
जिसका अस्तित्व हो वहाँ क्रम से अर्थक्रिया हो नही सकती। देश और का
का क्रम क्षणिक पदार्थ मे सभव ही नही है।

अगर यह कहा जाय कि सतान की अपेक्षा पूर्व और उत्तर क्षण मे क्र
सभव हो सकता है तो यह भी ठीक नही क्योकि सतान कोई वस्तु नही
यदि सतान को वस्तु स्वीकार किया जाय तो सतान क्षणिक है या अक्षणि
सतान को क्षणिक मानने पर सतान मे क्षणिक पदार्थो से कोई विशेषता न
होगी। अक्रम से भी अर्थक्रिया क्षणिक पदार्थ मे सभव नही है क्योकि ज
बौद्ध लोग निरश पदार्थ से अनेक कार्यो की उत्पत्ति मानते है तो फिर नि
पदार्थ मे क्रम से अनेक कार्यो की उत्पत्ति मे क्यो दोष देते है? अत क्षणि
पदार्थ मे अक्रम से भी अर्थक्रियाकारित्व सिद्ध नही हो सकता, और एका
अनित्य पदार्थ मे क्रम व्यापको की निवृत्ति होने से व्याप्त अर्थक्रिया भी न
बन सकती। अर्थक्रिया के अभाव मे क्षणिक पदार्थ मे अस्तित्व का ही अभा
हो जाता है।

जैन दर्शन नित्यानित्यत्व की मान्यता के कारण इन दूषणो से सुरक्षि
है क्योकि जैन दर्शन तो प्रत्येक पदार्थ को उत्पाद व्यय युक्त पदार्थ की दृ
से और द्रव्य की दृष्टि से स्वीकार करता है चाहे वह जड हो या चेतन
यह नित्यानित्य भी प्रतिक्षण होता है। अगर बाह्य निमित्त मिले तो उनसे अन्य
स्वय अतरग रूप से परिणमन करता रहता है।

जैन दर्शन ने नित्य का लक्षण अनुत्पन्न, अप्रत्युत और स्थिर रूप न स्वीका
कर द्रव्य का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रुव स्वीकार किया और उसने नि
का लक्षण दिया- अपने स्वरूप का नाश जो नही होता।

पुद्गल और आत्मा का ही परिणमन स्वीकार नही किया, अपितु धर्म
अधर्म, आकाश और काल द्रव्य का भी परिणमन स्वीकार किया है। यद्यपि
उनका स्वाभाविक परिणमन ही स्वीकार्य है, क्योकि इनका वैभाविक परिणम
सभव नही है। जीव और पुद्गल मे भी जो परिवर्तन होता है, वह सर्वथ
विलक्षण परिणमन नही होता। इस परिवर्तन मे जो समानता होती है, व
द्रव्य है और जो असमानता है, वह पर्याय है। द्रव्य मे उत्पाद की स्थिति हो
पर भी उसकी स्वरूप हानि कभी नही होती।

जिस द्रव्याक्षरत्ववाद की स्थापना 1989 मे Lowoisier (लाओजियर) वैज्ञानिक ने की, उसकी तुलना अगर हम जैन दर्शन के द्रव्य म्वरूप से करे तो कोई अनुचित नही होगा। क्योकि इस सिद्धात के अनुसार भी अनत विश्व मे द्रव्य का परिणमन होता है, पर द्रव्य का विनाश कभी नही होता। कोयला जलकर राख हुआ। हमने व्यवहार की भाषा मे कह दिया– कोयला जल कर नष्ट हो गया परतु गहराई मे वह नष्ट नही हुआ, अपितु वायुमडल के ऑक्सीजन के अश के साथ मिलकर कार्वोनिक एसिड गेस के रूप मे परिवर्तित हो गयी।

इसे जैन दर्शन परिणामी नित्यवाद भी कहता है। इसी परिणामी नित्यवाद की आधारशिला से जैन दर्शन के चिंतन का महल तैयार हुआ है।

साख्य भी परिणमन स्वीकार करता है, पर मात्र प्रकृति का, पुरुष का नही। नैयायिक, वैशेषिक आत्मा को नित्य तथा घट पट को अनित्य मानते है, परतु जैन दर्शन तो सपूर्ण द्रव्य मात्र का प्रतिक्षण परिणमन स्वीकार करता है।

अगर हम इसे यो कहे कि जैन दर्शन कही वस्तु मे स्वभाव और विभाव दोनो की स्वीकृति देता है। स्वभाव पर निरपेक्ष है और विभाव परसापेक्ष। आत्मा जब परसापेक्ष है अर्थात् विभाव दशा मे है तब तक ससार है, ज्योहि पर निरपेक्ष बना वह शुद्ध स्वरूपी बनकर अतिम मजिल प्राप्त कर लेता है।

आत्मा के स्वतत्र स्वरूप की जो व्याख्या जैन दर्शन प्रस्तुत कर पाया है, वह किसी अन्य दर्शन मे उपलब्ध नही होती क्योकि उपनिषद ने एक ही ब्रह्म की कल्पना की है तो साख्य ने मात्र पुरुष को भोक्ता के रूप मे ही स्वीकृति दी है और बौद्ध आत्मा को क्षणिक मानता है और इन सभी एकातवादी मान्यताओ के कारण अनेक जिज्ञासाएँ उभरती है, परतु समाधान का अभाव रहता है।

जैन दर्शन ज्ञान और दर्शन दोनो से युक्त को ही आत्मा मानता है, जबकि वैशेषिक की मान्यता है कि ज्ञान आगतुक गुण है और आत्मा से सर्वथा भिन्न है। ज्ञान और आत्मा का सबध समवाय से बनता है। आत्मा स्वय जड है। उसके अनुसार अगर ज्ञान और आत्मा को एक ही माना जाए तो मुक्ति मे जब आत्मा के विशेष गुण बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म,

और सस्कार आदि के समाप्त होने पर आत्मा का भी अभाव होना चाहिये क्योकि जैन मत इनका विनाश ही मुक्ति मानता है, परन्तु वैशेषिको का यह तर्क उचित नही है। सर्वप्रथम तो ज्ञान और आत्मा मे समवाय सबध कैसे बनता है? समवाय तो एक ही है और व्यापक भी। अगर यह माने कि ज्ञान और आत्मा मे समवाय दूसरे समवाय से रहता है तो इस प्रकार समवायो की अनत श्रृखला माननी होगी और अनत समवाय मानने से अनवस्था दोष आएगा।

यदि यह सोचे कि समवाय मे समवायातर मानने की आवश्यकता नही है, वह अपने आप ही रहता है तो ज्ञान और आत्मा मे भी वह अपने आप रह लेगा। वैशेषिक इसे स्पष्ट करने के लिये दीपक का उदाहरण देते है कि दीपक का स्व पर प्रकाशक स्वभाव है, परन्तु दीपक का दृष्टात घटित नही होता क्योकि दीपक द्रव्य है और प्रकाश उसका धर्म है जबकि वैशेषिक तो धर्म और धर्मी को सर्वथा भिन्न मानते है। अत यह मानना ही युक्तियुक्त है कि ज्ञान आत्मा का आगतुक गुण नही, स्वाभाविक गुण है। गुण और पर्याय ही सत् का लक्षण है।

**षड् द्रव्यो का भिन्न भिन्न निरूपण–**

जैन दर्शन ने सृष्टि को छ पदार्थो मे समाहित किया है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय जैन दर्शन की अपनी मौलिक धारणा है। इनके सबध मे जैन दर्शन के अतिरिक्त किसी भी दर्शन ने न तो धारणा बनायी और न सिद्धि की। मध्ययुगीन विज्ञान धर्मास्तिकाय को यद्यपि "ईथर" के नाम मे अस्तित्व मे लाया था, परन्तु वर्तमान के विज्ञान ने ईथर का निरसन कर दिया है।

यदि धर्मास्तिकाय एव अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व नही होता तो पदार्थो की सतुलित व्यवस्था नही होती और उसके अभाव मे या तो पदार्थ अनत मे भटकते रहते या मात्र स्थिति ही रहती। फिर जीव और पुद्गल की मोक्ष तक ही न तो गति रहती और न स्थिति ही। लोक और अलोक का जो विभाजन है, वह भी इन दोनो द्रव्यो के कारण ही है।

यहाँ यह भी स्पष्ट समझना चाहिये कि ये दोनो उदासीन सहायक है।

यह नही कि जीव और पुद्गल को ये जबरन गति या स्थिति हेतु प्रेरित करते है। इन दोनो द्रव्यो मे परिणमन भी शुद्ध होता है। द्रव्य का मूल स्वभाव परिणमन है और इस परिणमन स्वभाव के कारण पूर्व पर्याय को छोडकर उत्तर पर्याय को धारण करने का क्रम अनादि काल से सतत चालू है और यह प्रवाह अनतकाल तक चालू ही रहेगा।

इन दोनो तत्वो को मानने की अनिवार्यता इसलिए पैदा हुई कि किसी ऐसे तत्त्व की आवश्यकता थी जो जीव और पुद्गलो के गति और स्थिति को नियत्रित करे। आकाश एक अमूर्त्त, अखण्ड, और अनत प्रदेशी द्रव्य है। उसकी सत्ता सर्वत्र समान है, अत उसके इतने प्रदेशो तक पुद्गल और जीवो का गमन है, आगे नही। यह नियत्रण अखण्ड आकाश द्रव्य नही कर सकता क्योकि उसमे प्रदेश भेद होने पर भी स्वभाव भेद नही है।

जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य भी गति और स्थिति मे सहायक नही बन सकते क्योकि वे तो स्वय गति और स्थिति करने वाले है। काल मात्र परिवर्तन स्वभावी है। अत धर्म और अधर्म द्रव्य को लोक और अलोक के मध्य विभाजक तत्त्व की मान्यता दी और उसे गति स्थिति मे उदासीन सहायक द्रव्य के रूप मे स्थापित किया।

**आकाश द्रव्य.**—समस्त जीव-अजीव का आश्रय दाता/स्थान देने वाला आकाश तत्त्व है। जैन दर्शन ने आकाश का गुण अवगाह माना है जबकि न्याय वैशेषिक ने शब्द को आकाश का गुण माना है, परन्तु शब्द पौद्गलिक इन्द्रियो से गृहीत है, पुद्गलो से टकराता है, स्वय पुद्गलो को रोकता है और पुद्गलो से भरा जाता है, अत वह पौद्गलिक ही हो सकता है।

जैन दर्शन शब्द को पुद्गल की भाषावर्गणा मानता है। शब्द के आश्रित द्रव्य परमाणु इन्द्रिय का विषय होने से वायु की अनुकूलता पर दूर स्थान पर खडे श्रोता तक पहुँच जाते है और वायु की प्रतिकूलता पर समीप बैठे श्रोता तक भी नही जा पाते। अत जिस प्रकार गध इन्द्रिय का विषय होने के कारण पौद्गलिक है, वैसे ही शब्द भी इन्द्रिय का विषय होने से पौद्गलिक है। आज विज्ञान के क्षेत्र मे भी शब्द का पौद्गलिक स्वरूप सिद्ध हो चुका है। टी वी टेलीफोन, रेडियो आदि यत्रो के माध्यम से शब्दो की तरगो को

पकडना जैन, दर्शन के शब्द की पुद्गल व्याख्या को ही मान्यता देता है। शब्द आकाश का गुण इसलिये भी नही हो सकता कि आकाश तो नित्य है और शब्द अनित्य। यद्यपि यह कहा जाता है कि रामायण और महाभारत कालीन शब्द भी विज्ञान द्वारा कभी न कभी प्रकट किया जायेगा, परन्तु यह मानना असभव है।

विज्ञान उसी कार्य की क्रियान्विति कर सकता है, जो सभव है। अगर विज्ञान से यह अपेक्षा रखी जाए कि वह समाप्त हुए शरीर को पुन वैसा ही बना दे या व्यतीत हुई ऋतुओ को पुन आमन्त्रित करे तो यह असभव होगा। अत हम कह सकते है कि शब्द गुण नही, पर्याय है क्योकि वह अनित्य है। गुण इसलिए भी नही है कि शब्द उत्पन्न होता है। गुण कभी उत्पन्न नही होता। गुण त्रैकालिक होते है। नित्य आकाश का अनित्य शब्द गुण कैसे हो सकता है? अगर शब्द नित्य और स्थायी होता तो आज सर्वत्र शोर ही शोर होता और भयकर अशाति का माहौल हो जाता। फिर खामोशी या निस्तब्धता सभव ही नही थी। परन्तु ऐसा नही है। इसी से लगता है, शब्द न आकाश का गुण है, न पुद्गल। का वह तो मात्र पुद्गल की अशाश्वत पर्याय है।

शब्द आकाश का गुण इसलिये भी सभव नही है कि आकाश अमूर्त्तिक और स्थिर है। उसमे किसी प्रकार के कपन की सभावना नही है, जबकि शब्द तो साक्षात् कपन है। किसी बजते हुए घटे पर हाथ रखकर देखे तो हमे इस बात का विश्वास हो जायेगा। जब तक कपन है, तभी तक शब्द है। ज्योहि कपन रुका, शब्द तुरत बन्द हो जाएगा। अत यह तर्क और विज्ञान दोनो द्वारा प्रमाणित है कि शब्द पुद्गल की ही क्षणिक पर्याय है न कि आकाश का गुण।

शब्द कपन के कारण होता है। पुद्गल मे प्रकट होने वाला कपन वायु मडल मे आ जाता है और वायुमण्डल सर्वत्र विद्यमान होने से उस कपन का भी स्पर्श कर लेता है। उसी वायुमडल का वह कपन हमारे कानो का भी स्पर्श करता है, अत जो शब्द हम सुनते है, वह उस वायु का ही कपन है। अगर वायु विपरीत दिशा मे वह रही है तो हमको वह शब्द सुनाई नही देता क्योकि वह कपन वायु की दिशा मे वह जाता है और अगर वायु हमारी दिशा मे वह रही हो तो दूर का शब्द भी सहज ही सुनने मे आ जाता

है, यह  बात हमारे अनुभव मे भी अक्सर आ जाती है। बादल तथा बिजली की कडकडाहट सहजतया हमारे सुनने मे आती है क्योकि वहाँ वायु मडल है, परन्तु सूर्य मे होने वाले विस्फोट हम नही सुनते क्योकि वहाँ के वायुमडल और पृथ्वी के वायुमडल के बीच मे बडा अतराल है अर्थात् सूर्य के वायुमडल और पृथ्वी के बीच मे बडा अतराल है। इन दोनो के बीच कोई सबध नही है। इनके मध्य मात्र आकाश है। अगर शब्द आकाश का गुण होता तो सूर्य मे होने वाला विस्फोट अवश्य सुनाई देता क्योकि आकाश सर्वत्र है।

जैन दर्शन ने आकाश का गुण शब्द न मानकर अवगाहन माना है। समस्त पदार्थों को रहने का स्थान देना और किसी प्रकार की रुकावट न डालना, इसे आगम भाषा मे अवगाहन कहते है। अवगाहन का अर्थ-मात्र इतना ही नही कि पृथक्-पृथक् पदार्थ अपने-अपने स्थान पर स्थित रहे, अपितु अवगाहन का अर्थ है- पदार्थ चाहे जहाँ ठहर जाय। इसी गुण के कारण पदार्थ चाहे जहाँ प्रवेश भी पा सकता है और रह भी सकता है, जैसे शीशे मे प्रकाश प्रविष्ट भी हो जाय और स्थित भी हो जाय।

आज के विज्ञान मे यह प्रयोग सिद्ध है कि पदार्थ एक दूसरे मे समाविष्ट हो जाता है। एक्सरे की किरणे, चुबक की किरणे तथा रेडियो की विद्युत् तरगे जो कि सूक्ष्म पदार्थ है, अन्य पदार्थ मे प्रवेश पाते हुए स्पष्ट देखते है। एक्स-रे शरीर मे से आरपार हो जाता है और सामने वाली प्लेट पर शरीर के अन्दर का फोटो खिंच जाता है। रेडियो की विद्युत तरगे पर्वतो तक को भेदकर दूर-दूर देशो से हमारे पास चली आती है।

जैसा कि आकाश के प्रदेशो के विवेचन मे हमने स्पष्ट किया था कि आकाश के असख्यात प्रदेश है। यहाँ प्रश्न होता है कि आकाश के असख्यात प्रदेशो मे अनन्तानन्त पदार्थ कैसे रह सकते है? इसका उत्तर यही है कि अनन्तानन्त पदार्थ एक दूसरे मे समाकर रहते है। जीव तो होता ही अमूर्त्त है और अमूर्त्त इतने सूक्ष्म होते है कि वे एक दूसरे मे बिना टकराये आसानी से रह सकते है। मात्र मूर्त्त पदार्थ ही स्थान घेरते है और एक दूसरे से टकराते है। मूर्त्तिक पदार्थ के छह भेदो मे भी सूक्ष्म स्कध और सूक्ष्म परमाणु भी पदार्थो मे समा सकते है। केवल मूर्तिक स्थूल पदार्थ ही टकराते है और एक दूसरे मे नही रहते है।

इस प्रकार जैन दर्शन वह पहला दर्शन है, जिसने आकाश का गुण शब्द न मानकर अवगाहन माना है और शब्द को पुद्गल की क्षणिक और अशाश्वत पर्याय मात्र माना है।

अवगाहन गुणवाला यह आकाश यद्यपि असीम और व्यापक है, परन्तु यह दृष्ट जगत न व्यापक है न असीम। जितने भाग मे पदार्थ या द्रव्य पाये जाते है, उसे लोकाकाश और जहाँ मात्र आकाश ही उपलब्ध होता है, उसे अलोकाकाश कहते है। इस लोकाकाश और अलोकाकाश के विभाजन से हमे यह नही समझना चाहिये कि आकाश खण्डित हो गया। वास्तव मे यह विभाजन काल्पनिक है, जिस प्रकार घडे की पोलाहट को हम घटाकाश कहते है और उससे बाहर फैले हुए असीम आकाश को केवल आकाश कहते है, परन्तु इससे आकाश खण्डित नही होता। असीम आकाश मे यह लोक एक घट की भाँति ही समझना चाहिये। सीमा के अन्दर को लोक और उससे बाहर को अलोक समझना चाहिये।

लोकाकाश और अलोकाकाश के मध्य किसी प्रकार की दीवार भी बनी हुई नही है। जहाँ जीव और पुद्गल गमन और स्थिति कर सके, वह लोक और उसके अतिरिक्त सपूर्ण अलोक है। लोकाकाश को भी तीन भागो मे विभाजित करके सम्पूर्ण चराचर प्राणियो और लोकाग्र के भाग मे मुक्त जीवो के स्थित रहने का आगमो मे ज्ञानियो द्वारा स्पष्टीकरण उपलब्ध होता है।

**काल**:—काल शब्द अत्यत प्राचीन है। अथर्ववेद मे काल शब्द को नित्य पदार्थ माना गया है, तथा इस नित्य पदार्थ से प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। जैन दर्शन की काल के सबध मे दो मान्यताऐं है। एक मान्यता काल को स्वतत्र द्रव्य मानती है। दूसरी मान्यता काल को जीव-अजीव द्रव्य मे ही समाहित कर लेती है।

काल को दो भेदो मे विभाजित किया गया है। व्यवहार काल एव निश्चय काल। जिस प्रकार पदार्थो की गति और स्थिति मे धर्म और अधर्म द्रव्य सहकारी कारण है, वैसे ही परिवर्तन का कारण काल है। जिसके कारण द्रव्यो मे वर्तना होती है, यह निश्चयकाल है एव पदार्थो मे छोटापन-वडापन आदि व्यवहार काल का सूचक है। व्यवहारकाल निश्चयकाल का पर्याय है। यह पदार्थ काल जीव और पुद्गल के परिणाम से ही उत्पन्न होता है और

इसी कारण व्यवहारकाल को जीव और पुद्गल के आश्रित माना गया है। कालद्रव्य को अणुरूप माना गया है, उसके स्कध नही होते। जितने लोकाकाश के प्रदेश होते है, उतने ही कालाणु होते है। ये एक-एक कालाणु गति रहित होने से लोकाकाश के एक-एक प्रदेश के ऊपर रत्नो की राशि की तरह अवस्थित है। आकाश के एक स्थान मे मदगति से चलने वाला परमाणु लोकाकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जितने काल मे पहुँचता है, उसे समय कहते है। यह समय अत्यन्त सूक्ष्म होता है और प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होने के कारण इसे पर्याय कहते है। यहाँ एक शका हो सकती है, इस "समय घण्टा-मिनिट" आदि के अतिरिक्त और कोई निश्चयकाल नही है। काल के दो भेद की कोई आवश्यकता नही है। इसका समाधान है- काल के दो भेद अनिवार्य है, क्योकि "समय मिनिट घटा" आदि काल का ही पर्याय है और पर्याय द्रव्य के बिना नही होती। जिस प्रकार घट रूप पर्याय का कारण मिट्टी है। उसी प्रकार समय मिनिट आदि पर्यायो का कारण कालाणु रूप निश्चय काल को मानना चाहिये।

पुन इसके समाधान मे एक शका हो सकती है कि समय-मिनिट आदि पर्यायो का कारण द्रव्य नही है, परन्तु मदगति से जाने वाले पुद्गल परमाणु ही इनका कारण है। जिस प्रकार निमेष रूप काल पर्याय की उत्पत्ति मे आँखो की पलको का खुलना और बद होना कारण है, उसी प्रकार व्यवहार काल के दिन रूप पर्याय की उत्पत्ति मे सूर्य कारण है न कि निश्चय काल। इसका समाधान इस प्रकार दिया जा सकता है कि कारण और कार्य मे परिवर्तन होने पर भी समानता अवश्य पायी जाती है। आँखो का खुलना और बद होना निमेष का एव दिन रूप पर्याय का कारण सूर्य ही उत्पादन कारण होता तो जिस प्रकार मिट्टी से बने घडे मे मिट्टी के रूप रस गुण आदि आते हैं, निमेष एव दिन मे क्रमश आँखो की पलको के खुलने और बद होने के तथा सूर्य आदि के पुद्गल परमाणु आ जाते, परन्तु इस प्रकार से हमे इनमे ये पुद्गल उपलब्ध नही होते। अत मानना होगा कि समय आदि व्यवहारकाल का उपादान कारण निश्चयकाल है।

काल का मुख्य सहयोग पदार्थो के परिवर्तन में उदासीन सहयोग देता है। परिवर्तन दो प्रकार का है-क्षेत्रात्मक और भावात्मक। क्षेत्रात्मक परिवर्तन धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य द्वारा होता है, और भावात्मक परिवर्तन काल-

द्वारा निष्पन्न होता है। काल के अभाव मे गुणात्मक या भावात्मक परिवर्तन की कल्पना सभव नही बनती। क्षेत्रात्मक परिवर्तन की प्रतिक्षण सभावना नही होती जबकि भावात्मक परिवर्तन तो प्रारभ ही रहता है।

यह भावात्मक परिवर्तन भी दो प्रकार का होता है– सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म परिवर्तन वह है जो पदार्थ के अन्दर ही अन्दर होता रहता है। यह परिवर्तन दृष्टिगत नही होता। स्थूल परिवर्तन वह है जो बाहर से दृष्टिगत हो जाता है, परन्तु यह स्थूल परिवर्तन बिना सूक्ष्म परिवर्तन के सभव ही नही है क्योकि पदार्थ एकदम नही बदलता। छोटा-सा बच्चा प्रतिक्षण कद बढ़ा रहा है, परन्तु वह महसूस नही होता क्योकि सूक्ष्म है। यह सूक्ष्म परिवर्तन सभी द्रव्यो मे पाया जाता है। स्थूल परिवर्तन मात्र जीव और पुद्गल मे ही पाया जाता है।

## पुद्गल

अग्रेजी मे जिसे 'मेटर' कहा जाता है, जैन आगमो की भाषा मे उसी को पुद्गल कहा जाता है। जो कुछ भी चित्र-विचित्र विविध स्वरूप हम देखते है, वह सारा पुद्गल का ही स्वरूप है। जैन आगमो ने सपूर्ण पदार्थो को छह काय मे समाहित किया है– पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस। जब तक आत्मा इनमे विद्यमान होती है, ये जीव युक्त कहलाते है। आत्मा के विमुक्त होते ही ये अजीव पुद्गल होते है। जीवो का वर्गीकरण इन पौद्गलिक शरीरो के आधार पर ही किया गया है। जरा हम दृष्टिपात करे- सृष्टि के चारो ओर ऐसा कौन सा दृष्ट पदार्थ है जो कभी जीवाश्रित न रहा हो? चाहे पानी हो या आग, चाहे रत्न हो या फल फूल, सभी तो जीव पिंड या जीवाश्रित है।

ये छह काय भी पचभूतो मे समाविष्ट हो जाते है। छह काय मे जो वनस्पति और त्रसकाय गिनाया है, ये दो इन पच महाभूतो के सघात या मिलन से ही बनते है। इसका स्पष्ट विवेचन इस प्रकार से है।

पृथ्वी, जल आदि पच महाभूतो के मेल मे जिस भूत का अश ज्यादा होगा, वह उसके अनुरूप ही बनेगा। जैसे पाचो के सघात मे पृथ्वी का अश ज्यादा है तो वह वस्तु ठोस होगी। यदि जल की अधिकता हो तो तरल होगी,

तेज की अधिकता होने पर उष्णवान एव वायु की अधिकता से हल्की एव सचरणशील और यदि आकाश का भाग अधिक हो तो खाली स्थान रूप दिखाई देगा। जैसे वर्षा के दिनो मे यद्यपि वायु जलमिश्रित होती है, फिर भी कहलाती वायु ही है और गर्मी के मौसम मे यद्यपि वायु मे तेज या आग का मिश्रण रहता है, फिर भी कहते उसे वायु ही है। इसका कारण वायु की अधिकता/मुख्यता है।

वनस्पति के निर्माण को हम देखे। बीज को पृथ्वी मे डालकर जल से सिंचन करते है, उसमे से अकुर फूटता है जो वायु को एव सूर्य के तेज को लेकर वृद्धि को प्राप्त होता है तथा फल और फूलो से युक्त बनता है। इस प्रकार हम देखते है, वृक्ष के निर्माण मे पृथ्वी, जल, तेज और वायु, चारो ही भूतो का योगदान रहा है। वृक्ष अपनी सपूर्णता प्राप्त कर भी इन चारो से युक्त रहता है। जैसे उसकी टहनियो मे पृथ्वी अधिक है और जल कम, अत वह कुछ ठोस है। पत्तो मे उसकी अपेक्षा अधिक जल है और फूलो मे उससे अधिक जल है। शेष जो ईधन है, वह ठोस होने के कारण पृथ्वी का भाग है। फल फूलो की चमक अग्नि का भाग है और इन सबमे जो पोलापन है, वह आकाश है। अगर पोलापन नही होता तो उसमे कील आदि प्रविष्ट नही हो सकती। पोलापन मे वायु भी होती है अत कहा जा सकता है कि वृक्ष या वनस्पति इन पचमहाभूतो का ही सयोग है।

हम इन पच महाभूतो से व्याप्त अपने शरीर को सदैव देखते ही है। इस प्रकार गूढ़ दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि यह सपूर्ण ससार पच महाभूतो की ही रचना है।

पुद्गल को और भी गहराई से जानने का अगर प्रयास किया जाय तो लगता है कि सृष्टि मे इन पाच महाभूतो का ही स्वतत्र अस्तित्व नही है। इन पच महाभूतो का आधार भी वास्तव मे "इलेक्ट्रोन और प्रोटोन" नाम वाले दो पदार्थ है। इनमे न्यूनाधिक सगम से ही महाभूतो का या पदार्थों का निर्माण होता है। ये इलेक्ट्रोन और प्रोटोन इतने सूक्ष्म होते है कि इन्हे इन्द्रियो द्वारा देखा नही जाता। अगर तात्त्विक दृष्टि से देखे तो सोने और लोहे मे कोई अतर नही होता। दोनो ही इलेक्ट्रोन और प्रोटोन के सगम से बने है। पदार्थो मे इन दोनो तत्त्वो की न्यूनाधिकता अवश्य होती है। इन दोनो का आधार भी परमाणु है।

इस परमाणु को विज्ञान अभी तक खोज नही पाया है। क्योकि विज्ञान का परमाणु विभक्त होता है जबकि जैन दर्शन का परमाणु विभक्त नही होता। समस्त भौतिक तत्वो का मुख्य आधार परमाणु ही है। यह परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होता है, न इन्द्रिय द्वारा और न यत्र द्वारा इसे देखा जा सकता है। इसे तो मात्र परमात्मा की वाणी द्वारा जाना जा सकता है और जब अनेको परमाणु एकत्रित होते है तभी वे स्कध कहलाते है और हमारे दृष्टिपथ मे अवतरित होते है।

वैशैषिक दर्शन मे परमाणुवाद मुख्य विषय है। वे चारो जातियो के अलग-अलग परमाणु मानते है। प्रत्येक मे गुणो की भी अलग-अलग कल्पना करते है जैसे पृथ्वी परमाणु मे मात्र गध गुण, जल मे मात्र रस गुण, अग्नि के परमाणु मे मात्र रूप गुण, वायु मे मात्र स्पर्श गुण, परन्तु उनकी यह मान्यता विज्ञान द्वारा भी खडित हो जाती है। आज यह प्रमाणित तथ्य है कि पृथ्वी हो या जल ये इलेक्ट्रोन और प्रोटोन के मिश्रण से ही बने है और दोनो के मूल मे भी परमाणु है।

इस दृष्टिकोण से मूल द्रव्य परमाणु हुआ और जितने भी द्रव्य होते है, वे सभी परिवर्तनशील तो होते ही है। इन परमाणुओ के गुणो मे भी तारतम्य होता रहता है जैसे स्पर्श गुण को ले। स्पर्श गुण मे मुख्यत चार बाते पायी जाती है– ठण्डा, गरम, चिकना, और रूखा। चिकने और रूखे पर हम दृष्टिपात करेगे क्योकि इन्ही के कारण बध और मुक्ति है। चिकने से तात्पर्य आकर्षण और रुखेपन से तात्पर्य विकर्षण से है जिसे वैज्ञानिक प्रोटोन (आकर्षण) और इलेक्ट्रोन (विकर्षण) कहते है।

जीव का ससार इन पुद्‌गलो का आत्मा से सयोग के कारण ही है। जीव मिथ्यात्वादि क्रियाओ से कर्म पुद्‌गलो को आकर्षित करता है और वे कर्म पुद्‌गल ही ससार का निर्माण करते है। हमारा मन, वचन और काया इन पुद्‌गलो की ही देन है। जैन दर्शन ने श्वास को भी पुद्‌गल माना है।

परमाणु आकाश के प्रत्येक प्रदेश मे अनतानत भरे पडे हैं। परिणमनशील होने के कारण स्वत ये परमाणु रुक्ष और स्निग्ध होते रहते है। ये रुक्ष और स्निग्ध रूपो मे विभक्त परमाणु विज्ञान को प्रोटोन और इलेक्ट्रोन के रूप मे मान्य है। ये आकर्षित होने और आकर्षित करने की शक्ति मे युक्त है।

ये परमाणु आत्मा की अशुभ क्रियाओ से आकृष्ट होकर आत्मा मे चिपक

जाते है जिन्हे शुभक्रिया के अभाव मे अलग नही किया जा सकता। इन पुद्गल परमाणुओ के सम्मिश्रण की अवस्था मे आत्मा को एक अपेक्षा से पुद्गल भी कहा जाता है। पुद्गल की सयोगावस्था आत्मा को अशुद्ध बना देती है और यह अशुद्धावस्था जब तक समाप्त नही होती तब तक आत्मा स्थायी आवास सिद्धपद को उपलब्ध नही करती। जैन दर्शन मूलतत्व परमाणु मानता है, परतु जैनदर्शन का यह परमाणु वैशेषिक की तरह कूटस्थ नित्य नही है, अपितु परिणामी नित्य है।

**जीव**

जैन दर्शन का एक मात्र लक्ष्य है जीव। जीव को जानना, उसे समझना और उसकी सपूर्ण शुद्धि के प्रयास करना। अजीव का स्वरूप और परिचय देने का कारण भी जीव ही है। हम यह समझ ले कि जीव क्या है और अजीव क्या है? तब ही अजीव से जीव को मुक्त करने का पुरुषार्थ कर सकते है। जब तक उसका सपूर्ण परिचय प्राप्त नही कर लेते, तब तक जीव को अजीव से मुक्त नही कराया जा सकता।

जितना सूक्ष्म वर्गीकरण जैन दर्शन ने जीव का किया है, अन्य दर्शन नही कर पाये और इसी वर्गीकरण के कारण जैनदर्शन की अहिसा भी उतनी ही सूक्ष्म होती गयी।

जीव का अपना मूल स्वभाव है समता, सरलता और विरक्ति। जिस प्रकार जल मूल स्वभाव से शीतल है, परतु आग के सयोग के कारण गर्म होता है और कृत्रिम साधनो से अलग होते ही पुन मूल स्वरूप मे स्थिर बन जाता है।

यहाँ अगर यह प्रश्न उठाया जाय कि जीव मे कर्म का सयोग कब से है तो इसका समाधान यही है कि अनादि से। जिस प्रकार खदान का सोना कब अशुद्ध बना, इसका उत्तर समयावधि मे नही दिया जाता। वैसे ही आत्मा का कर्म सयोग कब बना, उत्तर नही दिया जा सकता। हाँ इतना निश्चित है कि एक बार शुद्ध होने के बाद पुन वह अशुद्ध नही होता।

आत्मा शब्दातीत मानी गयी है क्योकि वह अमूर्त्त है। अमूर्त्त का न आकार होता है न रूप। जितना भी आकार है वह सारा पुद्गल का है।

भारतीय मनीषियो मे मात्र चार्वाक के अतिरिक्त सभी ने आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया है। मात्र स्वीकृति ही दी ऐसा भी नही है, उसके स्वरूप और विश्लेषण मे अपना पूरा ध्यान केन्द्रित किया है। भिन्न-भिन्न मतो का कारण भी यही रहा। जिन्हे जो सत्य तथ्य लगा, उसे उन्होने सिद्धात का रूप दे दिया। उपनिषद् की दृष्टि ब्रह्मवादी दृष्टि है। उन्होने ससार को ब्रह्म का अश माना है।

जैन दर्शन जीव को स्वतत्र अस्तित्व युक्त मानता है। इसमे चैतन्य सहज स्वाभाविक है। जीव भी अनादि अनत है। ससार जीव रहित कभी नही हो सकता। जिस प्रकार गणित मे अनत मे से अनत निकाले तो अनत ही शेष रहेगे, वैसे ही अनतजीव मोक्ष को प्राप्त करे ले फिर भी अनत जीव ससार मे परिभ्रमण करते रहेगे।

जीव का विकास उसके स्वय के पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। निगोद से जीव की विकास यात्रा प्रारभ होती हुई मोक्ष तक पहुँचकर पूर्णता को प्राप्त करती है।

शक्ति की दृष्टि से सभी जीव समान है, चाहे एकेन्द्रिय जीव हो चाहे पचेन्द्रिय, बलाबल की समानता होने पर भी कुछ जीव पूर्णता को उपलब्ध कर लेते है और कुछ जीव भटकते रहते है। इसका कारण जीव की स्वाभाविक अनत और असीम शक्ति को कुछ तो पुरुषार्थ द्वारा प्रकट कर देते है और कुछ जीव पुरुषार्थहीन होकर जहाँ-तहाँ भ्रमण करते रहते है।

जीव के सबध मे जैन दर्शन की अन्य दर्शनो से अलग विलक्षण और अलौकिक मान्यता यही है कि जैन दर्शन मे ईश्वर आदर्श या प्रेरक जरूर है परतु इसके अतिरिक्त कुछ भी नही है। जीव स्वय ही अपने पुरुषार्थ द्वारा अपनी मजिल तय करता है तथा ईश्वरत्व को उपलब्ध कर लेता है। हर आत्मा परमात्मा स्वरूप है। ऐसा नही कि एक ही ईश्वर है और अन्य सभी भक्त के रूप मे ही रहते। अपितु प्रत्येक आत्मा ईश्वर-शक्ति मे सपन्न है।

जैन दर्शन का आचार पक्ष की स्थापना का कारण जीव की अपनी सत्ता और शक्तियो का प्रकट करना ही है। जीव के वर्गीकरण की सूक्ष्मता को पहचान करके हम अपने आपको उन जीवो की हिंसा मे विरत करे एव अपने निज स्वरूप अनत ज्ञान, दर्शन, चारित्र को उपलब्ध करे।

# संन्दर्भ - ग्रन्थ-सूची


1 अकलकत्रय - अकलक देव, स महेन्द्रकुमार शास्त्री, प्र सिघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद सन् 1939

2 अध्यात्म रहस्य - (हिन्दी व्याख्या सहित) प आशाधर स प जुगल किशोर मुख्तार, प्र वीर सेवा मदिर, दिल्ली सन् 1957

3 अध्यात्म कमल मार्तण्ड - प राजमल्लजी, स प्र दरबारीलाल कोठिया, प परमानन्द जैन, प्र वीर सेवा मदिर, सरसावा, जिला सहारनपुर, प्रथमावृत्ति सन् 1944

4 अध्यात्म मत परीक्षा - रचित यशोविजय, प्र दिव्य दर्शन ट्रस्ट 68 गुलालवाडी, बम्बई-4 प्र स

5 अधि-नीति शास्त्र के मुख्य सिद्धान्त - डॉ वेदप्रकाश शर्मा, प्र अलाईड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, 15 जे एन हिरेडिया मार्ग, बैलर्ड एस्टेट बम्बई, प्र स 1987

6 अनुयोगद्वार सूत्र - चतुर्थ खण्ड, स देवकुमार जैन प्र श्री आगम प्रकाशन - समिति, ब्यावर (राज ) प्र स 1987

7 अभिनव पर्यायवाची शब्द कोष - सत्यपाल गुप्त व श्यामकपूर, प्र आर्य बुक डिपो, नयी दिल्ली, सन् 1960

8 अष्ट सहस्री - प्रथम भाग श्री विद्यानदाचार्य, ज्ञानमति माताजी प्र दि जैनत्रिलोक शोध सस्थान हस्तिनापुर (U P) प्र स 1972

9 अष्ट पाहुड-चयनिका - स डॉ कमलचद सोगानी प्र प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्र स 1987

10 अष्ट पाहुड (हिन्दी वचनिका सहित) कुन्दकुदाचार्य, प्र अनन्तकीर्ति माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र स 1916

11 अष्टसहस्री - विद्यानन्दि स गुरुवर गोपालदास, प्र नाथूलाल गाधी श्री नाथारगजी, सन् 1915

12 अर्हत-प्रवचन - स प चेनसुखदास, प्र आत्मोदय ग्रन्थमाला

13 आगमयुग का जैन दर्शन - प दलसुख मालवणिया, प्र सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् 1966

14 आचाराग चयनिका - स डॉ कमलचन्द सोगानी, प्र प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर दि स 1987

15 आचाराग निर्युक्ति - भद्रबाहु (दि ) प्र सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई, वि स 1935

16 आत्मानुशासन - ले गुणभद्र, स बालचद सिद्धातशास्त्री प्र जैन सस्कृति सरक्षक सघ सोलापुर, तृ स 1987

17 आत्ममीमासा - (हिन्दी विवेचन सहित) प मूलचन्द्रजी शास्त्री, प्र श्री शान्तिवीर दि जैन सस्थान, सन् 1970

18 आत्मवाद - ले मुनि फूलचन्द 'श्रमण' स मुनि समदर्शी, प्र प्राचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, लुधियाना प्र स 1965

19 आत्म तत्व विचार - प्रथम भाग, श्रीमद् लक्ष्मण सूरीश्वरजी म , म श्री कीर्तिविजय गणिवर, प्र वी वी मेहता

20 आत्म-प्रसिद्धि - ले हरिलाल जैन, श्री सेठी दि जैन ग्रथमाला, बम्बई, वी नि स 2490

21 आत्ममीमासा की तत्वदीपिका नामक व्याख्या - रचित आ समन्तभद्र ले प्रो उदयचन्द्र जैन, प्र श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन सस्थान नारिया, वाराणसी प्र स वी नि स 2401

22 आप्त परीक्षा - विद्यानन्द, अनु प दरबारीलाल जैन, प्र वीर सेवा मदिर, सहारनपुर, सन् 1949

23 आयारो - स मुनि नथमल, प्र जैन विश्व भारती, लाडनूँ, वि स 2031

24 आलाप पद्धति - देवसेन, स प कैलाशचन्द शास्त्री, प्र भारतीय ज्ञानपीठ, काशी सन् 1971

25 उत्तराध्ययन सूत्र - प्रथम खण्ड (1 से 10) स श्रीचद सुराणा 'सरस' प्र सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, जयपुर प्र स 1987

26 उत्तराध्ययन सूत्र - द्वितीय खण्ड (11 से 22) स श्रीचद सुराना 'सरस' प्र सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल बापू बाजार जयपुर प्र स 1985

27 उत्तराध्ययन सूत्र - तृतीय खण्ड (23 से 36) स श्रीचद सुराणा 'सरस' प्र सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार जयपुर प्र स 1980

28 कुन्दकुन्दाचार्य की प्रमुख कृतियो मे दार्शनिक दृष्टि-सुषमा गॉग ले डॉ दयानद भार्गव, प्र भारतीय विद्या प्रकाशन, 1 यू बी जवाहर नगर बैग्लो रोड दिल्ली, प्र स 1982

29 गणधरवाद - गुजराती ले प दलसुख मालवणिया, हिन्दी अनु प्रो पृथ्वीराज प्र राजस्थान प्राकृत भारतीय सस्थान जयपुर, प्र स 1982

30 गणधरवाद - ले प श्री भानुविजयजी, प्र दिव्यदर्शन प्र विज्ञान, आत्मानन्द जैन सभा भवन, घी वालो का रास्ता, जयपुर-3

31 गणितानुयोग - स मुनि कन्हैयालाल कमल, प्र आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद वी नि स 2495

32 ग्रीक एव मध्ययुगीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास - ले जगदीश सहाय श्री वास्तव, प्र किताब महल, 15 थानी हिल रोड, इलाहाबाद, प्र स 1968

33 गोम्मटसार जीवकाण्ड (हिन्दी अनुवाद सहित) - नेमीचन्दाचार्य सिद्धान्त चक्रवर्ती, द्वितीयावृत्ति, प्र रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, परमश्रुत, प्रभावक मण्डल, वम्बई, वी नि स 2453

34 जैन धर्म दर्शन - ले मुनि नथमल, प्र मेठ मन्नालालजी सुराना मेमोरियल ट्रस्ट 81 सदर्भ एवेन्यू कलकत्ता - 29, प्र म 1960

35 जैन धर्म - ले डॉ सपूर्णानन्द, प्र मत्री साहित्य विभाग भा दि जैन सघ चौरासी, मथुरा प्र स 1948

36 जैन दर्शन और अनेकान्त - युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्र कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक, आदर्श साहित्य सघ चुरू (राज)

37 जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान - मुनि श्री नगराजजी, स मोहनलाल, प्र रामलालपुरी, सचालक, आत्माराम एण्ड मन्स कश्मीरी गेट, दिल्ली-6, सन् 1959

38 जैन दर्शन मे आत्म विचार - ले डॉ लालचन्द जैन प्र पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणमी-5 प्र स 1984

39 जैन भारती - ले श्री ज्ञानमति माताजी, प्र दि जैन त्रिलोक शोध सस्थान, हस्तिनापुर (मेरठ) प्र स 1990

40 जैन दर्शन आधुनिक दृष्टि - डॉ नरेन्द्र भानावत, प्र सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, जयपुर प्र स 1984

41 जैन सिद्धान्त - प कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्र भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली प्र स 1983

42 जैन तत्व मीमासा - फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, प्र अशोक प्रकाशन मदिर 2/38 भदैनी, वाराणसी

43 जैन दर्शन मे पदार्थ विज्ञान-ले जिनेन्द्र वर्णी, प्र भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन बी/45-47 कनॉट प्लेस, नयी दिल्ली, प्र म 1977

44 जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश - द्वितीय भाग, जिनेन्द्र वर्णी, प्र भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वि स 1986

45 जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनो का तुलनात्मक अध्ययन भाग द्वितीय, ले डॉ सागरमल जैन, प्र राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर प्र म 1982

46 तत्वार्थश्लोकवार्तिकम् - विद्यानन्दि, म प मनोहरलाल, प्र गाधी नाथारग - जैन ग्रन्थमाला, निर्णय मागर प्रेम, वम्बई वी नि स 2444

47 तैत्तिरीय उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर

48 तर्कभाषा-केशवमिश्र प्र स सी , चौक, वाराणसी

49 तर्कसग्रह् - अन्नम भट्ट, प्र हरिदास सस्कृत ग्रन्थमाला सस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, सप्तम स , वि स 2026

50 तत्त्वार्थ वृत्ति (हिन्दी सार सहित) श्रुतसागर, स महेन्द्रकुमार जैन, प्र भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

51 तत्त्वविज्ञान - श्रीमद्रायचद्र, प्र श्री मद्रायचन्द्र ज्ञान प्रचारक ट्रस्ट, राजभुवन, दिल्ही दरवाजा बहार अहमदाबाद प्र स 1963

52 तत्त्वार्थसूत्र - वाचक उमास्वाति, टी सुखलाल प्र जैन सस्कृति सशोधन मण्डल, वाराणसी, सन् 1952

53 तत्त्वार्थ राजवार्तिक - भाग 1,2 - आचार्य अकलक देव, स प महेन्द्रकुमार जैन, प्र भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सन् 1956

54 तत्त्वज्ञान - ले डॉ दीवानचन्द, प्र हिन्दी सूचना विभाग उत्तरप्रदेश, 1968

55 दर्शन के मूल प्रश्न - डॉ शिवनारायण लाल श्रीवास्तव, प्र मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल प्र स 1981

56 दर्शन और चिंतन - ले प सुखलाल, खण्ड प्रथम, द्वितीय प्र प सुखलालजी सन्मान-समिति गुजरात विद्यासभा अहमदाबाद प्र स 1957

57 दर्शन और अनेकान्त - ले प हसराज शर्मा, प्र श्री आत्मानद जैन पुस्तक प्रचारक-मण्डल रोशन मुहल्ला आगरा, प्र स 1928

58 दर्शन पाहुड - कुन्दकुन्दाचार्य, प्र - माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र स वि स 1977

59 दीघ निकाय - (हिन्दी) अनुवादक - राहुल सास्कृत्यायन, प्र महोबोधि सभा सारनाथ, सन् 1936

60 द्रव्यानुभव रत्नाकर - अभयदेवसूरि, ले चिदानन्दजी

61 द्वैत वेदान्त का तात्त्विक अनुशीलन - डॉ कृष्णकान्त चतुर्वेदी, प्र विद्यामन्दिर, दिल्ली, सन् 1971

62 धर्म दर्शन, मनन और मूल्याकन - ले देवेन्द्रमुनि शास्त्री, प्र श्री तारक गुरू जैन ग्रन्थालय, उदयपुर प्र स 1985

63 धर्म और दर्शन - ले देवेन्द्रमुनि, प्र सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामडी, आगरा-2 प्र स 1967

64 धम्मपद - अनुवादक राहुल मास्कृत्यायन, प्र महोबोधि-सभा, सारनाथ प्र स 1933

65 धवला (हिन्दी अनुवाद सहित)— वीरसेन, प्र स, अमरावती

66 न्यायमजरी - न्यायभट्टविरचित, स नगीनजी शाह, प्रथम आह्निकम् प्रकाशक, लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामदिर अहमदाबाद-9, प्र स 1975

67 न्यायमजरी - न्यायभट्ट विरचित, स नगीनजी शाह द्वितीय आह्निकम् प्रकाशक, लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामदिर, अहमदाबाद-9, प्र स 1978

68 न्यायमजरी - न्यायभट्टविरचित, स नगीनजी शाह तृतीय आह्निकम्, प्रकाशक, लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामदिर, अहमदाबाद-9, प्र स 1984

69 न्यायमजरी - न्यायभट्टविरचित, स नगीनजी शाह, चतुर्थ पचम आह्निकम्, प्रकाशक, लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामदिर, अहमदाबाद-9 प्र स 1989

70 नियमसार - रचित पद्मप्रभमल धारिदेव, गुजराती अनुवादक प हिम्मत जेठालाल शाह, हिन्दी अनुवादक प परमेष्ठीदास, प्र श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट ए-4, बापूनगर, जयपुर प्र स 1988

71 नियमसार - कुन्दकुन्दाचार्य, प्र जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीरा बाग, बम्बई, 1916

72 नयचक्र, माइल्ल धवल - स और हिन्दी टीका व्याख्याकार प कैलाशचन्द्र शास्त्रीत प्र भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र स 1971

73 न्यायकुमुदचन्द्र - प्रभाचन्दाचार्य (भाग 1-2) स प महेन्द्रकुमार न्यायशास्त्री, प्र - मत्री श्री नाथूराम प्रेमी माणिकचन्द्र दि जैन ग्रन्थमाला, हीराबाग, गिरगाव, बम्बई-4, प्रथमावृत्ति, वी नि स 2464

74 न्यायदीपिका, अभिनव धर्म भूषण, स और अनुवादक न्यायाचार्य प दरबारीलाल जैन कोठिया, प्र - वीर सेवा मदिर, सरसावा, जिला सहारनपुर, प्रथमावृत्ति 1945

75 न्यायदर्शन (वात्सयायन भाष्य सहित) स श्री नारायण मिश्र, प्र - चौखम्भा स सीरिज वाराणसी, द्वितीय स 1970

76 न्यायविनिश्चय विवरण, भट्टाकलक देव, स प महेन्द्रकुमार जैन, प्र भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र स 1954

77 न्यायसूत्र गौतम ऋषि, स प श्री रामशर्मा, आचार्य सस्कृति सस्थान, बरेली, प्र स 1964

78 न्यायावतार वार्तिक वृत्ति शान्तिसूरि, स प दलमुख-मालवणिया, प्र सिंधी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, प्रथमावृत्ति, सन् 1949

79 नयचक्रसार अने गुरु गुण छत्तीसी - श्रीमद्देवचन्द्रजी श्री अध्यात्म दर्शन प्रचारक मण्डल पाडरा द्वितीयावृत्ति सवत् 1985

80 नन्दीसूत्र - व्या श्री आत्मारामजी म , प्र आ श्री आत्मारामजी जैन समिति, लुधियाना, सन् 1966

81 नय दर्पण - भाग प्रथम, द्वितीय, ले जिनेन्द्रवर्णी, प्र दि जैन पारमर्थिक सस्थाएँ जवेरीबाग, इन्दौर (म प्र ) प्र स 1965

82 प्रज्ञापना सूत्र - प्रथम खण्ड, स ज्ञानमुनि, प्र श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राज ) प्र स 1983

83 प्रज्ञापना सूत्र - द्वितीय खण्ड, स ज्ञानमुनि, प्र श्री आगम प्रकाशन -

समिति, ब्यावर (राज ) प्र स 1984

84 प्रज्ञापना सूत्र - तृतीय खण्ड, स ज्ञानमुनि, प्र श्री आगम प्रकाशन - समिति, ब्यावर (राज ) प्र स 1980

85 प्रवचनसार - रचित श्री अमृतचन्द्राचार्य देव तत्व प्रदीपिका नामक सस्कृत टीका एव श्री जयसेनाचार्य देव विरचित तात्पर्य वृत्ति नामक सस्कृत टीका सहित, प्र श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारण ट्रस्ट, 602, कृष्णानगर, भावनगर (गुज ) प्र स वि स 2006

86 प्रवचन रत्नाकर - प्रथमखण्ड, स डॉ हुकमचन्द भारिल्ल, अनुवादक प रतनचन्द्र भारिल्ल, प्र प टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ए-4 बापूनगर - जयपुर प्र स 1981

87 प्रवचन रत्नाकर - द्वितीय खण्ड, स डॉ हुकमचद भारिल्ल अनुवादक प रतनचद्र भारिल्ल, प्र प टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ए-4 बापूनगर - जयपुर प्र स 1982

88 प्रवचन रत्नाकर - तृतीय खण्ड, स डॉ हुकमचद भारिल्ल अनुवादक प रतनचद्र भारिल्ल, प्र टोडर स्मारक ट्रस्ट ए-4 बापूनगर - जयपुर प्र स 1983

89 प्रवचन रत्नाकर - चतुर्थ खण्ड, स डॉ हुकमचद भारिल्ल अनुवादक प रतनचद्र भारिल्ल, प्र टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ए-4 बापूनगर - जयपुर प्र स 1985

90 प्रमाण नय तत्वालोक विवेचन और अनुवादक प शोभाचन्द्र भारिल्ल न्याय तीर्थ, प्र आत्म जागृति कार्यालय, श्री जैन गुरुकुल शिक्षण सघ, ब्यावर (राज ) प्रथमावृत्ति सन् 1942

91 प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रभाचन्द्राचार्य, स प महेन्द्रकुमार शास्त्री, प्र - निर्णय सागर प्रेस, द्वितीय स 1941

92 प्रमेय रत्नमाला (हिन्दी व्याख्या सहित) लघु अनतवीर्य, व्याख्याकार तथा सपादक प श्री हीरालालजी जैन, प्र चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी, प्र स वि स 2020

93 प्रवचनसार कुन्दकुन्दाचार्य- सपादक आ ने उपाध्ये, प्र परम श्रुत प्रभावक मण्डल, श्री मद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास तृतीय स 1964

94 पचाध्यायी (पूर्वार्ध-उत्तरार्ध) प राजमल, स प फूलचद सिद्धान्त शास्त्री, वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी

95 पतजलि योगदर्शन भाष्य महर्षि व्यासदेव, प्र श्री लक्ष्मी निवास चडक, अजमेरत द्वितीय स सन् 1961

96 पुरुषार्थ सिद्धयुपाय (हिन्दी अनुवाद सहित) अमृतचन्द्रसूरि, प्र भा जै सि प्र स कलकत्ता, वी स 2452

97 परमात्म प्रकाश (सस्कृत वृत्ति एव हिन्दी भाषा टीका सहित) योगीन्द्र देव, स आदिनाथ नेमीनाथ उपाध्ये, प्र परमश्रुत प्रभाकर मण्डल, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला जौहरी बाजार, बम्बई-2, द्वितीय स वि स 2017

98 प्रमाण प्रमेय कलिका - रचित नरेन्द्रसेन, ले श्री हीरालाल शास्त्री, स दरबारीलाल जैन, प्र भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र स वी नि स 2487

99 पचास्तिकाय सग्रह - (हिन्दी अनुवाद सहित) प्राप्ति स्थान श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ (सौराष्ट्र)

100 पाश्चात्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या - स या मसीह, प्र मोतीलाल बनारसीदास, बगलो रोड जवाहरनगर, दिल्ली, प्र स 1933

101 प्रशमरति - प्रथम भाग, रचित उमास्वाति, विवेचन भद्रगुप्त विजयजी गणिवर, प्र श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, कम्बोईनगर के पास, मेहमाना (गुज ) प्र स वि स 2042

102 प्रशमरति - द्वितीय भाग, रचित उमास्वाति, विवेचन भद्रगुप्तविजयजी गणिवर, प्र श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, कम्बोई नगर के पास मेहसाना (गुज ) प्र स वि स 2042

103 प्रश्न व्याकरण मूत्र- अनुवादक हस्तिमलजी मुनि, प्र श्री हस्तिमलजी मुराणा, पाली, सन् 1950

104 बृहत्-द्रव्य सग्रह-रचित नेमीचन्द्र सिद्धान्त देव, अनुवादक राजकिशोरजी जैन, प्र श्री वीतराग सत् साहित्य प्रचारक टस्ट्र भावनगर, प्र स वि स 2033

105 भारतीय दर्शन - प्रथम खण्ड, स डॉ राधाकृष्णन्, प्र राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6, प्र म 1972

106 भारतीय दर्शन - द्वितीय खण्ड, स डॉ राधाकृष्णन्, प्र राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6 प्र स 1973

107 भारतीय दर्शन - ले बलदेव, प्र चौखम्भा ओरियन्टालिया पोस्ट बाक्स न 1031 वाराणसी (उ प्र ) प्र स 1984

108 भारतीय दर्शन - ले चक्रधर शर्मा, प्र मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स बगलो रोड जवाहरनगर,दिल्ली प्र म 1990

109 भारतीय दर्शन की रूपरेखा - म एम हिरियन्ना, प्र राजकमल प्राइवेट लिमिटेड 8, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली प्र म 1965

110 भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का योगदान - डॉ हीरालाल जैन, प्र मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् भोपाल सन् 1962

111 भगवान महावीर आधुनिक सन्दर्भ मे - स डॉ नरेन्द्र भानावत सह स डॉ शान्ता भानावत, प्र श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ, समता भवन रामपुरिया सडक, बीकानेर (राज ) प्र म 1974

112 मोक्षमार्ग प्रकाशक - ले प टोडरमल, स डॉ हुकमचन्द भारिल्ल, प्र सत्साहित्य प्रकाशन एव प्रचार विभाग, श्री कुन्दकुन्द कहान, दि जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट ए-4 बापूनगर जयपुर।

113 मूलाचार - रचित आ वट्टकेर, टीकानुवाद ज्ञानमतिजी, प्र भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली प्र म 1944

114 मीमासा दर्शन-मण्डन मिश्र, प्र रमेश बुक डिपो, जयपुर, प्र स सन् 1955

115 मीमासा दर्शन (शाबर भाष्य) शाबर स्वामी, कु चौक काशी

116 मुण्डकोपनिषद् - गीता प्रेस गोरखपुर

117 योगसार (हिन्दी अनुवाद सहित) अमित गति, प्र भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था कलकत्ता, प्र स वी नि स 2444

118 योगसार (परमात्म प्रकाश के अन्तर्गत सस्कृत छाया और हिन्दी सार), योगीन्द्र देव, प्र परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्री राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, द्वि स वि स 2017

119 योगदृष्टि समुच्चय - आ हरिभद्रसूरीश्वर रचित, व्याख्याता भुवनभानु सूरीश्वर, स पद्मसेन विजय, प्रथम भाग, प्र दिव्य दर्शन ट्रस्ट 68 गुलालबाडी बम्बई, प्र स वि स 2040

120 वसुनन्दि श्रावकाचार - आ वसुनन्दित स हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री, प्र भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्र स

121 वैशेषिक दर्शन (प्रशस्त पादभाष्य) महर्षि प्रशस्तपाद देव चौखम्भा सस्कृत सीरिज आफिस वाराणसी, प्र स 1966

122 विवाहपण्णतिसूत्र - प्रथम भाग प बेचरदास जीवराज दोसी, प्र श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, प्र स 1974

123 विवाहपण्णति सूत्र - द्वितीय भाग, स प बेचरदास जीवराज दोसी प्र श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, प्र स 1978

124 विवाहपण्णति सूत्र - तृतीय भाग, स प बेचरदास जीवराज दोसी, प्र श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई प्र स 1978

125 विवाहपण्णति सूत्र - चतुर्थ भाग, स प बेचरदास जीवराज दोसी, प्र श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, प्र स 1978

126 व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र - प्रथम भाग, स अमरमुनि, प्र श्री आगम प्रकाशन - समिति व्यावर (राज ) प्र स 1982

127 व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र - द्वितीय भाग, म अमरमुनि, प्र श्री आगम प्रकान - समिति, व्यावर (राज ) प्र स 1983

128 व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र - तृतीय भाग, स अमरमुनि, प्र श्री आगम प्रकाशन - समिति, ब्यावर (राज) प्र स 1985

129 व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र - चतुर्थ भाग, स अमरमुनि, प्र श्री आगम प्रकाशन - ममिति, ब्यावर (राज) प्र स 1986

130 विशेषावश्यक भाष्य - भाग प्रथम, श्री जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण विरचित, मलधारी श्री हेमचद्रसूरि विरचितम्, प्र दिव्य दर्शन ट्रस्ट 68 गुलालवाडी, तीसरा माल बम्बई, प्र म 2039

131 विशेषावश्यक भाष्य - द्वितीय भाग, श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण विरचित, मलधारी श्री हेमचद्रसूरि विरचितम्, प्र दिव्य दर्शन ट्रस्ट 68 गुलालवाडी, तीमरा माल बम्बई, प्र स 2039

132 राजप्रश्नीय सूत्र - द्वितीय खण्ड, म रतनमुनि, प्र श्री आगम प्रकाशन - ममिति, जैन स्थानक, पीपलिया बाजार ब्यावर (राज) प्र म 1982

133 श्री ललित विस्तरा - हिन्दी विवेचन प्रकाशन सहित, रचित आ श्री हरिभद्र मूरीश्वर।

134 शाम्त्रवार्ता-ममुच्चय और उसकी स्याद्वाद-कल्पलता टीका, रचित आ हरिभद्रमूरीश्वर, व्याख्याकार यशोविजय गणिवर्य, हिन्दी विवेचन प श्री बदरीनाथजी प्रथम स्तबक, प्रकाशक चौखम्भा ओरियन्टालिया, पो आ चौखम्भा पो बाक्म न 32 गोकुल भवन के 37/109 गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी, प्र म 1977

135 शाम्त्रवार्ता-ममुच्चय और उमकी म्याद्वाद कल्पलता, द्वितीय स्तवक, रचित आ हरिभद्रमूरीश्वर, व्या यशोविजय गणिवर्य, हिन्दी विवेचन प श्री वदरीनाथजी, प्र दिव्य दर्शन ट्रस्ट, 68 गुलालवाडी, बम्बई-4

136 शास्त्रवार्ता-ममुच्चय और उमकी म्याद्वाद-कल्पलता, तृतीय स्तवक, रचित आ हरिभद्रमूरीश्वर, व्या यशोविजय गणिवर्य हिन्दी विवचन प श्री वदरीनाथजी, प्र दिव्य दर्शन ट्रस्ट, 68 गुलालवाडी, बम्बई-4

137 शाम्त्रवार्ता-ममुच्चय और उमकी म्याद्वाद-कल्पलता, चतुर्थ म्तवक, रचित आ हरिभद्रमूरीश्वर, व्या यशोविजय गणिवर्य, हिन्दी विवेचन प श्री

बदरीनाथजी, प्र दिव्य दर्शन ट्रस्ट, 68 गुलालवाडी बम्बई-4

138 शास्त्रवार्ता-समुच्चय और उसकी स्याद्वाद-कल्पलता, पचम षष्ठ स्तबक, रचित आ हरिभद्रसूरीश्वर, व्या यशोविजय गणिवर्य, हिन्दी विवेचन प श्री बदरीनाथजी, प्र दिव्य दर्शन ट्रस्ट, 68 गुलालवाडी बम्बई-4 प्र स वि स 2039

139 शास्त्रवार्ता-समुच्चय और उसकी स्याद्वाद-कल्पलता, सप्तम स्तबक, रचित आ हरिभद्रसूरीश्वर, व्या यशोविजय गणिवर्य, हिन्दी विवेचन प श्री बदरीनाथजी, प्र दिव्य दर्शन ट्रस्ट, 68 गुलालवाडी बम्बई-4 प्र स वि म 2040

140 शास्त्रवार्ता-समुच्चय और उसकी स्याद्वाद-कल्पलता, अष्टम स्तबक, रचित आ हरिभद्रसूरीश्वर, व्या यशोविजय गणिवर्य, हिन्दी विवेचन प श्री बदरीनाथजी, प्र दिव्य दर्शन ट्रस्ट, 68 गुलालवाडी बम्बई-4 प्र स वि स 2038

141 शास्त्रवार्ता-समुच्चय और उसकी स्याद्वाद-कल्पलता, नवम, दशम, एकादश स्तबक, रचित आ हरिभद्रसूरीश्वर, व्या यशोविजय गणिवर्य, हिन्दी विवेचन प श्री बदरीनाथजी, प्र दिव्य दर्शन ट्रस्ट, 68 गुलालवाडी बम्बई-4 प्र स वि स 2044।

142 षड्दर्शन रहस्य - प रगनाथ पाठक, प्र विहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना उ प्र स 1958

143 षड्दर्शन-समुच्चय-हरिभद्रसूरि विरचित, स डॉ महेन्द्रकुमार जैन, प्र भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली स 1981

144 षट् खण्डागम (धवला टीका एव हिन्दी अनुवाद सहित) भूतबलि पुष्पदन्त, प्र जैन साहित्योद्धारक फड कार्यालय, अमरावती, प्र आवृत्ति मन् 1939

145 सूत्र कृताङ्ग सूत्र - प्रथम खण्ड, प्र श्री आगम प्रकाशन समिति व्यावर (राज ) प्र स 1982

146 सूत्र कृताङ्ग सूत्र - द्वितीय खण्ड, प्र श्री आगम प्रकाशन - समिति व्यावर (राज ) प्र स 1982 अप्रैल।

147 स्थानाग सूत्र (ठाण सूत्र) - स मुनि नथमल, प्र जैन विश्व भारती लाडनूँ (राज ) प्र स 1976

148 मभाष्यतत्वार्थाधिगम मूत्र - रचित श्री उमास्वाति, अनुवादक प खूबचदजी, प्र मीठालाल रेवाशकर जगजीवन झवेरी, आ व्यवस्थापक परमश्रुत प्रभावक जैन मडल झवेरी बाजार, वम्बई-2 प्र स 1932

149 समयमार-रचित श्रीमद् कुदकुदाचार्य देव, गुजराती टीकाकार श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह हिन्दी अनुवादक प परमेष्ठीदासजी, प्र श्री वीतराग मत् माहित्य प्रमारक ट्रस्ट भावनगर (गुज ) प्र म वी नि म 2505

150 स्याद्वादमजरी-रचित श्री हेमचन्द्राचार्य, म डॉ जगदीशचन्द्र जैन प्र श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम अगास प्र म 1979

151 सर्वदर्शनसग्रह (हिन्दी टीका सहित) माधवाचार्य, प्र चौखम्भा सस्कृत सीरीज, वाराणमी

152 माख्यकारिका (गोडपादभाष्य) ईश्वरकृष्ण, दृ कु चौकामी वि स 1872

153 साख्य सूत्रम् -कपिलमुनि, स श्री रामशकर भट्टाचार्य प्र भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, वि स 2022

154 मिद्धि विनिश्चय - टीका, प्र भारतीय ज्ञानपीठ, काशी प्र स सन् 1951

155 स्याद्वाद रत्नाकर - भाग प्रथम, श्री मद्वादिदेवमूरि विरचित, प्र भारतीय बुक कार्पोरेशन, 1 यू वी जवाहरनगर, वैंग्लो रोड, दिल्ली, प्र म 1988

156 स्याद्वाद रत्नाकर - भाग द्वितीय श्री मद्वादिदेवसूरि विरचित प्र भारतीय बुक कार्पोरेशन 1 यू वी जवाहरनगर, वैंग्लो रोड, दिल्ली प्र म 1988

157 सर्वार्थमिद्धि - रचित श्रीमदाचार्य पूज्यपाद, स प फूलचन्द्र शाम्त्री, प्र भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लौधी रोड, नयी दिल्ली-3 प्र म

158 मम्मति तर्क प्रकरण - खण्ड प्रथम, मिद्धसेन दिवाकर व्याख्याकार आ अभयदेव मूरिजी, प्र सेठ मोतीशा लालवाग जैन ट्रम्ट पाजरा पोल कम्पाऊण्ड-भुलेश्वर, वम्बई, प्र स वि म 2040

159 माख्य-तत्व-कौमुदी-वाचम्पति मिश्र, हि टी गजानद शाम्त्री, प्र चौखम्भा विद्याभवन, वाराणमी, वि म 2028

160 सप्तभगीतरगिणी - विमलदास, हि टी मनोहरलालजी, प्र प्ररमश्रुत प्रभावक मण्डल, वम्बई, मन् 1916

161 मिद्धान्तमार-आचार्य नेमीचन्द्र, म ए एन उपाध्याय व डॉ हीरालाल

जैन, प्र जैन सस्कृति सरक्षक सघ सोलापुर सन् 1972

162 श्री पुष्कर मुनि अभिनदन ग्रन्थ, प्र पुष्कर मुनिजी अभिनदन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राज ) प्र स 1979

163 श्री कस्तुरचन्द्रजी म जन्म शताब्दी ग्रन्थ, प्र श्री प्रताप मुनि ज्ञानालय बडी सादडी (राज )

164 मुनि हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ, प्र मुनि हजारीलाल स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन ममिति, ब्यावर (राज ) प्र स 1965

165 साध्वी श्री पुष्पवती-अभिनदन ग्रन्थ, प्र श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राज ) प्र स 1987

166 कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ, प्र श्री तारक गुरू जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल उदयपुर (राज ) प्र स 1990

167 मरुधर केसरी श्री मिश्रीमलजी अभिनदन ग्रन्थ, प्र मरुधर केसरी· अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति जोधपुर, प्र स 1968

168 ब्र प चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, प्र अ भा दि जैन महिला परिषद श्री जैन बाला धर्मकुज, धनुपुरा आरात वी नि स 2480

169 SPACE, TIME AND GRAVITATION-SIR ARTHUR, EDDINGTON CAMBRIDGE UNIVERSITY PRESS NEWYORK

170 PHILOSOPHY OF PHYSICAL SCIENCE-A EDDINGTON, OXFORD PRESS

171 SCIENCE AND UNSEEN WORLD - A N WHITE HEAD

172 THE NATURE OF THE PHYSICAL WORLD - EINSTEIN

173 PRASAMRATIPRAKARAN, EDITED AND TRANSLATED DR YS SHASTRI L D INSTITUTE OF INDOLOGY AHEMDABAD - 1984

174 TRAREVSES ONLESS TRODDEN, PATH OF INDIAN PHILOSOPHY AND RELIGION, BY Y S SHASTRI, L D INSTITUTE OF INDOLOGY AHEMDABAD - 1991

175 वैज्ञानिक अर्न्तदृष्टि, वर्टेण्ड रमल अनुदित, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

176 पैतीम वोल विवरण, मुनि कान्तिसागर, हरि विहार, पालीताना